नहीं हो रहा है ।

## जहरखिलाकर मारवाड़ी का रुपया छीना गया

कोपागंज (आजमगढ़), १७ जुलाई । वाराणसीसे गोरखपुर जा रहे एक व्यापारी मारवाड़ीको मऊ

महाभारत-उद्योगपर्व-अन्तर्गता

# विदुर-नीतिः
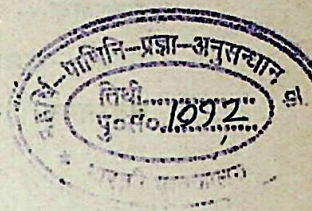
## पदार्थ-विस्तृतव्याख्या-सहिता

व्याख्याता—
युधिष्ठिर मीमांसक

# उपोद्‌घात

नीति-शास्त्र का ही दूसरा नाम धर्म-शास्त्र है। वैदिक विचारधारा के अनुसार धर्म शब्द प्रधान रूप से कर्त्तव्य का बोधक है। अतः धर्म-शास्त्र और कर्त्तव्य-शास्त्र दोनों परस्पर पर्याय हैं। धर्मशास्त्र में उन सब विषयों का संविधान दिया गया है, जिनकी पूर्ति करना मानवमात्र का जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त स्वपर-समाज-देश-राष्ट्र-अन्ताराष्ट्र के सम्बन्ध में कर्त्तव्य होता है।

धर्मशास्त्रकारों ने मानव-समाज को गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार 'ब्राह्मण क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र' इन चार विभागों में बांटकर उन के कर्त्तव्यों का विधान किया है। तदनुसार राज्य एवं उससे संबद्ध कर्त्तव्य प्रधानतया क्षत्रिय वर्ग से संबद्ध है। इसलिए धर्मशास्त्रकारों ने अपने धर्मशास्त्रों में राजधर्म अथवा राजनीति का विस्तार से वर्णन किया है। मानव-समाज के सर्वप्रथम संविधान का रचयिता स्वायंभुव मनु है। स्वायम्भुव मनु का उपदेश उसके शिष्यों द्वारा लोक में विस्तृत हुआ। उन में वर्तमान 'मनुस्मृति' भृगु-प्रोक्त है। उस का एक नारद-प्रवचन भी उपलब्ध है। भृगु-प्रवचन मानवमात्र के प्राचीनतम संविधान का निदर्शक ग्रन्थ है। नारद-प्रवचन में केवल राजनीति का ही वर्णन मिलता है।

धर्मशास्त्रों के द्वारा प्रोक्त सामान्य मानव-संविधान के अन्तर्गत राजनीतिक संविधान का अनेक अर्थशास्त्रकारों ने पृथक् रूप से बड़े विस्तार से प्रवचन किया है। भारतीय वाङ्मय में अर्थशास्त्र शब्द राजनीति-शास्त्र का बोधक है[1], न कि वर्तमान में प्रसिद्ध केवल अर्थ=धन-सम्पत्ति-संबन्धी शास्त्र का। वर्तमान में अर्थशास्त्र नाम से कहा जाने वाला अंश भी प्राचीन विस्तृत विषय वाले अर्थ-शास्त्र का एक अवयव है।

---

१. द्र० चाणक्यसूत्र—सुखस्य मूलम् धर्मः, धर्मस्य मूलमर्थः, अर्थस्य मूलं राज्यम् ॥१—३॥

भारतवर्ष में अर्थशास्त्र के रूप में राजनीति-शास्त्र के प्रवचन की परम्परा अति प्राचीन है। महाभारत शान्तिपर्व (अ० ५७) में निम्न अर्थ-शास्त्र-प्रवक्ताओं के नाम मिलते हैं—

ब्रह्मा
शङ्कर (विशालाक्ष)
इन्द्र (बाहुदन्ती-पुत्र=बाहुदन्त)
बृहस्पति (देव-गुरु)
काव्य-उशना (शुक्र=असुर-गुरु)

सबसे अर्वाचीन 'अर्थ-शास्त्र' प्रजाकण्टक नन्दवंश के नाशक और मौर्य-साम्राज्य के संस्थापक, 'चणक' देशाभिजन,[१] 'कौटिल्य' गोत्रोत्पन्न[२] विष्णु-गुप्त, का प्रवचन है। इस समय प्राचीन अर्थशास्त्र के प्रज्ञापक रूप में यही एकमात्र अर्थशास्त्र उपलब्ध है। इस अर्थशास्त्र की रचना पूर्वाचार्यों द्वारा प्रोक्त अनेक अर्थशास्त्रों के आधार पर आचार्य विष्णुगुप्त ने की है[३]।

इस अर्थशास्त्र में निम्न प्राचीन अर्थशास्त्रकार स्मृत हैं—

मनु
बृहस्पति
उशना (कवि-पुत्र=शुक्राचार्य)
भारद्वाज (द्रोणाचार्य)
विशालाक्ष (शिव)
पराशर
पिशुन (नारद)
कौणपदन्त (भीष्म)

---

१. चणको नाम देशोऽभिजनो यस्य स चाणक्यः। भाषा-वृत्ति ४।३।९२ पृष्ठ २६३।

२. द्र० कामन्दक नीतिसार की उपाध्यायनिरपेक्षिणी टीका, प्रारम्भिक भाग।

३. पृथिव्या लाभे पालने च यावन्ति अर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्। ग्रन्थारम्भे।

वातव्याधिः (उद्धवं)

बाहुदन्तीपुत्र (इन्द्र)

आचार्य (?)

इन के अतिरिक्त १४ प्राचीन अर्थशास्त्रकार संस्कृत-वाङ्मय में स्मृत हैं[१]।

प्राचीनता की दृष्टि से कौटिल्य अर्थशास्त्र के अतिरिक्त शुक्र-नीतिसार नामक एक ही ग्रन्थ और मिलता है। नीतिसार शब्द के प्रयोग से विदित होता है कि यह असुरगुरु आचार्य शुक्र के द्वारा प्रोक्त विशाल अर्थशास्त्र का अतिसंक्षिप्त संस्करण है। ऐसा ही कौटिल्य अर्थशास्त्र का कामन्दक विरचित कामन्दकनीतिसार ग्रन्थ मिलता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रवक्ता के नाम से चाणक्यनीति नामक एक ग्रन्थ वृद्ध-लघु पाठों के रूप में दो प्रकार का मिलता है।

अर्वाचीन नीति-ग्रन्थों में कामन्दक-नीतिसार, सोमदेव विरचित नीतिवाक्यामृत, धारेश्वर भोजकृत युक्तिकल्पतरु, चण्डेश्वर कृत नीतिरत्नाकर एवं नीतिप्रकाशिका आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

भारतीय वाङ्मय में महाभारत धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सम्बन्धी निर्देशों का आकर ग्रन्थ है[२]। उस में प्रसंग-वश कुछ अन्य नीतिशास्त्रकारों के नीतिग्रन्थों का संग्रह भी मिलता है। इन में महात्मा विदुर और कूटनीतिप्रवीण आचार्य कणिक के नीतिशास्त्र प्रसिद्ध हैं।

इन सब नीतिशास्त्रों में 'महात्मा' विदुर का धृतराष्ट्र को किया गया प्रवचन अपने ढंग का निराला है। इस में राजनीति के मूल एवं गहन तत्त्वों के साथ-साथ मानव के चरित्रोत्थापक नैतिक उपदेशों का भी प्रवचन किया गया है। अतः इसे प्राचीन नैतिकशिक्षा का शास्त्र कहें तो अत्युक्ति न होगी।

---

१. द्र० श्री पं० भगवद्दत्त-विरचित 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग १' पृष्ठ १११-११३।

२. धर्मे अर्थे च कामे च मोक्षे च पुरुषर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

इसी दृष्टि से राष्ट्रिय शिक्षा पद्धति के उद्धारक ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में जहां प्राचीन शिक्षा-पद्धति का विस्तार से उल्लेख करते हुए शिक्षा का पाठ्यक्रम वा प्रत्येक विषय के पठनीय ग्रन्थों का उल्लेख किया है, वहां महाभारत अन्तर्गत इस 'विदुरनीति' के पठन-पाठन का भी विधान किया है। बालकों को व्यवहार की शिक्षा देने के लिए उन्होंने जो व्यवहार-भानु नामक ग्रन्थ लिखा, उसमें भी इस के पर्याप्त उद्धरण दिये हैं।

आज के युग में जब कि मानव का चरित्र दिन प्रतिदिन गिर रहा है, नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है, ऐसे समय में विदुर-नीति का प्रत्येक घर एवं विद्यालयों में प्रचार अत्यन्त लाभदायक हो सकता है। इसीलिये हमने १८×२२ अठपेजी आकार के ४०० से ऊपर पृष्ठ के ग्रन्थ का मूल्य ४-५० मात्र रखा है।

इस ग्रन्थ में हमने प्रत्येक मूल श्लोक का पदार्थ देकर उसकी विस्तृत व्याख्या की है। पदार्थ पृथक् देने का प्रयोजन यह है कि श्लोक के किस शब्द का क्या अर्थ है, यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाये। इस से संस्कृत भाषा सीखने में भी सुगमता होगी। यदि गुरुकुलों, संस्कृत-विद्यालयों एवं स्कूल कालेजों में इस ग्रन्थ को पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकार कर लिया जाय, तो इससे विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण एवं अनुशासन में बहुत सहायता मिल सकती है।

—युधिष्ठिर मीमांसक

# विषय-सूची



1. विषय सूची में कोष्ठक में दी गई संख्या उस अध्याय के श्लोकों की है।

ओ३म्

# विदुर-नीतिः

## पदार्थ-व्याख्या-सहिता

## प्रथमोऽध्यायः

### प्रकरण—संगति

१२ वर्ष के वनवास और १ वर्ष के अज्ञातवास के पीछे जब पाण्डव प्रकट हुए तो उनके सभी सम्बन्धी लोग उनसे मिलने के लिए विराट नगर में पहुंचे। वहां भावी कार्यक्रम के विषय में मन्त्रणा हुई। कौरव विना युद्ध के अपहृत राज्य नहीं लौटाएंगे, ऐसा निश्चित जानकर युद्ध की तैयारी भी की जाने लगी। राजा द्रुपद ने युद्ध न हो, शान्ति से पाण्डवों को स्वकीय भाग प्राप्त हो जाए, इस इच्छा से अपने पुरोहित को धृतराष्ट्र के पास भेजा। भीष्मादि के अनुमोदन करने पर भी कर्ण दुर्योधन आदि ने द्रुपद-पुरोहित का वचन स्वीकार नहीं किया। द्रुपद-पुरोहित के लौट जाने पर धृतराष्ट्र ने संजय को महाराज युधिष्ठिर के पास भेजा और कहलवाया कि युद्ध में भीष्मादि को मार कर राज्य भोगने से तो भिक्षावृत्ति से जीना अच्छा है। युधिष्ठिर ने 'मैं धर्मपूर्वक ही अपने भाग की कामना करता हूँ' ऐसा कह कर, भगवान् श्रीकृष्ण ही इस विषय में निर्णय देवें कि धर्म क्या है। श्रीकृष्ण ने पाण्डवों का विद्या और कर्म से श्रेष्ठत्व तथा उनके अवध्यत्व का कथन करके कौरवों के राज्यापहरण कर्म की निन्दा की। संजय ने वापस लौटकर धृतराष्ट्र से कहा कि पाण्डव धर्मपूर्वक ही आप से अपना राज्य चाहते हैं और उनका उचित भाग न दिया जाएगा तो भारी अनर्थ होगा। विशेष कल सभा में ही कहूँगा। संजय के वचन से अनुतप्त धृतराष्ट्र ने महात्मा विदुर को बुलाया। यह कथा इस प्रकार है—

**वैशम्पायन उवाच—**

**द्वाःस्थं प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपतिः।**
**विदुरं द्रष्टुमिच्छामि तमिहानय मा चिरम् ॥१॥**

## पदार्थ—

**वैशम्पायन बोले—**

द्वाःस्थम्—द्वार पर रहने वाले (द्वारपाल) को
प्राह—बोला
महाप्राज्ञः—बड़ी प्रज्ञा (बुद्धि) वाला
धृतराष्ट्रः—धृतराष्ट्र
महीपतिः—पृथिवी का स्वामी (राजा)
विदुरम्—विदुर को
द्रष्टुम्—देखना
इच्छामि—चाहता हूँ।
तम्—उसको
इह—यहां
आनय— ले आ,
मा—नहीं
चिरम्—विलम्ब [कर] ।

## व्याख्या—

महाराज धृतराष्ट्र ने द्वारपाल से कहा कि मैं महात्मा विदुर को देखना चाहता हूं अर्थात् मिलना चाहता हूं, उसे यहां ले आओ, विलम्ब मत करो ॥

**विशेष**—विदुर शब्द 'विद ज्ञाने' धातु से 'कुरच्' प्रत्यय (अष्टा० ३।२।१६२) होकर बना है। इसका मूल अर्थ है—'जानने वाला' अर्थात् ज्ञानी। विदुर का महाप्राज्ञत्व महाभारत में प्रसिद्ध है ॥१॥

## व्याख्या—

**प्रहितो धृतराष्ट्रेण दूतः क्षत्तारमब्रवीत् ।**
**ईश्वरस्त्वां महाराजो महाप्राज्ञ दिदृक्षति ॥२॥**

## पदार्थ—

प्रहितः—भेजा गया
धृतराष्ट्रेण—धृतराष्ट्र के द्वारा
दूतः—दूत
क्षत्तारम्—क्षत्ता (विदुर) को
अब्रवीत्—बोला
ईश्वरः—स्वामी (धृतराष्ट्र)
त्वाम्—तुमको
महाराजः—हे महाराज !
महाप्राज्ञ—हे महाबुद्धिवाले !
दिदृक्षति—देखना चाहता है ।

## व्याख्या—

धृतराष्ट्र के द्वारा भेजा गया दूत क्षत्ता—विदुर को बोला कि महाराज धृतराष्ट्र तुम्हें (आपको) देखना चाहते हैं अर्थात् उन्होंने तुम्हें बुलाया है ।

**विशेष**—क्षत्तृ शब्द अनेकार्थं है। प्रकृत में इसका अर्थ 'दासी में उत्पन्न' अभिप्रेत हैं। विदुर व्यास द्वारा विचित्रवीर्य की पत्नी अम्बिका की दासी से उत्पन्न नियोगज पुत्र थे। इस प्रकार विदुर धृतराष्ट्र और पाण्डु के भ्राता थे॥३॥

**एवमुक्तस्तु विदुरः प्राप्य राजनिवेशनम् ।**
**अब्रवीद् धृतराष्ट्राय द्वाःस्थं मां प्रतिवेदय ॥३॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| एवम्—इस प्रकार | अब्रवीत्—बोला— |
| उक्तः—कहा गया | धृतराष्ट्राय—धृतराष्ट्र के लिये |
| तु—तो | द्वाःस्थम्—द्वारपाल को |
| विदुरः—विदुर | माम्—मुझको |
| प्राप्य—प्राप्त होकर | प्रतिवेदय—बताओ। |
| राजनिवेशनम्—राजमहलको | |

## व्याख्या—

द्वारपाल के उक्त वचन कहे जाने पर विदुर धृतराष्ट्र के महल को प्राप्त होकर द्वारपाल से बोले —'मैं उपस्थित हो गया हूं' ऐसा धृतराष्ट्र को जाकर कहो ॥३॥

## द्वाःस्थ उवाच—

**विदुरोऽयमनुप्राप्तो राजेन्द्र तवशासनात् ।**
**द्रष्टुमिच्छति ते पादौ किं करोतु प्रशाधि माम् ॥४॥**

## पदार्थ —

**द्वारपाल बोला—**

| | |
|---|---|
| विदुरः—विदुर | इच्छति—चाहता है |
| अयम्—यह | ते—तुम्हारे (आपके) |
| अनुप्राप्तः—[आज्ञा के] अनुकूल प्राप्त (उपस्थित) हुआ है | पादौ—(पैरों को), |
| | किम्—क्या |
| राजेन्द्र—हे राजन् ! | करोतु—करे [यह], |
| तव—तुम्हारी (आपकी) | प्रशाधि—आज्ञा करो |
| शासनात्—आज्ञा से | माम्—मुझको। |
| द्रष्टुम्—देखना | |

### व्याख्या—

द्वारपाल महाराज धृतराष्ट्र के पास जाकर बोला—यह महात्मा विदुर आप की आज्ञा के अनुसार उपस्थित है। यह आपके चरणों को देखना चाहता है, यह क्या करे, ऐसी मुझे आज्ञा देवें ॥

**विशेष—द्रष्टुमिच्छति ते पादौ**—'तुम्हारे चरणों को देखना चाहता है' यह संस्कृत भाषा का मुहावरा है। छोटा व्यक्ति जब बड़े से मिलना चाहता है, तब प्रायः इसी प्रकार का प्रयोग संस्कृत भाषा में किया जाता है ॥४॥

### धृतराष्ट्र उवाच—

**प्रवेशय महाप्राज्ञं विदुरं दीर्घदर्शिनम्।**
**अहं हि विदुरस्यास्य नाकल्पो जातु दर्शने ॥५॥**

### पदार्थ—

**धृतराष्ट्र बोला—**

प्रवेशय—प्रवेश कराओ [ले आओ]
महाप्राज्ञम्—महाबुद्धिमान् को
विदुरम्—विदुर को
दीर्घदर्शिनम्—दूर की देखने वाले को।
अहम्—मैं
हि—निश्चय से
विदुरस्य—विदुर के
अस्य—इसके
न—नहीं
अकल्पः—असमर्थ
जातु—कदापि
दर्शने—दर्शन में।

### व्याख्या—

द्वारपाल का वचन सुनकर धृतराष्ट्र बोला—महाबुद्धि, दूर के देखने वाले विदुर को ले आओ। मैं कभी भी इस विदुर के देखने के असमर्थ नहीं हूँ अर्थात् प्रत्येक अवस्था में मैं विदुर के दर्शन के लिये लालयित रहता हूँ।

**विशेष—नाकल्पो जातु दर्शने**—यह वाग्व्यवहार (वचनरीति-मुहावरा) है। सम्मान्य व्यक्ति अथवा अत्यन्त प्रिय व्यक्ति, जिससे तत्काल मिलना उचित हो, उसके विषय में ऐसा प्रयोग होता है ॥५॥

## द्वाःस्थ उवाच—

प्रविशान्तःपुरं क्षत्तर् महाराजस्य धीमतः ।
नहि ते दर्शनेऽकल्पो जातु राजाऽब्रवीद्धि माम् ॥६॥

### पदार्थ—

**द्वारपाल बोला—**

प्रविश—प्रविष्ट होवो [अन्दर चलो]
अन्तःपुरम्—अन्तःपुर [रनिवास] को
क्षत्तः—हे विदुर !
महाराजस्य—महाराजा के
धीमतः—बुद्धिमान् के ।
नहि—नहीं [है]
ते—तुम्हारे [आप के]
दर्शने—दर्शन में
अकल्पः—असमर्थ
जातु—कभी भी
राजा—राजा [ऐसा]
अब्रवीत्—बोला है
हि—निश्चय से
माम्—मुझको ।

### व्याख्या—

द्वारपाल ने आकर विदुर से कहा—हे विदुर ! आप महाबुद्धिमान् महाराज के अन्तःपुर (रनिवास) में चलिये । महाराज ने मुझसे कहा है कि मैं आपके दर्शन में कभी भी असमर्थ नहीं हूँ अर्थात् सदा उद्यत हूँ ॥६॥

## वैशम्पायन उवाच—

ततः प्रविश्य विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं चिन्तयानं नराधिपम् ॥७॥

### पदार्थ—

**वैशम्पायन बोले—**

ततः—पश्चात्
प्रविश्य—प्रविष्ट होकर
विदुरः—विदुर
धृतराष्ट्रनिवेशनम्—धृतराष्ट्र के अन्तःपुर को,
अब्रवीत्—बोला
प्राञ्जलिः—हाथ जोड़कर
वाक्यम्—वचन को
चिन्तयानम्—सोचते हुए [चिन्ता करते हुए] को
नराधिपम्—नरों के स्वामी [राजा] को ।

## व्याख्या—

तदनन्तर धृतराष्ट्र के अन्तःपुर में प्रवेश करके हाथ जोड़ कर विदुर सोचते हुए (विचार में निमग्न) महाराज को बोले—

**विशेष**—इस श्लोक में **चिन्तयानम्** पद विशिष्ट है। व्याकरण के सामान्य नियम के अनुसार **चिन्तयमानम्** अथवा **चिन्तयन्तम्** प्रयोग होना चहिए। परन्तु **अनित्यमागमशासनम्** इस नियम के अनुसार यहां 'मुक्' का आगम न होकर **चिन्तयानम्** प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन वैदिक तथा आर्ष वाङ्मय में ऐसे प्रयोग बहुधा मिलते हैं ॥७॥

**विदुरोऽहं महाप्राज्ञ सम्प्राप्तस्तव शासनात् ।**
**यदि किञ्चन कर्तव्यमयमस्मि प्रशाधि माम् ॥८॥**

## पदार्थ—

विदुरः—विदुर
अहम्—मैं
महाप्राज्ञ—हे महाबुद्धिवाले !
संप्राप्तः—प्राप्त हुआ हूँ
तव—तुम्हारे (आपके)
शासनात्—आज्ञा से
यदि—यदि
किञ्चन—कुछ भी
कर्तव्यम्—करने योग्य [मेरे हो तो]
अयम्—यह मैं
अस्मि—हूँ [उपस्थित हूँ]
प्रशाधि—आज्ञा करो
माम्—मुझको।

## व्याख्या—

विदुर बोले—हे महाप्राज्ञ राजन् ! मैं विदुर आपकी आज्ञा से उपस्थित हूँ, यदि कोई मेरे करने योग्य कार्य हो तो मुझे कहें ॥८॥

## धृतराष्ट्र उवाच—

**संजयो विदुर प्राप्तो गर्हयित्वा च मां गतः ।**
**अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति ॥९॥**

## पदार्थ—

**धृतराष्ट्र बोला—**

संजयः—संजय
विदुर—हे विदुर !
प्राप्तः—प्राप्त हुआ
गर्हयित्वा—निन्दा करके

च—और
माम्—मुझको (मेरी)
गतः—चला गया
अजातशत्रोः—नहीं हैं शत्रु जिसके (ऐसे युधिष्ठिर के)
श्वः—कल
वाक्यम्—वचन को
सभामध्ये—सभा के बीच में
सः—वह
वक्ष्यति—कहेगा ।

## व्याख्या—

धृतराष्ट्र बोला — संजय पाण्डवों से मिलकर मुझे प्राप्त हुआ (मेरे पास आया) और मेरी निन्दा करके चला गया । वह कल राजसभा में अजात-शत्रु=युधिष्ठिर के वचन सुनाएगा ॥९॥

**विशेष**—निन्दा करके—संजय ने प्रकृत में धृतराष्ट्र की कोई निन्दा नहीं की, तथापि उसने धृतराष्ट्र को युधिष्ठिर का सन्देश न सुनाकर 'कल सभा में सनाऊंगा' कहा । ऐसा कहने से धृतराष्ट्र ने अपनी अवहेलना (निन्दा) समझी है ॥१०॥

**तस्याद्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया ।**
**तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत् प्रजागरम् ॥१०॥**

## पदार्थ—

तस्य—उसके
अद्य—आज
कुरुवीरस्य—कुरुओं में वीर (श्रेष्ठ युधिष्ठिर का )
न—नहीं
विज्ञातम्—जाना
वचः—वचन को
मया—मैंने
मे—मेरे
दहति—जलाता है
गात्राणि—अङ्गों को
तत्—उसने
अकार्षीत्—(उत्पन्न) किया है
प्रजागरम्—विशिष्ट जागरण (निद्रा के अभाव) को ।

## व्याख्या—

मैंने कुरुवीर युधिष्ठिर के वचन को (उसने क्या कहा) नहीं जाना, इस लिए वह मेरे अङ्गों को जला रहा है (संतप्त कर रहा है) । उसी से मुझे प्रजागर हो गया है अर्थात् निद्रा नहीं आ रही है ॥१०॥

जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनुपश्यसि ।
तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥११॥

## पदार्थ—

जाग्रतः—जागते हुए का
दह्यमानस्य जलते हुए का
श्रेयः—कल्याण
यत्—जो
अनुपश्यसि—देखते हो
तत्—वह
ब्रूहि—कहो ।
त्वम्—तुम
हि—निश्चय से
नः—हमारे मध्य
तात—हे भ्रातः !
धर्मार्थकुशलः—धर्म और अर्थ में कुशल (विचारवान्)
हि—निश्चय से
असि—हो ।

## व्याख्या—

हे भ्रातः ! मुझ जागते हुए और [चिन्ता से] जलते हुए के लिये तुम जो कल्याण-कारक समझते हो वह मुझे बताओ । तुम निश्चय ही हम लोगों में धर्म और अर्थ के विषय में कुशल हो ।

**विशेष** यहां नीलकण्ठ ने इस श्लोक की व्याख्या नहीं की है । यही श्लोक कुछ पाठ भेद से २।१ में आगे भी आयेगा । वहां नीलकण्ठ ने **धर्मार्थ-कुशलः** पद की व्याख्या में लिखा कि "मोक्ष के विषय में विदुर को अधिकार नहीं था क्योंकि वह "वर्णसंकर" था । इस लिये दोनों स्थानों पर **धर्मार्थ-कुशलः** का ही निर्देश किया है (द्र० 'धर्माथयोः कुशलः मोक्षे वक्तुमनधिकारात् द्वयोरेवग्रहः) ।

टीकाकार नीलकण्ठ ने विदुर के वर्णसंकर होने से मोक्ष के प्रवचन में जो अनधिकार समझा है, वह वस्तुतः अशुद्ध है । मोक्ष में उन सभी को अधिकार है, जो मोक्ष चाहता है और उसके लिये तदनुकूल धर्मजुष्ट कर्म करता है । यदि दुर्जन संतोष न्याय से विदुर का मोक्ष में अधिकार न भी मांना जाय तो **काम** के प्रवचन में तो अधिकार था ही । पुनः उसका निर्देश क्यों नहीं किया । वस्तुतः बात इतनी ही है कि प्रकृत में धृतराष्ट्र न काम के विषय में सुनना चाहता था और न मोक्ष के विषय में उसे केवल धर्म और अर्थ की ही जिज्ञासा थी, उस में भी प्रधान रूप से अर्थ की । अतः यहां प्रकरणानुसार धर्मार्थ का ही निर्देश युक्त हो सकता था ॥११॥

यतः प्राप्तः सञ्जयः पाण्डवेभ्यो
न मे यथावन्मनसः प्रशान्तिः।
सर्वेन्द्रियाण्यप्रकृतिं गतानि,
किं वक्ष्यतीत्येव मेऽद्य चिन्ता ॥१२॥

पदार्थ—

यतः—जिस समय से
प्राप्तः—प्राप्त हुआ=आया
संजयः—संजय
पाण्डवेभ्यः—पाण्डवों से [लौटकर]
न—नहीं
मे—मेरे
यथावत्—जैसी होनी चाहिये वैसी
मनसः—मनकी
प्रशान्तिः—विशिष्ट शान्ति [है]
सर्वेन्द्रियाणि—सब इन्द्रियाँ
अप्रकृतिम्--अस्वाभाविक अवस्था को
गतानि—प्राप्त हो गई हैं,
किम्—क्या
वक्ष्यति—कहेगा
इति—यह
एव—ही
मे—मुझे
अद्य—आज
चिन्ता—चिन्ता [है]।

व्याख्या—

संजय पाण्डवों के पास जाकर जब से मुझे प्राप्त हुआ है तब से मेरा मन यथावत् (ठीक प्रकार से) शान्त नहीं है। मेरी सब इन्द्रियां [चिन्ता के कारण] अस्वाभाविक अवस्था (विकार) को प्राप्त हो गई हैं, वह [सभा में] क्या कहेगा, यही आज विशेष चिन्ता लग रही है ॥१२॥

विदुर उवाच—

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम्।
हृतस्वं कामिनं चौरम् आविशन्ति प्रजागराः ॥१३॥
कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप।
कच्चिन्न परवित्तेषु गृध्यन्न परितप्यसे ॥१४॥

पदार्थ—

विदुर बोले—
अभियुक्तम्—लड़ते हुए को
बलवता—बलवान् से
दुर्बलम्—बलहीन को
हीनसाधनम्—साधनों से रहित को

हृतस्वम्—हरण किया गया है धन जिसका, उसको
कामिनम्—कामी को
चौरम्—चोर को
आविशन्ति—आविष्ट होते हैं (प्राप्त होते हैं)
प्रजागरा:—विशिष्ट जागरण (निद्रा का विशेषरूप से अभाव)
कच्चित्—क्या (प्रश्न अर्थ में,
एतै:—इन उपर्युक्त
महादोषैः—बड़े दोषों से
न—नहीं
स्पृष्टः—छुए हुए (सम्बद्ध)
असि—हो ?
नराधिप—हे नरों के स्वामिन् !
कच्चित्—क्या
न—नहीं
परवित्तेषु—दूसरों के धन (ऐश्वर्य) के विषय में
गृध्यन्—लालसा करते हुए
परितप्यसे—संतप्त हो रहे हो ?

## व्याख्या—

बलहीन और साधनरहित बलवान् से लड़ते हुए को, जिसका धन हरण कर लिया गया है उसको, कामी को और चोर को निद्रा नहीं आती है। हे राजन् ! क्या तुम इन उक्त महादोषों से मम्बद्ध तो नहीं हो ? क्या दूसरों के ऐश्वर्य की लालसा करते हुए तो सन्तप्त (पीड़ित) नहीं हो रहे हो ॥१३, १४॥

## धृतराष्ट्र उवाच—

**श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं परं नैःश्रेयसं वचः ।**
**अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसम्मतः ॥१५॥**

## पदार्थ—

धृतराष्ट्र बोला—
श्रोतुम्—सुनाना
इच्छामि—चाहता हूं
ते—तुम्हारे
धर्म्यम्—धर्म संयुक्त
परम्—उत्तम
नैःश्रेयसम्—निःश्रेयस(कल्याण) को प्राप्त करानेवाले
वचः—वचन को
अस्मिन्—इस
राजर्षिवंशे—राजर्षियों के वंश में
हि—निश्चय से
त्वम्—तुम
एकः—एक (मुख्य)
प्राज्ञसम्मतः—बुद्धिमानों में उत्कृष्ट माने गए [हो]

## व्याख्या—

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! मैं तुम्हारे धर्मयुक्त परम कल्याणकारक

वचन सुनना चाहता हूं। इस राजर्षियों के वंश में तुम एक ही बुद्धिमानों में उत्कृष्ट माने गये हो अर्थात् महाविद्वान् हो ॥१५॥

**विशेष–राजर्षिवंशे**—धृतराष्ट्र के सोमवंश में **पुरुरवाः ययाति** आदि अनेक ऐसे राजा हुए हैं जो ऋषि अर्थात् मन्त्रों के द्रष्टा थे। इस कारण यह वंश राजर्षिवंश (राजर्षियों का वंश) कहाता है ॥१५॥

## विदुर उवाच—

**राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्याधिपो भवेत्।**
**प्रेष्यस्ते प्रेषितश्चैव धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥१६॥**

## पदार्थ—

**विदुर बोले—**

| | |
|---|---|
| राजा—राजा | ते—तुम्हारा—(तुम्हारे द्वारा) |
| लक्षणसंपन्नः—लक्षणों से युक्त | प्रेषितः—[वन को] भेजा गया है |
| त्रैलोक्यस्य—तीनों लोकों का | च—और |
| अधिपः—स्वामी | एव—ही |
| भवेत्—हो [ऐसा] | धृतराष्ट्र— हे धृतराष्ट्र ! |
| प्रेष्यः—विशेष रूप से चाहने योग्य | युधिष्ठिरः—युधिष्ठिर। |

## व्याख्या—

हे धृतराष्ट्र ! राजा के लक्षणों से युक्त जो तीनों लोकों का स्वामी हो सकता है और तुम्हारे द्वारा विशेष रूप से चाहने योग्य था, ऐसे राजा युधिष्ठिर को तुमने वनवास दिया है ॥१६॥

**विपरीततरश्च त्वं भागधेये न संमतः।**
**अर्चिषां प्रक्षयाच्चैव धर्मात्मा धर्मकोविदः ॥१७॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| विपरीततरः—अधिक उलटे (राज्यलक्षणों से हीन) | अर्चिषाम्—[नेत्र] रश्मियों के |
| | प्रक्षयात्—पूरी तरह नष्ट हो जाने से |
| च—और | च—और |
| त्वम्—तुम | एव—ही |
| भागधेये—[राज्यरूपी] भाग में | धर्मात्मा—धर्मशील |
| न—नहीं | धर्मकोविदः—धर्म को जानने वाले। |
| सम्मतः—माने गये हो। | |

### व्याख्या —

और तुम उटले राज्यलक्षणों से हीन होने के कारण राज्यांश के अधिकारी नहीं हो। धर्मात्मा और धर्मज्ञ होने पर भी नेत्ररश्मियों के नष्ट हो जाने से राज्यलक्षण से हीन हो ॥१७॥

**आनृशंस्यादनुक्रोशात् धर्मात् सत्यात् पराक्रमात्।**
**गुरुत्वात् त्वयि संप्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्षते ॥१८॥**

### पदार्थ—

आनृशंस्यात्—क्रूर स्वभाव न होने से
अनुक्रोशात्—दयालु होने से
धर्मात्—धर्मात्मा होने से
सत्यात्—सत्यवादी होने से
पराक्रमात्—पराक्रमी होने से
गुरुत्वात्—गौरव के कारण से
त्वयि—तुम्हारे विषय में
संप्रेक्ष्य—देखकर (विचारकर)
बहून्—बहुत
क्लेशान्—क्लेशों को
तितिक्षते—सहन करता है [युधिष्ठिर]।

### व्याख्या —

युधिष्ठिर धर्मात्मा, सत्यवादी पराक्रमी, दयालु, और क्रूर स्वभाव का न होने के कारण तुम्हारे प्रति गौरव का ध्यान रख कर बहुत दुःखों को सह रहा है ॥१८॥

**दुर्योधने सौबले च कर्णे दुःशासने तथा।**
**एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥१९॥**

### पदार्थ—

दुर्योधने—दुर्योधन में
सौबले—सुबल के पुत्र (शकुनि) में
च—और
कर्णे—कर्ण में
दुःशासने—दुःशासन में
तथा—और
एतेषु—उक्त पुरुषों के आश्रय में
ऐश्वर्यम्—राज्य को
आधाय—रखकर
कथम्—कैसे
त्वम्—तुम
भूतिम्—कल्याण को
इच्छसि—चाहते हो।

## व्याख्या—

हे राजन् ! दुर्योधन, शकुनि, कर्ण और दुःशासन आदि [मूर्खों] के ऊपर राज्यैश्वर्य रखकर अर्थात् इनके आधीन होकर कैसे कल्याण चाहते हो ?

**सौबलः**—सुबल गान्धारराज का पुत्र शकुनि, दुर्योधन का मामा। सुबल की पुत्री होने से दुर्योधन की माता गान्धारी भी सौबली कहाती थी।

यद्यपि इस श्लोक में दुर्योधन आदि को प्रत्यक्ष रूप से तो मूर्ख नहीं कहा है, परन्तु आगे पण्डितों के लक्षणों का निर्देश करने से, दुर्योधन आदि के उन लक्षणों से रहित होने से मूर्खत्व द्योतित किया है ॥१९॥

## पण्डित-लक्षणानि—

**आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।**
**यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥२०॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| आत्मज्ञानम्—आत्मा का ज्ञान अथवा स्वशक्ति का परिज्ञान | यम्—जिन को |
| | अर्थाः—[संसारिक] विषय |
| | न—नहीं |
| समारम्भः—[शक्त्यनुसार कार्य को] आरम्भ करना | अपकर्षन्ति—आकृष्ट करते हैं |
| | सः—वह |
| तितिक्षा—[दुःख आदि को] सहन करना | वै—निश्चय से |
| | पण्डितः—पण्डित |
| धर्मनित्यता—धर्म में स्थिर रहना | उच्यते—कहा जाता है |

## व्याख्या—

जो व्यक्ति अपने आत्मा को अथवा अपनी शक्ति को जानता है, शक्ति के अनुसार कार्य करता है, दुःख आदि को सहन करता है, धर्म में स्थिर रहता है और जिसे सांसारिक विषय अपनी ओर आकृष्ट नहीं करते, उसे ही पण्डित कहते हैं।

**विशेष**—इस श्लोक में 'यमर्थान्नापकर्षन्ति' पाठ भी है। इसका अर्थ होगा—'जिसे आत्मज्ञानादि पुरुषार्थ से विमुख नहीं करते'॥ यही पाठ अगले २२ वें श्लोक में भी है। वहां वह युक्त है। प्रकृत श्लोक में तो **'यमर्था नापकर्षन्ति'** पाठ ही युक्ततर है।

**निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।**
**अनास्तिकः श्रद्धधान एतत् पण्डितलक्षणम् ॥२१॥**

## पदार्थ—

निषेवते—सेवन करता है
प्रशस्तानि—उत्तम कर्मों का
निन्दितानि—निन्दित कर्मों का
न—नहीं
सेवते—सेवन करता है
अनास्तिकः—नास्तिक नहीं है (आस्तिक है)
श्रद्धधानः—श्रद्धावान्
एतत्—यह
पण्डितलक्षणम्—पण्डित का लक्षण [है] ।

## व्याख्या—

जो पुरुष उत्तम कर्मों का आचरण करता है, निन्दित कर्मों का सेवन नहीं करता, नास्तिकता से रहित है और श्रद्धावान् है, वही पण्डित है अर्थात् ऐसे लक्षणों वाला ही पण्डित कहाता है ॥२१॥

**क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीस्तम्भो मान्यमानिता ।**
**यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥२२॥**

## पदार्थ—

क्रोधः—क्रोध
हर्षः—प्रसन्नता
च—और
दर्पः—अभिमान (दूसरे को हीन समझना)
च—और
ह्रीः—लज्जा
स्तम्भः—अनम्रता (धृष्टता)
मान्यमानिता—अपने आप को मानके योग्य मानना
यम्—जिस को [ये दोष]
अर्थात्—पुरुषार्थ से (जीवनोद्देश्य से)
न—नहीं
अपकर्षन्ति—हटाते हैं,
सः—वह
वै—निश्चय से
पण्डितः—पण्डित
उच्यते—कहा जाता है ।

## व्याख्या—

जिस व्यक्ति को क्रोध, प्रसन्नता, अभिमान, लज्जा, धृष्टता और अपने को मान के योग्य समझना, ये दोष पुरुषार्थ से (जीवन के उद्देश्य से) नहीं हटाते (नहीं हटा सकते), वही पण्डित कहाता है ॥२२॥

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे ।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥२३॥

पदार्थ—

| | |
|---|---|
| यस्य—जिसका | परे—दूसरे (शत्रु) |
| कृत्यम्—करने योग्य (जिसे अभी किया नहीं है) | कृतम्—किये हुए को |
| | एव—ही |
| न—नहीं | अस्य—इसके |
| जानन्ति—जानते हैं | जानन्ति—जानते हैं । |
| मन्त्रम्—विचार को | सः—वह |
| वा—अथवा | वै—निश्चय हैं । |
| मन्त्रितम्—विचारे गए (तत्त्व) को | पण्डितः—पण्डित |
| | उच्यते—कहा जाता है । |

व्याख्या—

जिस व्यक्ति के भविष्य में करने योग्य कर्म को, विचार को और निश्चय किये गये तत्त्व को शत्रु लोग नहीं जानते, केवल किये गये कर्म को ही जानते हैं, वही पण्डित कहाता है ।

यद्यपि यह नियम साधारण रीति से सभी व्यक्तियों के लिये लाभकारी है तथापि राजनीति में तो परम आवश्यक है । राजा और राज्य-कर्मचारियों को इतना गूढ़ रहना चाहिए कि शत्रु के गुप्तचर उनके हाव-भाव चेष्टा आदि से भी उनके विचार अथवा भविष्य में किये जाने वाले कर्मों को न जान सकें । जो राजा वा जिस राज्य के कर्मचारी ऐसे गूढ़ व्यक्ति नहीं होते हैं, वह राजा अथवा राज्य नष्ट हो जाता है ॥२३॥

यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः ।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥२४॥

पदार्थ—

| | |
|---|---|
| यस्य—जिसके | शीतम्—शीत |
| कृत्यम्—करने योग्य कार्य को | उष्णम्—गरमी |
| न—नहीं | भयम्—भय |
| विघ्नन्ति—नष्ट करते हैं | रतिः—[विषयों में] प्रसक्ति |

समृद्धिः—ऐश्वर्यता
असमृद्धिः—दरिद्रता
वा—अथवा
सः—वह
वै—निश्चय से
पण्डितः—पण्डित
उच्यते—कहा जाता है।

## व्याख्या—

जिस व्यक्ति के कार्य को शीत और ऊष्ण, भय अथवा विषयासक्ति, सम्पत्ति का होना अथवा दरिद्र होना नष्ट नहीं करते, वह पण्डित कहाता है।

शीत और उष्ण ये प्राकृतिक रुकावटों के उपलक्षण रूप हैं। भय और रति ये मानसिक रुकावटों उपलक्षण हैं। समृद्धि और असमृद्धि ये साधन सम्बन्धी रुकावटों के उपलक्षण रूप हैं ॥२४॥

**यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते।**
**कामादर्थं वृणीते यः स वै पण्डित उच्यते ॥२५॥**

## पदार्थ—

यस्य—जिसकी
संसारिणी—संसार में विचरने वाली (अस्थिर)
प्रज्ञा—बुद्धि
धर्मार्थौ—धर्म और अर्थ का
अनुवर्तते—अनुवर्तन करती है
कामात्—काम से (ऐहिक सुख की इच्छा से)
अर्थम्—(उभयलोक सुखकारी धर्म रूप) अर्थ को
वृणीते—स्वीकार करता है
यः—जो
सः—वह
वै—निश्चय से
पण्डितः—पण्डित
उच्यते—कहा जाता है।

## व्याख्या—

जिस व्यक्ति की सांसारिक अस्थिर बुद्धि भी धर्म और अर्थ के अनुकूल चलती है और जो काम (ऐहिक सुख) से अर्थ (उभयलोक-सुखकारी धर्म) को स्वीकार करता है, वही पण्डित कहाता है ॥२५॥

**यथाशक्ति चिकीर्षन्ति यथाशक्ति च कुर्वते।**
**न किञ्चिदवमन्यन्ते नराः पण्डितबुद्धयः ॥२६॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| यथाशक्ति—शक्ति के अनुसार | किञ्चित्—किसी का भी |
| चिकीर्षन्ति—करना चाहते हैं | अवमन्यन्ते—तिरस्कार करते हैं, |
| यथाशक्ति—शक्ति के अनुसार | [ऐसे] |
| च—और | नराः—मनुष्य |
| कुर्वते—करते हैं । | पण्डितबुद्धयः—पण्डितों की बुद्धिवाले |
| न—नहीं | होते हैं । |

## व्याख्या—

जो व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार ही कार्य करना चाहते हैं और शक्ति के अनुसार ही करते हैं, तथा किसी का तिरस्कार नहीं करते, ऐसे मनुष्य पण्डित की बुद्धिवाले होते हैं ।

**पण्डितबुद्धयः**—पण्डितानां बुद्धिः पण्डितबुद्धिः, पण्डितबुद्धिरिव बुद्धिर्येषां ते पण्डितबुद्धयः, उत्तरपदलोपी बहुव्रीहिः ।

**क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।**
**नासंपृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थे तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥२७॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| क्षिप्रम्—शीघ्र | कामात्—अभिलाषा (कामना) से । |
| विजानाति—जानता है, | न—नहीं |
| चिरम्—देर तक | असंपृष्टः—विना पूछे |
| शृणोति—सुनता है, | व्युपयुङ्क्ते—बोलता है |
| विज्ञाय—जानकर | परार्थे—दूसरे के विषय में । |
| च—और | तत्—वह |
| अर्थम्—अर्थ को | प्रज्ञानम्—चिह्न [है] |
| भजते—सेवन करता है | प्रथमम्—पहला (मुख्य) |
| न—नहीं | पण्डितस्य—पण्डित का । |

## व्याख्या—

जो व्यक्ति शीघ्र संकेतमात्र से जान लेता है, दूसरे की बात [धैर्यपूर्वक] चिरकाल तक सुनता है, और अर्थ की कामना से उसका सेवन नहीं करता, यही पण्डित का मुख्य चिह्न है ॥२७॥

इस श्लोक में 'ह्यु पयुङ्क्ते' पाठ भी मिलता है। दोनों का अर्थ समान है।

**नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।**
**आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ।।२८।।**

पदार्थ—

| | |
|---|---|
| न—नहीं | आपत्सु—दुःख प्राप्त होने पर |
| अप्राप्यम्–प्राप्त न होने योग्य को | च—और |
| वाञ्छन्ति—चाहते हैं। | न—नहीं |
| नष्टम्—नष्ट हुए को | मुह्यन्ति—मोह (अज्ञान) को प्राप्त होते हैं [वे ही] |
| न—नहीं | नराः—मनुष्य |
| इच्छन्ति—चाहते हैं | पण्डितबुद्धयः—पण्डित-बुद्धि वाले [हैं]। |
| शोचितुम्—शोक करने के लिए। | |

व्याख्या—

जो व्यक्ति प्राप्त होने के अयोग्य वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं करते, नष्ट हुई वस्तु का शोक नहीं करते और आपत्ति आने पर मोह (अज्ञान) को प्राप्त नहीं होते, वे मनुष्य पण्डित बुद्धि वाले हैं ।।२८।।

**निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः ।**
**अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ।।२९।।**

पदार्थ—

| | |
|---|---|
| निश्चित्य—निश्चय करके | अवन्ध्यकालः—फल रहित नहीं है काल जिसका वह |
| यः—जो | वश्यात्मा—आत्मवशी (जितेन्द्रिय) |
| प्रक्रमते–[कार्य] आरम्भ करता है, | सः—वह |
| न—नहीं | वै—ही |
| अन्तः—मध्य में | पण्डितः—पण्डित |
| वसति—बसता (रहता) है | उच्यते—कहा जाता है। |
| कर्मणः—कर्म के। | |

## व्याख्या—

जो व्यक्ति कर्म को स्वयत्नसाध्य है ऐसा निश्चय करके आरम्भ करता है, कर्म के मध्य में नहीं रहता अर्थात् कर्म को बीच में नहीं छोड़ता, समाप्त करता है, जो अवन्ध्यकाल अर्थात् जो सदा सप्रयोजन कर्म ही करता है और जो वश्यात्मा=जितेन्द्रिय है, वही पण्डित कहाता है ॥२९॥

**आर्यकर्मणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते ।**
**हितं च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ ॥३०॥**

## पदार्थ—

आर्यकर्मणि—आर्यों (शिष्टों=श्रेष्ठों) के कर्मों में
रज्यन्ते—अनुराग रखते हैं
भूतिकर्माणि—ऐश्वर्य [प्राप्त कराने वाले] कर्मों को
कुर्वते—करते हैं
हितम्—कल्याणकारक को
च—और
न—नहीं
अभ्यसूयन्ति—असूया (निन्दा) करते हैं [ऐसे]
पण्डिताः—पण्डित [कहाते हैं]
भरतर्षभ—हे भरत कुल में श्रेष्ठ (धृतराष्ट्र)

## व्याख्या—

हे भरत कुल में श्रेष्ठ (धृतराष्ट्र) जो व्यक्ति आर्यों (शिष्टों) के कर्मों में अनुराग रखते हैं, ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाले कर्मों को ही करते हैं और कल्याणकारक की कभी असूया (निन्दा) नहीं करते, वही पण्डित कहे जाते हैं ।

**विशेष—भरतर्षभ**=भरतेषु ऋषभः श्रेष्ठः=भरतकुल में श्रेष्ठ ॥३०॥

**न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तप्यते ।**
**गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥३१॥**

## पदार्थ—

न—नहीं
हृष्यति—प्रसन्न होता है
आत्मसम्माने—अपने सम्मान में
न—नहीं
अवमानेन—अपमान से
तप्यते—तप्त (दुःखी) होता है
गाङ्गो ह्रद इव—गङ्गासागर के समान
अक्षोभ्यः—क्षुब्ध न होनेवाला
यः—जो
सः—वह
पण्डितः—पण्डित
उच्यते—कहा जाता है ।

## व्याख्या—

जो मनुष्य आत्मसम्मान (आत्मप्रशंसा) में हर्षित नहीं होता, अपमान से दुःखी नहीं होता और जो गङ्गासागर के समान क्षुब्ध न होनेवाला अर्थात् शान्त है, वही पण्डित कहाता है ॥३१॥

**विशेश**—'गङ्गो ह्लद इव' का अर्थ 'गङ्गा के विशाल शीतल जल के समान' भी हो सकता है।

**तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम् ।**
**उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डित उच्यते ॥३२॥**

## पदार्थ

तत्त्वज्ञः—तत्त्व को जाननेवाला
सर्वभूतानाम्—सब भूतों के
योगज्ञः—योग (रचना प्रकार) को जाननेवाला
सर्वकर्मणाम्—सब कर्मों के
उपायज्ञः—[कर्मसिद्धि के] उपाय साधनों को जाननेवाला
मनुष्याणाम्—मनुष्यों में
नरः—मनुष्य
पण्डितः—पण्डित
उच्यते—कहा जाता है।

## व्याख्या—

जो मनुष्य सब भूतों के तत्त्व (विनाशभाव) को जानता है, जो सब कर्मों की रचनाओं अथवा कार्य-कुशलता को जानता है और जो मनुष्यों में कर्मसिद्धि के उपायों को जानता है वह पण्डित कहाता है ॥३२॥

**द्रष्टव्य**—योगः कर्मसु कौशलम् । गीता ।

**प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।**
**आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥३३।**

## पदार्थ—

प्रवृत्तवाक्—प्रवृत्त है वाक् जिसकी (अकुण्ठितवचन)
चित्रकथः—विचित्र कथा कहने वाला (लोक-कथा से अभिज्ञ)
ऊहवान्—तर्कशील
प्रतिभानवान्—तत्काल स्फूर्तिवाला
आशु—शीघ्र
ग्रन्थस्य—ग्रन्थ का
वक्ता—कहनेवाला (पढ़ानेवाला)
च—और
यः—जो
सः—वह
पण्डितः—पण्डित
उच्यते—कहा जाता है।

## व्याख्या—

जिसकी वाणी कभी कुण्ठित नहीं होती, जो कथा कहने में चतुर है, तर्कणाशक्ति से युक्त है, प्रतिभा से युक्त है और जो ग्रन्थ का आशु वक्ता है वह पण्डित कहाने योग्य है ॥३३॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥३४॥

## पदार्थ—

श्रुतम्—सुना हुआ (शास्त्रज्ञान)
प्रज्ञानुगम्—बुद्धि का अनुगमन करने वाला
यस्य—जिसका,
प्रज्ञा—बुद्धि
च—और
एव—ही
श्रुतानुगा—सुने हुए (शास्त्रज्ञान) के पीछे चलने वाली
असम्भिन्नार्यमर्यादः—नहीं तोड़ा है आर्यों की मर्यादा को जिसने
पण्डिताख्याम्—पण्डित संज्ञा को
लभेत—प्राप्त होवे
सः—वह ।

## व्याख्या—

जिसका शास्त्रज्ञान बुद्ध्यनुसारी है और जिसकी बुद्धि शास्त्रानुसारिणी है, जिसने आर्यों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया है, वह पण्डित संज्ञा को प्राप्त होता है ।

**विशेष**—देखिये वैशेषिक का **बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे** (वै० द० ६।१।१) सूत्र और **सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि** अर्थात् हम श्रुत-ज्ञान से युक्त हों, ज्ञान से विरुद्ध आचरण करनेवाले न हो, अथर्ववेदीय मन्त्र (१।१।४) ॥३४॥

## मूर्खों के लक्षण

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥३५॥

## पदार्थ—

अश्रुतः—ज्ञान रहित (होकर)
च—और
समुन्नद्धः—उद्धत (उद्दण्ड)
दरिद्रः—धनरहित (होकर)
च—और
महामनाः—बड़े मन वाला (बड़ी-बड़ी अभिलाषा रखने वाला)
अर्थान्—ऐश्वर्यों को
च—और
अकर्मणा—विना कर्म के अथवा हीन कर्मों से
प्रेप्सुः—चहाने वाला
मूढः—मूर्ख
इति—ऐसा
उच्यते—कहा जाता है
बुधैः—ज्ञानियों से

## व्याख्या—

जो व्यक्ति ज्ञानरहित होकर भी उद्धत (उद्दण्ड) है, दरिद्र (धनरहित) होकर भी बड़ी-बड़ी अभिलाषाएं करता है, और विना कर्म किये अथवा अनुचित [द्यूतादि] कर्मों से ऐश्वर्य को प्राप्त करना चाहता है, वह मूर्ख है, ऐसा पण्डितों द्वारा कहा जाता है अर्थात् पण्डितजन उसे मूर्ख कहते हैं ॥३५॥

**स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनु तिष्ठति ।**
**मिथ्या चरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥३६॥**

## पदार्थ—

स्वम्—अपने
अर्थम्—धन को
यः—जो
परित्यज्य—छोड़कर
परार्थम्—दूसरे के धन के
अनुतिष्ठति—पीछे दौड़ता है
मिथ्या—झूठ [का[
चरति—आचरण करता है
मित्रार्थे—मित्र के लिये
यः—जो
च—और
मूढः—मूर्ख
सः—वह
उच्यते—कहा जाता है ।

## व्याख्या—

जो मनुष्य अपने ऐश्वर्य को छोड़कर दूसरे के ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये चेष्टा करता है और जो अपने मित्र के साथ भी मिथ्या व्यवहार करता है, वह मूर्ख कहाता है ॥३६॥

**अकामान् कामयति यः कामयानान् परित्यजेत् ।**
**बलवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम् ॥३७॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| अकामान्—न चाहने वालों को | च—और |
| कामयति—चाहता है | यः—जो |
| यः—जो | द्वेष्टि—द्वेष करता हैं |
| कामयानान्—चाहने वालों को | तम्—उसको |
| परित्यजेत्—छोड़ देवे | आहुः—कहते हैं |
| बलवन्तम्—बलवान् को (से) | मूढचेतसम्—मूर्ख चित्त वाला । |

## व्याख्या—

जो पुरुष अपने को न चाहनेवालों को चाहता है और चाहनेवालों को नहीं चाहता और जो बलवान् से द्वेष करता है, उसे मूर्ख कहते हैं ।

**विशेष**—इस श्लोक का विशेष संकेत इस प्रकार है—जो कर्ण आदि तुम्हारे प्रति भक्ति नहीं रखते उनको दुर्योधन चाहता है और जो पाण्डव तुम्हारे प्रति भक्ति रखते हैं उनको नहीं चाहता है तथा बलवान् युधिष्ठिर से द्वेष करता है ।

**कामयानान्**—यह पद भी पूर्व श्लोक १।७ में पठित 'चिन्तयानम्' के सदृश ही है ॥३७॥

**अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।**
**कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ॥३८॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| अमित्रम्—अमित्र (शत्रु) को | कर्म—कार्य को |
| कुरुते—बनाता है | आरभते—आरम्भ करता है |
| मित्रम्—मित्र, | दुष्टम्—दुष्ट को |
| मित्रम्—मित्र को | तम्—उसको |
| द्वेष्टि—द्वेष करता है | आहुः—कहते हैं |
| हिनस्ति—नष्ट करता है | मूढचेतसम्—मूर्ख चित्त वाला |
| च—और | |

### व्याख्या—

जो व्यक्ति अमित्र अर्थात् मित्र बनने के अयोग्य को मित्र बनाता है और मित्र बनने योग्य से द्वेष करता है तथा उनका नाश करता है और दुष्ट कर्म करता है, उसे मूर्ख कहते हैं।

**विशेष**—दुष्ट कर्म से यहां दुर्योधन कृत जतुगृह-दाह आदि की ओर संकेत है ॥३८॥

**संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते।**
**चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ ॥३९॥**

### पदार्थ—

संसारयति—फैलाता है
कृत्यानि—कर्मों को,
सर्वत्र—सब के प्रति
विचिकित्सते—सन्देह करता है।
चिरम्—विलम्ब
करोति—करता है
क्षिप्रार्थे—शीघ्र [करने योग्य] कार्यों में,
सः—वह
मूढः—मूर्ख [कहा जाता है]
भरतर्षभ—हे भरत कुल में श्रेष्ठ।

### व्याख्या—

हे भरत कुल में श्रेष्ठ! जो कार्यों को फैलाता है, अर्थात् स्वयं न करके भृत्यों के द्वारा करवाता है, सबके प्रति सन्देह करता है और शीघ्र करने योग्य कार्यों में विलम्ब करता है वह मूर्ख कहाता है ॥३९॥

**श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति दैवतानि च नार्चति।**
**सुहृन्मित्रं न लभते तमाहुर्मूढचेतसम् ॥४०॥**

### पदार्थ---

श्राद्धम्—श्रद्धापूर्वक दिया जाने वाला अन्न
पितृभ्यः—माता-पिता पितामह आदि को
न—नहीं
ददाति—देता है
देवतानि—देवताओं को
च—और

न—नहीं
अर्चति—पूजता है,
सुहृत्—अच्छे हृदय वाले
मित्रम्—मित्र को
न—नहीं
लभते—प्राप्त करता है
तम्—उसको
आहुः—कहते हैं
मूढचेतसम्—मूर्ख चित्तवाला।

## व्याख्या—

जो व्यक्ति अपने पितरों=माता-पिता आदि को श्राद्ध=श्रद्धापूर्वक अन्न पान वस्त्र आदि नहीं देता, देवताओं=विद्वानों का सत्कार नहीं करता और जड़ देव वायु और अग्नि आदिका होम द्वारा उपकार नहीं करता तथा जो शुद्ध हृदय वाले मित्र को प्राप्त नहीं करता, उसे मूर्ख कहते हैं।

**विशेष**—श्राद्ध से पिता-माता आदि को श्रद्धा पूर्वक दिया जाने वाला अन्न पान वस्त्र आदि अभिप्रेत है। दैवत से प्रत्यक्ष चेतन देव ब्राह्मण संन्यासी आचार्य अतिथि आदि और जड़ देव वायु अग्नि जल पृथिवी आदि हैं। चेतन देवों का सत्कार उनकी सेवा द्वारा किया जाता है और जड़ देवों का यज्ञ के द्वारा।

सुहृत् शब्द का सामान्यतया मित्र अर्थ में प्रयोग होता है, परन्तु यहां यह मित्र के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ हैं। इसलिये इसका यौगिक अर्थ 'शुद्ध हृदय वाला' किया गया है ॥४०॥

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥४१॥

## पदार्थ—

अनाहूतः—विना बुलाये
प्रविशति—प्रविष्ट होता है (घुसता है),
अपृष्टः—विना पूछे
बहु—अत्यधिक
भाषते—बोलता है,
अविश्वस्ते—विश्वास न करने योग्य में
विश्वसिति—विश्वास करता है,
मूढचेताः—मूर्ख चित्त वाला
नराधमः—मनुष्यों में नीच है [वह]।

## व्याख्या—

जो पुरुष सभा आदि में विना बुलाए प्रविष्ट होता है और विना पूछे बहुत बोलता है तथा विश्वास के अयोग्य पुरुषों में विश्वास करता है, वह मूर्ख चित्तवाला नरों में अधम है ।।४१।।

**परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा ।**
**यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ।।४२।।**

## पदार्थ—

परम्—दूसरे को (की)
क्षिपति—निन्दा करता है
दोषेण—दोष दिखाकर
वर्तमानः—व्यवहार करता हुआ
स्वयम्—अपने आप
तथा—वैसा ।
यः—जो
च—और
क्रुध्यति—क्रोध करता है
अनीशानः—स्वामी (समर्थ) न होते हुए
सः—वह
च—और
मूढतमः—अत्यन्त मूर्ख
नरः—मनुष्य होता है ।

## व्याख्या—

जो मनुष्य स्वयं दूषित आचरण करता हुआ दूसरे की उस दोष से (जिससे स्वयं दूषित है) निन्दा करता है और जो समर्थ (स्वामी) न होते हुए क्रोध करता है, वह मनुष्य अत्यन्त मूर्ख होता है ।।४२।।

**आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम् ।**
**अलभ्यमिच्छन्नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते ।।४३।।**

## पदार्थ—

आत्मनः—अपने
बलम्—बल (शक्ति) को
अज्ञाय—न जानकार
धर्मार्थपरिवजितम्—धर्म और अर्थ से रहित
अलभ्यम्—प्राप्त न कर सकने योग्य (ऐश्वर्य) को
इच्छन्—चाहता हुआ
नैष्कर्म्यात्—विना यत्न के
मूढबुद्धिः—मूर्ख बुद्धि वाला
इह—यहां (इस संसार में)
उच्यते—कहा जाता है ।

## व्याख्या—

जो पुरुष अपनी शक्ति को विना विचारे धर्म और अर्थ से रहित अलभ्य (प्राप्त न कर सकने योग्य) ऐश्वर्य को विना यत्न के चाहता है, वह इस संसार में मूर्ख कहाता है ॥४३॥

**अशिष्यं शास्ति यो राजन् यश्च शून्यमुपासते ।**
**कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मूढचेतसम् ॥४४॥**

## पदार्थ—

अशिष्यम्—शासन करने के अयोग्य को
शास्ति—शासन करता है
यः—जो
राजन्—हे राजन् !
यः—जो
च—और
शून्यम्—भजन के अयोग्य को (की)
उपासते—उपसना करता है,
कदर्यम्—कृपण को
भजते—भजता है (सेवन करता है)
यः—जो
तम्—उसको
आहुः—कहते हैं
मूढचेनसम्—मूढ चित्त वाला ।

## व्याख्या—

हे राजन् ! जो मनुष्य शासन करने के अयोग्य पर शासन करता है अर्थात् जो आज्ञा नहीं मानता या मान सकता है उस पर आज्ञा चलाता है, सेवन करने के अयोग्य व्यक्ति की उपासना (निकट बैठना) करता है तथा कृपण का सेवन करता है, उसको मूर्ख कहते हैं ।

**विशेष—शून्यम्** के अभिप्राय में मतभेद है । एक अर्थ है—'भजन के अयोग्य'=जिसका सेवन=संग नहीं करना चाहिये । दूसरा है—शून्य के समान अज्ञात होकर प्रच्छन्न रूप से राजदाराओं का सेवन करता है । तीसरा अभिप्राय यह भी हो सकता है कि जो शून्य आकाश की उपासना करता है अर्थात् निष्क्रिय रहता है ॥४४॥

**अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा ।**
**विचरत्यसमुन्नद्धो सः य पण्डित उच्यते ॥४५॥**

## पदार्थ—

अर्थम्—अर्थ को
महान्तम्—अत्यधिक को
आसाद्य—प्राप्त करके
विद्याम्—विद्या को
ऐश्वर्यम्—धनसम्पत्ति को
एव—ही
वा—अथवा
विचरति—विचरता है (व्यवहार करता है)
असमुन्नद्धः—उद्धत (उद्दण्ड) न होकर
यः—जो,
सः—वह
पण्डितः—पण्डित
उच्यते—कहा जाता है।

## व्याख्या—

जो पुरुष अत्यधिक धन-सम्पत्ति विद्या अथवा ऐश्वर्य (राज्यादि) को प्राप्त होकर भी उद्धत (उद्दण्ड) न होकर (नम्रता पूर्वक) व्यवहार करता है, वही पण्डित कहाता है ॥४५॥

**एकः सम्पन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम्।**
**योऽसम्भज्य भृत्येभ्यः को नृशंसतरस्ततः ॥४६॥**

## पदार्थ—

एकः—अकेला
सम्पन्नम्—स्वादु भोजन
अश्नाति—खाता है,
वस्ते—धारण करता है (पहनता है)
वासः—वस्त्र को
च—और
शोभनम्—अच्छे को।
यः—जो
असंभज्य—विना बांटे
भृत्येभ्यः—नौकरों के लिये,
कः—कौन
नृशंसतरः—अति पापी [है]
ततः—उससे।

## व्याख्या—

जो स्वामी अपने भृत्य नौकर-चाकर आदि को न बांटकर अकेला स्वादु अन्न का भोजन करता है अथवा उत्तम वस्त्र पहनता है उससे अधिक पापी और कौन है।

विशेश—ऋग्वेद में कहा है—**केवलाघो भवति केवलादी** (ऋ० १०।११७।३) अर्थात् जो पुरुष अकेला खाता है वह केवल पापी होता है। इसी मन्त्र का भाव भगवान् कृष्ण ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

**भुञ्जते ते त्वघं पापं ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ गीता ३।१३ ॥**

अर्थात् जो अपने लिये अन्न पकाता है (अकेला भोजन करता है) वह पाप का भोजन करता है।

भारतीय राजनीति और संस्कृति में राजा और स्वामी का यह प्रधान कर्तव्य माना गया है कि वह अपने आश्रितों का पूर्णतया भरण-पोषण करे। शुक्रनीति १।३८६–४०५ में भृत्यों के साथ कैसा व्यवहार किया जाये इसका विस्तार से उल्लेख किया है। पाश्चात्य विद्वान् जो यह मानते हैं कि श्रमिक के श्रम का वास्तविक मूल्य हमने ही स्वीकार किया है वे भ्रान्ति में हैं। आज-कल श्रमिकों को जो-जो भी सुख सुविधाएं दी जा रही हैं वैसी ही और किसी अंश में उनसे भी अधिक सुविधाएं भारतीय राजनीतिज्ञों ने सहस्रों वर्ष पूर्व देने का विधान किया है। इसके लिए देखिए वेदवाणी मासिक (रामलाल कपूर ट्रस्ट वाराणसी) वर्ष २० अंक ५ (मार्च १९६८) में "शुक्रनीति के अनुसार नौकरी के नियम" लेख, पृष्ठ २२, २३।

**एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः।**
**भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते ॥४७॥**

## पदार्थ—

एकः—अकेला
पापानि—पाप कर्मों को
कुरुते—करता है।
फलम्—फल को
भुङ्क्ते—भोग करता है
महाजनः—बड़ा जन समुदाय (राष्ट्र)
भोक्तारः—(फल) भोगने वाले
विप्रमुच्यन्ते—छूट जाते हैं कर्मफल से
कर्त्ता—(पाप कर्म) करने वाला
दोषेण—दोष (पाप) से
लिप्यते—लिप्त होता है।

## व्याख्या—

(राष्ट्र का नायक) अकेला भी जो पाप (अनिष्ट कार्य) करता है उसका फल राष्ट्र भोगता है। भोगने वाले तो मुक्त हो जाते हैं, परन्तु वह कर्ता पाप से लिप्त हो जाता है अर्थात् चिरकाल तक राष्ट्र उसको राष्ट्रद्रोही के रूप में स्मरण करता रहता है ॥४७॥

एकं हन्यान्न वा हन्याद् इषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद् राष्ट्रं सराजकम् ॥४८॥

पदार्थ—

एकम्—एक को
हन्यात्—मारे
न—नहीं
वा—अथवा
हन्यात्—मारे
इषुः—बाण
मुक्तः—छोड़ा गया
धनुष्मता—धनुर्धारी से ।
बुद्धिः—बुद्धि (नाश करने का संकल्प)
बुद्धिमता—बुद्धिमान् से
उत्सृष्टा—छोड़ी गई
हन्यात्—नष्ट करे
राष्ट्रम्—राष्ट्र को
सराजकम्—राजा सहित को ।

व्याख्या—

धनुर्धारी पुरुष से छोड़ा गया बाण एक को मारे अथवा न भी मारे, किन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति से छोड़ी गई बुद्धि (नाश करने का संकल्प) राजा सहित सम्पूर्ण राष्ट्र को नष्ट कर देती है ।

नन्दराज से अपमानित असहाय चाणक्य ने नन्दराज से बदला लेने का संकल्प किया था । उसने अपनी बुद्धि से सम्पूर्ण नन्दवंश का नाश कर दिया, यह इतिहास में सर्वप्रसिद्ध है ॥४८॥

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु ।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ॥४९॥

पदार्थ—

एकया—एक (बुद्धि) से
द्वे—दो (कार्य-अकार्य) की
निश्चित्य—निश्चय करके
त्रीन्—तीन (मित्र उदासीन शत्रु) को
चतुर्भिः—चार (साम, दान, दण्ड, भेद) से
वशे—वश में
कुरु—करो ।
पञ्च—पांच (इन्द्रियों) को
जित्वा—जीत कर
विदित्वा—जान कर
षट्—छः (सन्धि, विग्रह, यान्, आसन, द्वैध, संश्रय) को

सप्त—सात (परस्त्रीगमन, द्यूत-क्रीडा, शिकार, मद्यपान, कठोरभाषण, दण्डपारुष्य, अर्थदूषण) को
हित्वा—छोड़ कर
सुखी—सुखी
भव—होवो ।

## व्याख्या—

एक=बुद्धि से, दो=कार्य, अकार्य का निश्चय करके, तीन=मित्र, उदासीन और शत्रु को, चार=साम, दान, दण्ड और भेद से वश में करो । पांच=इन्द्रियों को जीत कर, छः=सन्धि (मेल करना), विग्रह (लड़ाई), यान (शत्रु पर चढ़ाई), द्वैध (अपने बल को दो विभागों में बांट देना, जिससे शत्रु समझे कि फूट पड़ गई है), संश्रय (बल हीन होने पर किसी बलवान् का आश्रय लेना) कार्यों को जानकर, सात=परस्त्रीगमन, जुआ खेलना, शिकार, मद्यपान, कठोर भाषण, विना दोष के महत् दण्ड देना, धन को नीच कामों में व्यय करना, कार्यों को छोड़ कर सुखी होवो ।

व्याख्याकारों ने इस श्लोक की अध्यात्मपक्ष में व्याख्या इस प्रकार की है—एक बुद्धि से दो—कार्य अकार्य का निश्चय करके तीन—काम क्रोध लोभ को, चार—शम दम उपरम श्रद्धा से वश में करो । पांच इन्द्रियों को जीत कर, छ—अशनाया (खाने की इच्छा), पिपासा (पीने की इच्छा), शोक, मोह, जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु को जान कर, सात—पांच इन्द्रियां मन बुद्धि (इनके विषयों) को छोड़ कर सुखी होवो ॥४८॥

**एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ।**
**सराष्ट्रं सयुजं हन्ति राजानं मन्त्रविप्लवः ॥५०॥**

## पदार्थ—

एकम्—एक को
विषरसः—विष
हन्ति—मारता है ।
शस्त्रेण—शस्त्र से
एकः—एक
च—और
वध्यते—मारा जाता है ।

सराष्ट्रम्—राष्ट्र सहित
सयुजम्—प्रजा सहित
हन्ति—नष्ट कर देता है
राजानम्—राजा को
मन्त्रविप्लवः—मन्त्र=विचार का प्रकट हो जाना ।

## व्याख्या—

विष एक को ही मारता है जो उसे पीता है, शस्त्र से भी एक ही व्यक्ति मारा जाता है, परन्तु मन्त्र=विचार का (कार्य से पहले ही) प्रकट हो जाना राष्ट्र और प्रजा सहित राजा को नष्ट कर देता।

विशेष—इस विषय में १।२३ श्लोक की व्याख्या भी देखें ॥५०॥

**एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान्न चिन्तयेत्।**
**एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥५१॥**

## पदार्थ—

एकः—अकेला
स्वादु—उत्तम अन्न को
न—नहीं
भुञ्जीत—खावे
एकः—अकेला
अर्थान्—अर्थों का (धर्म काम आदि का)
न—नहीं
चिन्तयेत्—चिन्तन करे।

एकः—अकेला
न—नहीं
गच्छेत्—जावे
अध्वानम्—मार्ग को (यात्रा को)
न—नहीं
एकः—अकेला
सुप्तेषु—(अन्यों के) सोने पर
जागृयात्—जागता रहे।

## व्याख्या—

अकेले (अन्यों को विना खिलाये) स्वादु भोजन न करे, अकेला अर्थों का चिन्तन न करे, अकेला यात्रा में न जावे और अकेला अन्य साथियों के सोने पर जागता न रहे।

विशेष—इस श्लोक के पूर्वार्ध की व्याख्या के लिये श्लोक १।४६ की व्याख्या देखें ॥५१॥

**एकमेवाद्वितीयं तद् यद् राजन् नावबुद्ध्यसे।**
**सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥५२॥**

## पदार्थ—

एकम्—एक
एव—ही
अद्वितीयम्—अकेला (जिसका अन्य सहायक नहीं
तत्—वह
यद्—जो
राजन्—हे राजन्
न—नहीं
अवबुध्यसे—जाना जाता है।
सत्यम्—सत्य
स्वर्गस्य—स्वर्ग का
सोपानम्—सीढ़ी (है)
पारावरस्य—समुद्र के (पार जाने के लिये)
नौः—नौका
इव—जैसे।

## व्याख्या—

हे राजन्! एक ही (लोक में ऐसी बात है) जिसे नहीं जानते। वह यह है कि सत्य ही स्वर्ग का सोपान है (अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति केवल सत्य से ही होती है) जैसे समुद्र को पार करने के लिए नौका साधन होती है।

विशेष—अध्यात्म पक्ष मे सत्य=ब्रह्म का ज्ञान ही स्वर्ग=मोक्ष का सोपान है। वेद में भी कहा है—**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति** (यजुः ३१।१८) उसी विराट् पुरुष को जान कर मृत्यु को पार करके अमृत=मोक्ष को प्राप्त होता है ॥५२॥

**एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।**
**यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥५३॥**

## पदार्थ—

एकः—एक (ही)
क्षमावताम्—क्षमाशीलों का
दोषः—दोष [है]
द्वितीयः—दूसरा
न—नहीं
उपपद्यते—प्राप्त होता है
यत्—जो
एनम्—इसको
क्षमया—क्षमा से
युक्तम्—युक्त को
अशक्तम्—निर्बल
मन्यते—मानता है
जनः—जन (संसार)।

## व्याख्या—

क्षमाशील पुरुषों में एक ही दोष होता है दूसरा कोई दोष नहीं होता। वह दोष है कि इस क्षमाशील व्यक्ति को साधारण जन निर्बल समझने लगते हैं।

**विशेष**—यह निर्देश क्षमाशील महाराज युधिष्ठिर की ओर है ॥५३॥

**सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम्।**
**क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥५४॥**

## पदार्थ—

सः—वह
अस्य—इस (क्षमाशील) का
दोषः—दोष
न—नहीं
मन्तव्यः—मानना चाहिये,
क्षमा—क्षमा
हि—ही (निश्चय से)
परमम्—महान्
बलम्—बल [है]।
क्षमा—क्षमा
गुणः—गुण
हि—निश्चय से
अशक्तानाम्—निर्बलों का
शक्तानाम्—बलवानों का
भूषणम्—भूषण [है]
क्षमा—क्षमा [करना]।

## व्याख्या—

क्षमा को दोष नहीं मानना चाहिये, निश्चय ही क्षमा परम बल है। मनुष्यों का क्षमा गुण है और बलवानों का क्षमा भूषण है ॥५४॥

**क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते।**
**शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ॥५५॥**

## पदार्थ—

क्षमा—क्षमा (गुण)
वशीकृतिः—वश में करने वाला [है]
लोके—लोक में,
क्षमया—क्षमा से
किम्—क्या
न—नहीं
साध्यते—सिद्ध किया जाता है।
शान्तिखड्गः—शान्ति रूपी तलवार
करे—हाथ में
यस्य—जिसके [है]
किम्—क्या
करिष्यति—करेगा (बिगाड़ेगा)
दुर्जनः—दुर्जन (नीच)

## व्याख्या—

क्षमारूपी गुण लोक में सबको वश में कर लेता है। क्षमा से क्या सिद्ध नहीं किया जा सकता ? क्षमा रूपी तलवार जिसके हाथ में है उसका दुर्जन क्या बिगाड़ेगा ।।५५।।

**अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।**
**अक्षमावान् परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ।।५६।।**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| अतृणे—तृण रहित स्थान में | अक्षमावान्—क्षमारहित |
| पतितः—गिरा हुआ | परम्—महान् |
| वह्निः—अग्नि | दोषै—दोषों से |
| स्वयम्—अपने आप | आत्मानम्—अपने आप को |
| एव—ही | च—और |
| उपशाम्यति—शान्त हो जाता है। | एव—ही |
| | योजयेत्—युक्त कर लेता है। |

## व्याख्या—

जैसे तृण रहित स्थान में पड़ा हुआ अग्नि अपने आप शान्त हो जाता है (क्योंकि उसे वहां जलाने को कुछ पदार्थ नहीं मिलता) इसी प्रकार क्षमा-वान् पुरुष के साथ वैर रखने वाले का वैर भी कुछ हानि नहीं पहुँचा सकता, परन्तु अक्षमावान् पुरुष अपनी असहनशीलता से अपने को ही महान् कष्टों से युक्त कर लेता है ।।५६।।

**एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा ।**
**विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ।।५७।।**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| एकः—एक | क्षमा—क्षमा |
| धर्मः—धर्म | एका—एक |
| परम्—उत्तम | शान्तिः—शान्ति [है] |
| श्रेयः—कल्याण [का देनेवाला है] | उत्तमा—श्रेष्ठ |

| | |
|---|---|
| विद्या—विद्या | अहिंसा—हिंसा का अभाव |
| एका—एक | एका—एक |
| परमा—उत्तम | सुखावहा—सुख प्राप्त कराने |
| तृप्तिः—तृप्ति [है], | वाला है । |

## व्याख्या—

एक धर्म ही है जो परम कल्याण का देने वाला है । क्षमा ही एक शान्तिदायिनी है । विद्या ही एक तृप्तिकारिणी है । अहिंसा ही एक सुख को प्राप्त कराने वाली है ।

क्षमावान् पुरुष सदा शान्त रहता है, उसका मन अशान्त नहीं होता । विद्यावान् पुरुष सदा तृप्त (सन्तुष्ट) रहता है, क्योंकि विद्या से बढ़कर कोई धन नहीं है । कहा भी है—**विद्या हि परमं धनम्** । इससे यह भी समझना चाहिये कि जो विद्यावान् होकर सन्तुष्ट नहीं रहते, समझो उन्होंने विद्या को वास्तविक रूप में प्राप्त नहीं किया, वे अधकचरे साक्षरमात्र हैं ॥५७॥

**द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।**
**राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥५८॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| द्वौ—दो का | राजानम्—राजा को |
| इमौ—इन को | च—और |
| ग्रसते—निगल लेती है | अविरोद्धारम्—न लड़ने वाले को |
| भूमिः—पृथिवी | ब्राह्मणम्—ब्राह्मण (संन्यासी) को |
| सर्पः—सर्प | च—और |
| बिलशयान्—बिल में रहने वाले (चूहे आदिकों) को | अप्रवासिनम्—प्रवास (यात्रा) न करने वाले को । |
| इव—जैसे | |

## व्याख्या—

जो राजा शत्रु का विरोध नहीं करता अर्थात् निर्बल है और जो ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी यात्रा=भ्रमण नहीं करता, उसको भूमि उसी प्रकार निगल लेती है (उनका यश उसी प्रकार नष्ट हो जाता है) जैसे चूहों को सर्प निगल लेता है, खा जाता है, नष्ट कर देता है ।

**विशेष**—जो राजा अपने शत्रु के साथ लोहा नहीं लेता, उससे युद्ध नहीं करता उसको शत्रु निगल जाते हैं उसे नष्ट कर देते हैं उसके राज्य पर अधिकार जमा लेते हैं। इसी प्रकार जो ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी भ्रमण नहीं करता एक ही स्थान पर जमा रहता है वह अपने कर्म से तो च्युत होता ही है साथ में एक स्थान पर रहने से राग मोह के वशीभूत होकर ब्राह्मणत्व से हीन हो जाता है। इन्हीं को श्लोक में मुहावरे के रूप में भूमि द्वारा निगलना कहा है।

सम्प्रति भारत के कांग्रेसी शासन में भी यही भारी न्यूनता है। वह शत्रु से युद्ध करने से कतराता है, उसका फल प्रत्यक्ष है। शत्रु उसकी भूमि को शनैः शनैः हड़पता जा रहा है, फिर भी कांग्रेसी शासन को बुद्धि नहीं आ रही ॥५८॥

> द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिँल्लोके विरोचते।
> अब्रुवन् परुषं किञ्चिदसतोऽनर्चयंस्तथा ॥५९॥

## पदार्थ—

द्वे—दो
कर्मणी—कर्मों को
नरः—मनुष्य
कुर्वन्—करता हुआ
अस्मिन्—इस
लोके—लोक में
विरोचते—प्रकाशित (प्रसिद्ध) होता है।
अब्रुवन्—न बोलता हुआ
परुषम्—कठोर [वचन]
किञ्चित्—कुछ भी
असतः—दुष्टों को
अनर्चयन्—न पूजता हुआ
तथा—और।

## व्याख्या—

मनुष्य दो कर्मों को करता हुआ ही प्रकाशित वा प्रसिद्ध होता है। एक किसी को भी कठोर वचन न बोलता हुआ और दूसरा असत्=दुष्ट जनों की पूजा न करता हुआ।

**विशेष**—यहां प्रकृत में प्रथम युधिष्ठिर की ओर संकेत है कि वह किसी को कठोर वचन नहीं बोलता, अतः वह यश को प्राप्त कर रहा है और तुम

असत् दुष्ट शकुनि आदि की पूजा करते हो, अतः अपयश के भागी हो रहे हो ।।५९।।

**द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र परप्रत्ययकारिणौ ।**
**स्त्रियः कामितकामिन्योलोकः पूजित पूजकः ।।६०।।**

### पदार्थ—

द्वौ—दो
इमौ—ये
पुरुषव्याघ्र—हे पुरुष श्रेष्ठ !
परप्रत्ययकारिणौ—दूसरे का विश्वास करने वाले होते हैं ।
स्त्रियः—स्त्रियां
कामितकामिन्यः—चाहने वाले पुरुषों की इच्छा करने वाली
लोकः—मनुष्य
पूजितपूजकः—पूजित की पूजा करने वाला ।

### व्याख्या—

हे पुरुषश्रेष्ठ ! दो व्यक्ति दूसरे का विश्वास करने वाले होते हैं । एक स्त्रियां जो अपने को चाहने वाले की कामना करती हैं, दूसरा वह जो दूसरों से पूजित व्यक्ति की पूजा करता है ।

**विशेष**—यहां धृतराष्ट्र की ओर संकेत किया गया है कि तुम अपने पुत्र [दुर्योधन से पूजित कर्ण की पूजा करते हो उसे महावीर समझते हो, परन्तु वह वैसा है नहीं ।।६०।।

**द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ ।**
**यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ।।६१।।**

### पदार्थ—

द्वौ—दो
इमौ—ये
कण्टकौ—कांटे [हैं]
तीक्ष्णौ—तीक्ष्ण (तेज)
शरीरपरिशोषिणौ—शरीर को सुखानेवाले
यः—जो
च—और
अधनः—धनरहित [होता हुआ]
कामयते—[बड़ी-बड़ी] इच्छाएं करता है
यः—जो
च—और
कुप्यति—क्रोध करता है
अनीश्वरः—असमर्थ [होकर]

## व्याख्या—

संसार में शरीर को सुखाने वाले दो तीक्ष्ण कांटे हैं। एक वह जो धनहीन होकर बड़ी-बड़ी इच्छाएं करता है, दूसरा जो असमर्थ होकर क्रोध करता है।

**विशेष**—यहां चतुर्थ चरण से दुर्योधन की ओर सकेत है। वह असमर्थ होकर भी पाण्डवों पर क्रोध करता है। धनरहित होकर बड़ी-बड़ी कामनाएं करना मूर्ख का लक्षण है, यह पूर्व **दरिद्रश्च महामनाः** (१।३५) में कहा है। ये दोनों कार्य शरीर का नाश करने वाले होते हैं ॥६१॥

**द्वाविमौ न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।**
**गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥६२॥**

## पदार्थ—

द्वौ—दो
इमौ—ये
न—नहीं
विराजेते—शोभित होते हैं (कार्यसमर्थ होते हैं)
विपरीतेन—उलटे
कर्मणा—कर्म से ।
गृहस्थः—गृहस्थ पुरुष
च—और
निरारम्भः—उदासीन, अनुद्यमी
कार्यवान्—[लोकसंग्रह के लिये] कार्य करनेवाला
च—और
भिक्षुकः—भिक्षुक (संन्यासी)

## व्याख्या—

दो प्रकार के पुरुष शोभा को प्राप्त नहीं होते, कार्य में सफल नहीं होते। एक गृहस्थ होते हुए उदासीन अथवा अनुद्यमी हो, दूसरा भिक्षुक संन्यासी होते हुए लोकसंग्रह के लिये कार्य करने वाला।

**विशेष**—इस श्लोक के तृतीय चरण में धृतराष्ट्र की ओर संकेत है कि तुम पुत्रों (कौरव-पाण्डवों) के कलह निवारण में उदासीन हो।

पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा का परित्याग करके भिक्षुक (संन्यासी) बनने का शास्त्रों में विधान किया है। अतः जो भिक्षुक बनकर भी लोकैषणा आदि के निमित्त कर्म करता है, वह निन्दित होता है ॥६२॥

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥६३॥

पदार्थ—

द्वौ—दो
इमौ—ये
पुरुषौ—पुरुष
राजन्—हे राजन् !
स्वर्गस्य—स्वर्ग के
उपरि—ऊपर
तिष्ठतः—ठहरते हैं
प्रभुः—समर्थ
च—और
क्षमया क्षमा से
युक्तः—युक्त,
दरिद्रः—निर्धन
च—और
प्रदानवान्—देने वाला ।

व्याख्या—

हे राजन् ! ये दो पुरुष स्वर्ग के ऊपर अर्थात् स्वर्ग में उच्च स्थान पर विराजमान होते हैं— एक समर्थ होते हुए भी क्षमा से युक्त हो, दूसरा निर्धन होता हुआ भी दानी हो ॥६३॥

**विशेष**—इस श्लोक में संकेत है कि पाण्डव समर्थ होकर भी क्षमा से युक्त हैं, अतः वे अवश्य सफल होंगे ।

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रेप्र तिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥६४॥

पदार्थ—

न्यायागतस्य—न्याय से प्राप्त
द्रव्यस्य—द्रव्य के
बोद्धव्यौ—जानने चाहियें
द्वौ—दो
अतिक्रमौ—उल्लङ्घन (अयुक्तता)
अपात्रे—अयोग्य में, अधर्म में
प्रतिपत्तिः—देना
च—और
पात्रे—योग्य में, धर्म में
च—और
अप्रतिपादनम्—न देना ।

व्याख्या—

न्याय से प्राप्त धन का दो प्रकार का दुरुपयोग होता है । एक अधर्म में अथवा अयोग्य को दान देना और दूसरा धर्म में अथवा योग्य को दान न देना ॥६४॥

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बध्वा दृढां शिलाम् ।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥६५॥

## पदार्थ—

द्वौ—दो
अम्भसि—जल में
निवेष्टव्यौ—डुबाने योग्य है
गले—गले में
बध्वा—बांधकर
दृढाम्—दृढ=भारी
शिलाम्—पत्थर को,
धनवन्तम्—धनवान् को
अदातारम्—दान न देने वाले कञ्जूस को,
दरिद्रम्—दरिद्र को
च—और
अतपस्विनम्—अतपस्वी (दुःख न सहने वाले को)।

## व्याख्या—

दो प्रकार के पुरुष गले में भारी शिला बांधकर जल में डुबा देने योग्य हैं। एक धनवान् होते हुए भी जो अदाशी (कञ्जूस) हो और दूसरा दरिद्र होते हुए भी अतपस्वी (कष्ट न सहनेवाला) हो।

**विशेष**—भारतीय वाङ्मय में दान का विशेष रूप से विधान मिलता है। दान ही मनुष्य जीवन का प्रमुख उन्नति सोपान है। वेद में कञ्जूस की न केवल निन्दा की है, अपितु उसका वध करके उसके धन का सदुपयोग करने का भी विधान है। द्र० **अपघ्नन्तो अराव्णः** (ऋ० ९।६३।५) ॥६५॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥६६॥

## पदार्थ—

द्वौ—दो
इमौ—ये
पुरुषव्याघ्र—हे पुरुषश्रेष्ठ !
सूर्यमण्डलभेदिनौ—सूर्यमण्डल को भेदने वाले [हैं]।
परिव्राड्—संन्यासी
योगयुक्तः—योग से युक्त
च—और
रणे—युद्ध में
च—और
अभिमुखः—सम्मुख
हतः—मारा गया।

## व्याख्या—

हे पुरुषश्रेष्ठ ! ये दो सूर्यमण्डल को भेदने वाले हैं अर्थात् स्थायी कीर्ति को प्राप्त करने वाले हैं—एक योग से युक्त परिव्राट् (संन्यासी) और दूसरा जो रण में सम्मुख मारा गया हो अर्थात् जो युद्ध से पराङ्मुख होकर न मारा गया हो ।

**विशेष**—धर्मशास्त्र में युद्ध के जो नियम दिये हैं, उनमें रण में सम्मुख उपस्थित व्यक्ति पर ही शस्त्र उठाने का विधान है और पलायित भागते हुए पर पीछे से आक्रमण की निन्दा की गई है ॥६६॥

**त्रयोपाया मनुष्याणां श्रूयन्ते भरतर्षभ ।**
**कनीयान् मध्यमः श्रेष्ठ इति वेदविदो विदुः ॥६७॥**

## पदार्थ—

त्रयः—तीन
उपायाः—उपाय
मनुष्याणाम्—मनुष्यों के
श्रूयन्ते—सुने जाते हैं
भरतर्षभ—हे भरत श्रेष्ठ !
कनीयान्—छोटा (अधम)
मध्यमः—मध्यम
श्रेष्ठः—उत्तम
इति—ऐसा
वेदविदः—वेद के जानने वाले
विदुः—जानते हैं ।

## व्याख्या—

हे भरतकुल श्रेष्ठ ! लोक में तीन प्रकार के उपाय सुने जाते हैं । वे अधम मध्यम और उत्तम हैं ऐसा वेदों के जाननेवाले जानते हैं (बताते हैं) ।

**विशेष**—युद्ध द्वारा किसी को वश में लाना अधम उपाय है, भेद दान से वश में करना मध्यम और साम से वश में करना उत्तम है ।

तुम्हारे पुत्र युद्धरूपी अधम उपाय का आश्रयण करना चाहते हैं और पाण्डव सामरूपी श्रेष्ठ उपाय का आश्रय ले रहे हैं, यह संकेत है ।

इस श्लोक में **त्रयः+उपायाः** यहाँ सन्धि आर्ष है । अथवा त्रि का समानार्थक **'त्रय'** स्वतन्त्र शब्द है, जिसका पाणिनि ने **त्रयाणाम्** में आदेश किया है उसके साथ **त्रयाश्च ते उपायाश्च त्रयोपायाः** ऐसा विग्रह समझना चाहिये ।

कई व्याख्याकार यहां **त्रयः अपायाः** सन्धि छेद करते हैं। उनके अनुसार अर्थ होगा अलगाव (पृथक् होना) तीन प्रकार का है—अधम मध्यम उत्तम। लोभ से पृथक्ता अधम, काम्य धर्म से पृथक्ता मध्यम और काम्ययोग से पृथक्ता उत्तम है।

यहां **त्रयो न्यायाः** पाठ भी उपलब्ध होता है। तीन न्याय हैं—अधम मध्यम और उत्तम ॥६७॥

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः।
नियोजयेद् यथावत् तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥६८॥

व्याख्या—

त्रिविधाः—तीन प्रकार के
पुरुषाः—पुरुष
राजन्—हे राजन्!
उत्तमाधममध्यमाः—उत्तम अधम और मध्यम [हैं]।
नियोजयेत्—लगावें
यथावत्—यथोचित रूप से
तान्—उनको
त्रिविधेषु—तीन प्रकार के
एव—ही
कर्मसु—कर्मों में।

व्याख्या—

हे राजन्! लोक में उत्तम मध्यम अधम तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं। उन्हें तीन प्रकार के उत्तम मध्यम अधम कार्यों में यथोचित रूप से लगाना चाहिये।

**विशेष**—इस श्लोक से 'तुम (धृतराष्ट्र) ने अधम कर्ण आदि को उत्तम मन्त्री आदि के कार्य पर लगाया है जो उचित नहीं' यह ध्वनित होता है ॥६८॥

त्रय एवाधना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥६९॥

## पदार्थ—

त्रयः—तीन
एव—ही
अधनाः—धन रहित [होते हैं]
राजन्—हे राजन् !
भार्या—स्त्री
दासः—दास
तथा—और
सुतः—पुत्र ।
यत्—जिस [धन] को
ते—वे
समधिगच्छन्ति—प्राप्त होते हैं ।
यस्य—जिसके
ते—वे [व्यक्ति होते हैं]
तस्य—उसका
तत्—वह
धनम्—धन [होता है] ।

## व्याख्या—

हे राजन् ! लोक में तीन ही धन रहित होते हैं—स्त्री दास और पुत्र । ये जिस धन को प्राप्त होते हैं वह धन भी उसी का होता है जिसके वे होते है ।

**विशेष**—इस श्लोक से ध्वनित होता है कि तुम्हारे (धृतराष्ट्र के) रहते हुए दुर्योधन आदि द्वारा जुए आदि में हरण किया गया पाण्डवों का राज्य भी तुम्हारा ही है । अतः यदि तुम चाहो तो पाण्डवों को लौटा सकते हो अर्थात् दुर्योधन आदि नहीं मानते, यह केवल बहाना मात्र है ।।६९।।

**हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम् ।**
**सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ।।७०।।**

## पदार्थ—

हरणम्—हरण करना (छीनलेना)
च—और
परस्वानाम्—दूसरे के धनों का,
परदाराभिमर्शनम्—पराई स्त्रियों को [बुरे विचार से] स्पर्श करना,
सुहृदः—मित्र का
च—और
परित्यागः—परित्याग करना (छोड़ना), [ये]
त्रयः—तीन
दोषाः—दोष
क्षयावहाः—क्षीण (नष्ट) करने वाले होते हैं ।

## व्याख्या—

हे राजन् ! दूसरे के धनों को निन्द्य उपायों से छीनना, पराई स्त्रियों का बुरी नियत से स्पर्श करना और मित्रों का परित्याग करना, ये तीन कार्य नष्ट करने वाले होते हैं ।

विशेष—यतः तुम्हारे पुत्र दुर्योधनादि ने युधिष्ठिरादि के राज्य का हरण, द्रौपदी को सभा के मध्य नङ्गी करने की चेष्टा और मित्ररूप युधिष्ठिर आदि का त्याग तुम्हारे रहते किया है, अतः ये दोष वस्तुतः तुम्हारे ही हैं । इन से तुम्हारा नाश होगा ।।७०।।

**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।**
**कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ।।७१।।**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| त्रिविधम्—तीन प्रकार का | क्रोधः—क्रोध |
| नरकस्य—नरक (दुःख) का | तथा—और |
| इदम्—यह | लोभः—लोभ, |
| द्वारम्—द्वार (मार्ग) | तस्मात्—इसलिये |
| नाशनम्—नाश करने वाला | एतत्—इन |
| आत्मनः—अपना । | त्रयम्—तीनों को |
| कामः—काम | त्यजेत्—छोड़ देवे । |

## व्याख्या—

काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक (दुःख) के द्वार (मार्ग) हैं और आत्मा का नाश करने वाले हैं, इसलिये इन तीनों को छोड़ देना चाहिये ।

विशेष—पूर्व श्लोक में निर्दिष्ट परधन का हरण, परस्त्री का स्पर्श और मित्रों का त्यागरूप बताये गये तीनों दोष क्रमशः इन्हीं लोभ, काम और क्रोध से उत्पन्न होते हैं ।।७१।।

**वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च भारत ।**
**शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात् त्रीणि चैकं च तत् समम् ।।७२।।**

## पदार्थ—

वरप्रदानम्—अभिलषित वस्तु का देना
राज्यम्—राज्य [का देना]
च—और
पुत्रजन्म—पुत्र का उत्पन्न होना
च—और
भारत—हे भरतकुल के [राजन्]!
शत्रोः—शत्रु का
च—और
मोक्षणम्—मुक्त करना
कृच्छ्रात्—दुःख से
त्रीणि—तीन
च—और
एकम्—एक
च—और
तत्—वह
समम्—बराबर [हैं]।

## व्याख्या—

हे भरत कुल के राजन्! किसी को इच्छित वस्तु का देना, राज्य प्रदान करना, पुत्र का उत्पन्न होना और शत्रु को दुःख से मुक्त करना, ये चारों कर्म बराबर हैं।

**विशेष**—शत्रु माने हुए युधिष्ठिर को गोत्रवध (स्वजनों के वधरूपी) दुःखदायी कर्म से बचाना तुम्हारा कर्तव्य है, यह इस श्लोक से ध्वनित होता है अथवा घोषयात्रा में गन्धर्वों द्वारा दुर्योधन आदि के बांधे जाने पर पाण्डवों द्वारा दुर्योधन आदि का मुक्त कराने की ओर संकेत है॥७२॥

**भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम्।**
**त्रीन् एतांश्छरणं प्राप्तान् विषमेऽपि न संत्यजेत्॥७३॥**

## पदार्थ—

भक्तम्—भक्त को
च—और
भजमानम्—सेवा करनेवाले को
च—और
तव—तुम्हारा
अस्मि—हूँ
इति—ऐसा
च—और
वादिनम्—कहने वाले को।
त्रीन्—तीन को
एतान्—इनको
शरणम्—शरण अथवा घर को
प्राप्तान्—प्राप्त हुओं को
विषमे—संकट में
अपि—भी
न—नहीं
संत्यजेत्—छोड़े।

## व्याख्या—

हे राजन् ! भक्त, सेवक और मैं तुम्हारा हूं ऐसा कहने वाले, इन तीन को शरण में अथवा घर पर आने पर संकट काल में भी न छोड़े अर्थात् इनकी सहायता अवश्य करें।

**विशेष**—पाण्डव तुम्हारे भक्त हैं, तुम्हारे में पूज्य बुद्धि रखते हैं, अतः इनको छोड़ना बुद्धिमत्ता नहीं है। भक्त आदि का परित्याग तो संकट काल में भी निन्दित माना गया है और तुम इस समय किसी संकट में भी नहीं हो ।।७२।।

**चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात् ।**
**अल्पज्ञैः सह मन्त्रं न कुर्यान्न दीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च ।।७४।।**

## पदार्थ—

चत्वारि—चार
राज्ञा—राजा से
तु—तो
महाबलेन—महाबलवाले से
वर्ज्यानि—छोड़ने योग्य
आहुः—कहे गये हैं
पण्डितः—बुद्धिमान्
तानि—उनको
विद्यात्—जाने,
अल्पज्ञैः—न्यून ज्ञान वालों के
सह—साथ
मन्त्रम्—विचार को
न—नहीं
कुर्यात्—करे,
न—नहीं
दीर्घसूत्रैः—विलम्ब करने वालों के साथ,
रभसैः—विचार शून्यों के साथ,
चारणैः—स्तुति करने वालों (चाटुकारों) के साथ
च—और।

## व्याख्या—

महाबलवान् राजा से भी चार कार्य छोड़ने योग्य कहे गये हैं, उनको बुद्धिमान् जाने—एक अल्पज्ञान वालों के साथ, दूसरा अल्पकालसाध्य कार्य को विलम्ब से करने वालों के साथ, तीसरा जिनमें विचार करने की शक्ति नहीं

है उनके साथ और चौथा स्तुति मात्र करने वाले अर्थात् चाटुकारों के साथ विचार न करे।

**विशेष**—इस श्लोक में **रभसैः** के स्थान में **अलसैः** पाठ भी है, तब अर्थ होगा—आलसी के साथ विचार न करे। इसी प्रकार **चारणैः** का पदच्छेद **च+अरणैः** भी होता है। इस पदच्छेद में अर्थ होगा—रण =युद्ध भीरु= डरपोकों के साथ विचार न करे।

भारतीय शासन में सम्प्रति ये सभी दोष विद्यमान हैं। इस शासन के प्रायः सभी सलाहकार अल्पज्ञ (अपने विषय को न जानने वाले), दीर्घसूत्री, विचार-शून्य, आलसी, चाटुकार और रणभीरु हैं। नीतिकार ने इन दोषों में से एक-एक दोष से युक्त को ही मन्त्री बनाने का निषेध किया है। यहां प्रायः सभी सभी दोषों से युक्त हैं, फिर भारत देश की दुर्गति दुर्भिक्ष-मरण-भय-शत्रु का आक्रमण क्यों न हो।

अन्य नीतिकार ने भी कहा है—

**अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां च व्यतिक्रमः।**
**त्रयस्तत्र प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्॥**

अर्थात् जहां अपूज्यों=अयोग्यों की पूजा=बड़े पद पर प्रतिष्ठापन होता है, वहां दुर्भिक्ष मरण और भय ये तीनों प्रवृत्त होते हैं॥७४॥

**चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे।**
**वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या॥७५॥**

## पदार्थ—

चत्वारि—चार
ते—तुम्हारे
तात—हे भ्रातः!
गृहे—घर में
वसन्तु—बसें (रहें)
श्रियाभिजुष्टस्य—श्री (लक्ष्मी) से सेवित के,
गृहस्थधर्मे—गृहस्थ के धर्म में।
वृद्धः—बड़ी आयु वाला,
ज्ञातिः—सम्बन्धी
अवसन्नः—दुःखी
कुलीनः—उत्तम कुलवाला
सखा—मित्र
दरिद्रः—धनहीन
भगिनी—बहिन
च—और
अनपत्या—पुत्ररहित

## व्याख्या—

हे ज्येष्ठ भ्रातः ! गृहस्थधर्म में वर्तमान, धनधान्य, से परिपूर्ण तुम्हारे घर में चार अवश्य रहें—एक अपना सम्बन्धी कोई वृद्ध पुरुष, दूसरा दुःखी कुलीन पुरुष, तीसरा दरिद्र सखा (मित्र) और चौथा पुत्र रहित बहिन।

**विशेष**—वृद्ध पुरुष कुल के आचार का उपदेश करता है, कुलीन बालकों को सदाचार ग्रहण कराता है, मित्र हित का कथन करता है और पुत्ररहित भगिनी धन धान्यादि की रक्षा करती है। तुम्हारे घर में ये चारों प्रकार के व्यक्ति तो विद्यमान हैं, परन्तु तुम उपदेश को ग्रहण नहीं करते यह भाव इस श्लोक में संकेतित है ॥७५॥

**चत्वार्याह महाराज साद्यस्कानि बृहस्पतिः।**
**पृच्छते त्रिदशेन्द्राय तानीमानि निबोध मे ॥७६॥**

## पदार्थ—

चत्वादि—चार को
आह—कहा है
महाराज—हे महाराज !
साद्यस्कानि—तत्काल फल देने वाले
बृहस्पति—बृहस्पति ने।
पृच्छते—पूछने वाले के लिये
त्रिदशेन्द्राय—देवों के स्वामी (इन्द्र) के लिये
तानि—उनको
इमानि—इनको
निबोध—जनो
मे—मेरे [द्वारा कहे हुओं को]।

## व्याख्या—

हे महाराज ! प्रश्न करने वाले देवों के स्वामी के लिये बृहस्पति ने जिन चार कर्मों को सद्यः फल देने वाला कहा है, उनको मेरे द्वारा कहे जाते हुओं को जानो।

**विशेष**—नीलकण्ठ टीकाकार ने **साद्यस्कानि** का अर्थ **सफलानि** (सफल) किया है, वह ठीक नहीं। **साद्यस्कानि** शब्द **सद्यः** से बना है अतः इसका अर्थ होगा सद्यः—तत्काल फल देने वाले। त्रिदश, शब्द देवों का वाचक है। **त्रयः दश च त्रिदश**। इसी कारण ज्योतिष के ग्रन्थों में विश्वेदेव शब्द

से १३ संख्या का निर्देश होता है। त्रिदश शब्द देवों का वाचक किस प्रकार है इसके लिये कोशकारों ने विविध कल्पनायें की हैं। वैदिक साहित्य में विश्वेदेव द्युस्थानीय हैं, उनसे मलमास को मिलाकर तेरह मासों के विभिन्न क्रिया-निमित्तक १३ आदित्य लिये जाते हैं। सामान्यतया आदित्य १२ गिने गये हैं परन्तु ऋग्वेद १।२५।८ के **'वेद मासो धृतवतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते'** मन्त्र में १२ मासों के साथ संयुक्त होने वाले १३वें मास का भी निर्देश मिलता है। अतः सामान्यतया जैसे १२ मासों के भेद से १२ आदित्य माने जाते हैं वैसे अधिक मास के होने पर १३ मासों के भेद से आदित्य के १३ भेद होते हैं। ये ही १३ विश्वेदेव हैं। इन्हीं के योग से त्रिदश शब्द देवों का वाचक बन गया है। **त्रिदशानाम् इन्द्रः=स्वामी त्रिदशेन्द्रः** अर्थात् इन्द्र। पुरुष पदवाच्य प्राणियों की देव मनुष्य और असुर ये तीन जातियां मानी गई हैं। उस देव जाति का स्वामी राजा इन्द्र कहाता था। बृहस्पति देवों का गुरु था। इन्द्र ने बृहस्पति से विविध विद्याओं का अध्ययन किया था। देखो संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ८०, ८१ द्वि० सं० ॥७६॥

## देवतानां च संकल्पमनुभावं च धीमताम्
## विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम् ॥७७॥

### पदार्थ—

देवतानाम्—देवों का
च—और
संकल्पम्—संकल्प (विचार),
अनुभावम्—निश्चय अथवा प्रभाव
च—और
धीमताम्—बुद्धिमानों का,
विनयम्—विनय (नम्रता)
कृतविद्यानाम्—विद्वानों का,
विनाशम्—विनाश
पापकर्मणाम्—बुरे कर्मों का।

### व्याख्या—

देवों का संकल्प (विचार-इच्छा), बुद्धिमानों का निश्चय अथवा प्रभाव, विद्वानों की नम्रता और पापकर्मों का विनाश=परित्याग ये चारों कर्म सद्यः (तत्काल) फल देने वाले होते हैं ॥७७॥

**चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि भयं प्रयच्छन्त्यथाकृतानि ।**
**मानाग्निहोत्रमुत मानमौनम् मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥७८॥**

## पदार्थ—

चत्वारि—चार
कर्माणि—कर्म
अभयंकराणि—अभय करने वाले
भयम्—भय को
प्रयच्छन्ति—देते हैं
अयथाकृतानि—अनुचित रूप से किये हुए ।
मानाग्निहोत्रम्—मान=परिमाण से किया गया अग्निहोत्र
उत—और
मानमौनम्—परिमाण से युक्त मौन
मानेन—परिमाण से
अधीतम्—अध्ययन (पढ़ना)
उत—और
मानयज्ञः—परिमाण से किया गया यज्ञ ।

## व्याख्या—

मान=परिमाण अर्थात् शास्त्रानुकूल किया गया अग्निहोत्र, परिमाण से युक्त=शास्त्रानुकूल मौन, परिमाण से युक्त=शास्त्रानुकूल किया गया अध्ययन और परिमाणयुक्त=शास्त्रानुकूल किया गया यज्ञ ये चार कर्म अभय देने वाले हैं, परन्तु ये ही अन्यथा किये हुए=शास्त्रविपरीत किये हुए भयप्रद हो जाते हैं ।

**विशेष**—मान शब्द से यहां परिमाण अर्थात् शास्त्रविधान अभिप्रेत है । यदि श्लेष से मान शब्द का अर्थ सम्मान भी ले लें तो इसका अभिप्राय होगा—शास्त्रानुकूल किये गये अग्निहोत्रादि अभय देने वाले होते हैं और वे ही यदि मान=सम्मान=दिखावे के लिये किये जायें तो अनर्थकारी हो जाते हैं ॥७८॥

**पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः ।**
**पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥७९॥**

## पदार्थ—

पञ्च—पांच
अग्नयः—अग्नियां
मनुष्येण—मनुष्य से
परिचर्याः—सेवन करने योग्य [हैं]
प्रयत्नतः—प्रयत्न से

पिता—पिता
माता—माता
अग्निः—अग्नि
आत्मा—आत्मा
च—और
गुरुः—गुरु
च—और
भरतर्षभ—हे भरत श्रेष्ठ !

### व्याख्या—

हे भरत श्रेष्ठ ! मनुष्य को चाहिये कि पिता, माता, गुरु, आत्मा और अग्नि इन पांच अग्नियों का प्रयत्नपूर्वक सेवन करे ।

**विशेष**—आत्मा शब्द से यहां अपना आत्मा तथा अतिथि आदि आत्मा का ग्रहण जानना चाहिये । अग्नि शब्द से परमात्मा और भौतिक अग्नि का ग्रहण है । परमात्मा की परिचर्या अष्टांग योग के द्वारा और भौतिक अग्नि का सेवन अग्निहोत्रादि के द्वारा अभीष्ट है । अग्नि शब्द से ईश्वर का भी ग्रहण होता है इसके लिये देखिये वेदान्त-शाङ्करभाष्य १।२।१८—**अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति** ।।७९।।

**पञ्चैव पूजयंल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम् ।**
**देवान् पितॄन् मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान् ।।८०।।**

### पदार्थ—

पञ्च—पांचों को
एव—ही
पूजयन्—पूजा करता हुआ
लोके—लोक में
यशः—कीर्ति
प्राप्नोति—प्राप्त करता है
केवलम्—केवल,
देवान्—देवों को
पितॄन्—पितरों को
मनुष्यान्—मनुष्यों को
च—और
भिक्षून्—भिक्षुओं (संन्यासियों) को
अतिथिपञ्चमान्-अतिथि पांचवां है जिनमें, उनको

### व्याख्या—

केवल पांच की पूजा करता हुआ ही मनुष्य कीर्ति को प्राप्त होता है । देव=विद्वान्, पितर=माता पिता आदि, मनुष्य—जो सम्बन्धी नहीं हैं, ऐसे

वृद्ध पुरुष, भिक्षु=संन्यासी और अतिथि=अकस्मात् गृह पर आये व्यक्ति ये पांच पूजा के योग्य हैं।

**विशेष**—माता-पिता गुरु अतिथि और पुरुष के लिये पत्नी, तथा पत्नी के लिये पति ये पांच विशेष रूप से पूजनीय हैं। इनकी पूजा ही **पञ्चायतन पूजा** कहाती है। देखो सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ११।

तुम्हारा पुत्र दुर्योधन आयु में ज्येष्ठ गुरु और पिता स्वरूप युधिष्ठिर की पूजा नहीं करता यह भाव इन दो (७९, ८०) श्लोकों में निहित है ॥८०॥

**पञ्च त्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि।**
**मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः ॥८१॥**

## पदार्थ—

पञ्च—पांच
त्वा—तुमको (तुम्हारा)
अनुगमिष्यन्ति—अनुगमन करेंगे
यत्र-यत्र—जहां-जहां
गमिष्यसि—[तुम] जाओगे,
मित्राणि—मित्र
अमित्राः—शत्रु
मध्यस्थाः—उदासीन
उपजीव्य-उपजीविनः—गुरु आदि तथा समीप में रहने वाले [भृत्यादि]।

## व्याख्या—

हे राजन्! तुम जहां भी जाओगे—पांच तुम्हारे साथ अवश्य रहेंगे। वे पांच हैं—मित्र, शत्रु, उदासीन, उपजीव्य=गुरु आदि वृद्ध पुरुष और उपजीवी=भृत्य आदि।

**विशेष**—भर्तृहरि ने कहा है—

**मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः।**
**उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः ॥**

अर्थात् वन में एकान्त स्थान में निर्लिप्त रहकर अपने योगाभ्यासादि कर्मों को करते हुए मुनि लोगों के भी मित्र उदासीन और शत्रु ये तीन पक्ष स्वभावतः उत्पन्न हो जाते हैं ॥८१॥

**पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम् ।**
**ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥८२॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| पञ्चेन्द्रियस्य—पांच हैं इन्द्रियां जिसकी | अस्य—इस [मनुष्य] की |
| मर्त्यस्य—मनुष्य की | स्रवति—स्रवित होती है [नष्ट होती है] |
| छिद्रम्—छिद्र [रूप] | प्रज्ञा—बुद्धि |
| चेत्—भी | दृतेः—चर्म के |
| एकम्—एक | पात्रात्—पात्र से |
| इन्द्रियम्—इन्द्रिय [हो] | इव—जैसे |
| ततः—उससे | उदकम्—जल । |

## व्याख्या—

पांच इन्द्रियों वाले मनुष्य की यदि एक इन्द्रिय भी छिद्ररूप है अर्थात् उसके वश में नहीं है तो उससे उसकी प्रज्ञा=बुद्धि नष्ट हो जाती है जैसे चर्म के पात्र से पानी टपक-टपक कर नष्ट हो जाता है ।

तुलना करो—विदुरनीति ४।४८ ॥

**विशेष**—भर्तृहरि ने बहुत ही सुन्दर कहा है—

**कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गा मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।**
**एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥**

अर्थात् हिरन हाथी पतङ्ग भौंरा और मछली ये पांच प्राणी क्रमशः कान त्वचा चक्षु नासिका और जिह्वा इन एक-एक इन्द्रियों के वशीभूत होकर अपने प्राणों को गंवाते हैं या बन्धन में पड़ते हैं, फिर वह प्रमादी मनुष्य किस प्रकार नाश को प्राप्त न होगा जो पांचों इन्द्रियों से पांचों विषयों का सेवन करता है ।

महात्मा विदुर ने उक्त श्लोक द्वारा मनुष्य को, विशेष कर राजा को, इन्द्रिय-जयी होना चाहिये, यह उपदेश किया है । महात्मा चाणक्य ने भी कहा है—**राज्यस्य मूलमिन्द्रियजयः** अर्थात् राज्य का मूल आधार इन्द्रिय-

जय है। उन्होंने अपने अर्थशास्त्र के **इन्द्रिय-जय** नामक प्रकरण (१।६) में अनेक अजितेन्द्रिय महाबलवान् राजाओं के नष्ट हो जाने का उल्लेख किया है। यथा—दाण्डक्य भोज नाम का राजा काम के वशीभूत होकर ब्राह्मण कन्या से बलात्कार करने के कारण बन्धु और राष्ट्र सहित नष्ट हो गया, इसी प्रकार विदेह कुल का कराल नाम का राजा भी। क्रोध से जनमेजय नाम का राजा ब्राह्मणों पर अत्याचार करके नष्ट हो गया, इसी प्रकार तालजंघ नाम का राजा भृगुकुलोत्पन्न ब्राह्मणों पर अत्याचार करने से नष्ट हो गया। लोभ से ऐल नाम का राजा चारों वर्णों पर बहुत कर लगाने के कारण नष्ट हो गया, इसी प्रकार सुवीर कुल का अजविन्दु राजा भी। अभिमान से रावण परदारा सीता को न लौटाने के कारण नष्ट हो गया और दुर्योधन भी पाण्डवों के राज्यांश को न लौटाने के कारण नष्ट हो गया। मद से प्राणियों का अपमान करने वाला डम्भोद्भव नाम का राजा और हैहय कुल का अर्जुन (कार्तवीर्य अर्जुन) नष्ट हो गया। अतिहर्ष से वातापि अगस्त्य की उपेक्षा करके और वृष्णिसङ्घ द्वैपायन व्यास की उपेक्षा करके नाश को प्राप्त हो गया। इनके विपरीत शत्रु-रूप काम क्रोध आदि षड्वर्ग का परित्याग करके जामदग्न्य परशुराम और अम्बरीष नाभाग ने चिरकाल तक राज्य का सेवन किया ॥८२॥

**षड् दोषा पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।**
**निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥८३॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| षड्—छ | निद्रा—[अति] नींद |
| दोषाः—दोष | तन्द्रा—अल्पनिन्द्रावस्था |
| पुरुषेण—पुरुष से | भयम्—भय |
| इह—इस संसार में | क्रोधः—क्रोध |
| हातव्याः—छोड़ने योग्य [हैं] | आलस्यम्—आलस्य |
| भूतिमिच्छता—कल्याण चाहने वाले से | दीर्घसूत्रता—शीघ्र करने योग्य कार्य में विलम्ब करना। |

### व्याख्या—

कल्याण अथवा उन्नति चाहने वाले मनुष्य को निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध आलस्य और प्रमाद ये छः दोष छोड़ देने चाहियें।

**विशेष**—क्रोध से यहां क्रोधमूलक द्वेष का ग्रहण करना चाहिए। तेरे पुत्र में पाण्डवों के प्रति द्वेष है, उससे वह नष्ट हो जाएगा यह संकेत किया है।

इस श्लोक में **तन्द्रा** के स्थान पर **तन्द्री** पाठ भी मिलता है ॥८३॥

**षडिमान् पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे।**
**अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥८४॥**

**अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम्।**
**ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥८५॥**

### पदार्थ—

षट्—छ को
इमान्—इनको
पुरुषः—मनुष्य
जह्यात्—छोड़ देवे,
भिन्नाम्—टूटी हुई
नावम्—नौका को
इव—जैसे [छोड़ दिया जाता है]
अर्णवे—समुद्र में
अप्रवक्तारम्—न पढ़ाने वाले
आचार्यम्—आचार्य को,
अनधीयानम्—न पढ़ने वाले (स्वाध्याय न करने वाले)
ऋत्विजम्—ऋत्विक् को,
अरक्षितारम्—रक्षा न करने वाले
राजानाम्—राजा को
भार्याम्—स्त्री को
च—और
अप्रियवादिनीम्—अप्रिय बोलने वाली को,
ग्रामकामम्—ग्राम की इच्छा करने वाले
च—और
गोपालम्—गोपाल (गौयें चराने वाले) को,
वनकामम्—वन की इच्छा करते वाले
च—और
नापितम्—नाई को।

### व्याख्या—

जैसे समुद्र में टूटी हुई नौका को [छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार आगे कहे गये] छ व्यक्तियों को छोड़ देवे—१. न पढ़ाने वाले गुरु को, २. न पढ़ने

वाले (स्वाध्याय न करने वाले) ऋत्विक् को, ३. रक्षा न करने वाले राजा को, ४. अप्रिय बोलने वाली पत्नी को, ५. ग्राम की इच्छा रखने वाले गोपाल (चरवाहे) को, और ६. वन की इच्छा करने वाले नाई को।

**विशेष**—पाण्डवों की रक्षा न करने वाले तुम राजा अन्यों के द्वारा भी त्याज्य हो जाओगे यह भाव यहां व्यक्त किया गया है ॥ ८५ ॥

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन ।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥८६॥

## पदार्थ—

षट्—छः
एव—ही
तु—और
गुणाः—गुण
पुंसा—मनुष्य से
न—नहीं
हातव्याः—छोड़ने योग्य [हैं]
कदाचन—कभी भी
सत्यम्—सत्य
दानम्—दान
अनालस्यम्—पुरुषार्थ (उद्योग)
अनसूया—असूया (चुगली) न करना
क्षमा—क्षमा
धृतिः—धैर्य ।

## व्याख्या—

मनुष्य के द्वारा सत्य, दान, अनालस्य (पुरुषार्थ), अनसूया (असूया न करना), क्षमा और धृति ये छः गुण कभी भी छोड़ने योग्य नहीं हैं ॥

**विशेष**—दुर्योधन के त्याग करने के लिए तुम्हारे में धृति (धैर्य) का अभाव है यह अभिप्राय संकेतित किया है ॥ ८६ ॥

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥८७॥

## पदार्थ—

अर्थागमः—धन की प्राप्ति
नित्यम्—सदा
अरोगिता—रोग का अभाव
च—और
प्रिया—प्रिय
च—और
भार्या—पत्नी
प्रियवादिनी—प्रिय (मधुर) बोलने वाली
च—और
वश्यः—वश में रहने वाला
च—और
पुत्रः—पुत्र
अर्थकरी—धन प्राप्त कराने वाली
च—और
विद्या—विद्या (शिक्षा)
षट्—छः
जीवलोकस्य—संसार के
सुखानि—सुख [हैं]
राजन्—हे राजन् !

## व्याख्या—

हे राजन् ! इस जीवलोक (संसार) के छः सुख हैं—१. धन की प्राप्ति, २. सदा स्वस्थ रहना, ३. प्रिय भार्या, ४. प्रिय बोलने वाली भार्या, ५. वश में रहने वाले पुत्र और ६. धन प्राप्त कराने वाली विद्या। अर्थात् इन ६ से संसार में सुख उपलब्ध होता है ॥ ८७ ॥

**षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति ।**
**न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ॥८८॥**

## पदार्थ—

षण्णाम्—छः के
आत्मनि—आत्मा या चित्त में
नित्यानां—नित्य [रहने वालों] के
ऐश्वर्यम्—ईश्वरता (स्वामित्व-वशित्व)
यः—जो
अधिगच्छति—प्राप्त कर लेता है।
न—नहीं
सः—वह
पापैः—पापों से,
कुतः—कहां से
अनर्थैः—अनर्थों (दुःखों) से
युज्यते—युक्त होता है
विजितेन्द्रियः—जितेन्द्रिय ।

## व्याख्या—

जो पुरुष आत्मा या मन में नित्य रहने वाले छः (काम, क्रोध, शोक, मोह, मद और अभिमान इन) को वश में कर लेता है ऐसा जितेन्द्रिय पुरुष पापों से युक्त नहीं होता (पाप कर्म नहीं करता) तो क्योंकर वह अनर्थों (दुखों) से युक्त होगा।

**विशेष**—यहाँ मूल श्लोक में काम, क्रोध आदि छः दुर्गुणों का साक्षात् उल्लेख नहीं है। टीकाकार नीलकण्ठ ने **'कामक्रोधौ शोकमोहौ मदमानौ च षट्पदी'** इस वचन को उद्धृत करके काम, क्रोध आदि निर्देश माना है।

इस श्लोक से संकेतित किया है कि हे राजन् धृतराष्ट्र ! तुम राज्य की कामना रखने के कारण पाप और अनर्थों (दुःखों) से युक्त हो ॥ ८८ ॥

**षडिमे षट्सु जीवन्ति सप्तमो नोपलभ्यते ।**
**चौराः प्रमत्ते जीवन्ति व्याधितेषु चिकित्सकाः ॥८९॥**

**प्रमदाः कामयानेषु यजमानेषु याजकाः ।**
**राजा विवदमानेषु नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः ॥९०॥**

## पदार्थ—

षट्—छः
इमे—ये
षट्सु—छः के आश्रय पर
जीवन्ति—जीवन बिताते हैं
सप्तमः—सातवां
न—नहीं
उपलभ्यते—प्राप्त होता है।
चौराः—चोर
प्रमत्ते—प्रमादी के आश्रय पर
जीवन्ति—जीवन धारण करते हैं
व्याधितेषु—रोगियों के आश्रय पर
चिकित्सकाः—रोगनिवारक, वैद्य आदि

प्रमदाः—स्त्रियां
कामयानेषु—कामना करने वालों पर
यजमानेषु—यज्ञ करने वालों के आश्रय पर
याजकाः—यज्ञ कराने वाले ऋत्विक्
राजा—राजा
विवदमानेषु—लड़ाई-बखेड़ा करने वालों के आश्रय पर
नित्यम्—सदा
मूर्खेषु—मूर्खों के आश्रय पर
पण्डिताः—पण्डित लोग

## व्याख्या—

छः प्रकार के पुरुष छः प्रकार के पुरुषों के आश्रय पर ही जीवनयापन करते हैं, सातवां ऐसा नहीं मिलता जो किसी अन्य के आश्रय पर जीवन बिताता हो। चोर लोग प्रमादी पुरुष के आश्रय पर ही जीते हैं, प्रमाद न करें तो चोरों को चोरी करने का अवसर न मिले। रोगियों के आश्रय पर वैद्य आदि जीते हैं, यदि लोग स्वस्थ रहें तो चिकित्सक का जीवनयापन कठिन हो जाये। स्त्रियां कामीपुरुषों के आश्रय पर जीती हैं, यदि पुरुष जितेन्द्रिय हो तो दुराचारिणी स्त्रियों की जीविका ही न रहे। यज्ञ करने वालों के आश्रय पर याजक ऋत्विक् लोग जीवन विताते हैं, यदि यज्ञक्रिया का लोप हो जावे तो ऋत्विक् भी न रहें। राजा प्रजा में लड़ाई-बखेड़ा होने पर ही जीवन धारण करता है, यदि मनुष्यों में सदा सौमनस्य हो, किसी प्रकार का विवाद ही पैदा न हो तो राजा की भी आवश्यकता न रहे और मूर्खों के आश्रय विद्वान् जीते हैं। यदि सभी पण्डित=बुद्धिमान् बन जायें तो विद्वान् की पूछ ही न हो।

**विशेष**—इस प्रकरण में **यजमानेषु याजकाः** का निर्देश करने से प्रतीत होता है कि भारत युद्ध के काल में ऋत्विक् कर्म को जो पुराकाल में श्रेष्ठतम कार्य माना गया था, हीनदृष्टि से देखा जाने लगा था। सम्भव है उस समय कुछ ऐसे ऋत्विक् उत्पन्न हो गये हों जो अयाज्य (जिनका यज्ञ न कराना चाहिए) व्यक्तियों को धन के लोभ से यज्ञ कराने लग गये हों। इसी प्रकार यहाँ चिकित्सकों की जो निन्दा की है वह भी लोभी चिकित्सकों की है, सात्विक भाव से परोपकारार्थ चिकित्सा करने वालों की नहीं है। महाभारत आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि आदिकाल में जब सब प्रजाएं अपने अपने धर्म के अनुकूल वर्तती थी उस समय कोई राजा न था, किन्तु जब प्रजाओं में लोभ की मात्रा बढ़ने लगी, लोग एक दूसरे का धन अपहरण करने लगे तब लोकव्यवस्था की रक्षा के लिए राजा की नियुक्ति की गई।

९०वें श्लोक में पठित **कामयानेषु** पद के लिए पूर्व अ० १ श्लोक ७ में पठित **चिन्तयानम्** पद विषयक निर्देश देखें। साधारणतया **कामयमानेषु** प्रयोग साधु माना जाता है ॥८९, ९०॥

**षडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्त्तमनवेक्षणात् ।**
**गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्या वृषलसंगतिः ॥९१॥**

## पदार्थ—

षट्—छः
इमानि—ये
विनश्यन्ति—नष्ट हो जाते हैं
मुहूर्त्तम्—अल्पकाल
अनवेक्षणात्—ध्यान न देने से
गावः—गौएं
सेवा—सेवा (भृत्यों पर आश्रित कार्य)
कृषिः—खेती
भार्या—स्त्री
विद्या—विद्या
वृषलसंगतिः—नीच पुरुषों का संग

## व्याख्या—

गौवें, भृत्यों पर आश्रित कार्य, खेती, स्त्री, विद्या और नीच पुरुष की संगति ये छः थोड़ी देर भी ध्यान न देने से नष्ट हो जाते हैं।

**विशेष**—भार्या का निर्देश यहां सामान्य रूप से किया है। पतिव्रता स्त्रियाँ चिरकाल तक पति से वियुक्त होने पर भी अपने पथ से विचलित नहीं होती। नीच पुरुष की संगति मित्रता तो होती ही अस्थायी है। विद्या की भी यदि पुनरावृत्ति न की तो वह भी नष्ट हो जाती है। ऐसी ही अवस्था गायों, सेवा और खेती के सम्बन्ध में जाननी चाहिए ॥ ६१ ॥

**षडेते ह्यवमन्यन्ते नित्यं पूर्वोपकारिणम् ।**
**आचार्यं शिक्षिताः शिष्याः कृतदाराश्च मातरम् ॥६२॥**

**नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम् ।**
**नावं निस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सितम् ॥६३॥**

## पदार्थ—

षट्—छः
एते—ये
हि—निश्चय से
अवमन्यन्ते—हीन दृष्टि से देखते हैं
नित्यम्—सदा
पूर्वोपकारिणम्—पूर्व उपकार करने वाले को।
आचार्यम्—आचार्यको
शिक्षिताः—पढ़े हुए
शिष्याः—शिष्य,
कृतदाराः—विवाहित [पुत्र]

च—और
मातरम्—माता को,
नारीम्—पत्नी को
विगतकामाः—जिनकी कामेच्छा नष्ट हो गई है,
तु—तो
कृतार्थाः—जिनकी प्रयोजन सिद्ध हो गया है
च—और
प्रयोजकम्—कार्य में लगाने वाले को,
नावम्—नौका को
निस्तीर्णकान्ताराः—वन (जल) से पार हुए।
आतुराः—रोग से पीड़ित [स्वस्थ होकर]
च—और
चिकित्सितम्—जिसने स्वस्थ किया है उसको।

## व्याख्या—

छः प्रकार के व्यक्ति प्रायः करके पूर्व उपकार करने वालों को सदा ही हीन दृष्टि से देखते हैं। आचार्य को पढ़े हुए शिष्य, माता को विवाहित पुत्र, पत्नी को जिसकी कामेच्छा नष्ट हो गई है वे पुरुष, कार्य में लगाने वाले को जिनका प्रयोजन सिद्ध हो गया है वे, नौका को वन (जल) से पार हुए लोग और चिकित्सा (स्वस्थ) करने वाले को आतुर (रोग से पीड़ित) स्वस्थ होकर।

**विशेष**—कान्तार शब्द वन अर्थ में प्रसिद्ध है, परन्तु यहाँ नौका का वर्णन होने से कान्तार का अर्थ जलयुक्त नदी आदि ही समझना चाहिए। वन शब्द वैदिक भाषा में जल का वाचक भी है। कान्तार का पूर्व 'क' भी जल नामों में पढ़ा गया है। अथवा यहां कान्तार का वन अर्थ करने पर नौका पद की लक्षणा रथ आदि सवारी में करनी चाहिए ॥६२, ६३॥

**आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोगः ।**
**स्वप्रत्ययावृत्तिरभीतवासः षड्जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥६४॥**

## पदार्थ—

आरोग्यम्—नीरोगता (स्वस्थता)
आनृण्यम्—ऋण (कर्ज) का अभाव,
अविप्रवासः—दूर देश में न जाना (घर पर ही रहना)
सद्भिः—उत्तम

मनुष्यैः—मनुष्यो से
सह—साथ
संप्रयोगः—मिलना (मित्रता होनी)
स्वप्रत्यया—अपने अनुकूल (स्वाश्रित)
वृत्तिः—जीविका,
अभीतवासः—निडर होकर रहना
षट्—छः
जीवलोकस्य—संसार के
सुखानि—सुख [हैं]
राजन्—हे राजन् !

## व्याख्या—

हे राजन् स्वस्थता (रोग से रहित होना), ऋण का न होना, दूर देश में प्रवास न करना, सत्पुरुषों के साथ संगति अपने अनुकूल अथवा स्वाश्रित जीविका और निडर रहना ये छः संसार के सुख हैं।

**विशेष—**

**स्वप्रत्यया वृत्तिः**—का अर्थ टीकाकार ने स्वानुकूला वृत्ति किया है परन्तु हमारा विचार है कि यहाँ स्वप्रत्यया से स्वाधीना वृत्ति का अभिप्राय है। जिसकी जीविका दूसरे पुरुष के अधीन होती है उसे जीविका के छूटने की सदा शङ्का बनी रहती है और उससे वह दुःखी भी रहता है।

इस श्लोक में संकेत किया है कि हे राजन् धृतराष्ट्र, तुम्हारा सत्यपुरुषों के साथ संग नहीं है इसी कारण तुम दुःखी हो। ६४॥

**ईर्ष्यी घृणी नसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः।**
**परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः ॥६५॥**

## पदार्थ—

ईर्ष्यी—ईर्ष्या करने वाला
घृणी—घृणा करने वाला
न+सन्तुष्टः—असन्तुष्ट
क्रोधनः—क्रोधी
नित्यशङ्कितः—सदा शंका करने वाला
परभाग्योपजीवी—दूसरे के आश्रय पर रहने वाला
च—और
षट्—छः
एते—ये
नित्यदुःखिताः—नित्य दुःखी [रहते हैं]।

### व्याख्या—

ईर्ष्या करने वाला, दूसरों से घृणा करने वाला, असन्तुष्ट, क्रोधी, शंका-शील और पराश्रित ये छः सदा दुःखी रहते हैं।

**विशेष**—सामान्यतया **नसन्तुष्टः** दो पद प्रतीत होते हैं परन्तु यहां पर नग नक्र आदि पदों के समान समास मानकर नकार लोप का प्रतिषेध समझना चाहिए ॥९५॥

**सप्त दोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः ।**
**प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूला अपीश्वराः ॥९६॥**
**स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पञ्चमम् ।**
**महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥९७॥**

### पदार्थ—

सप्त—सात
दोषाः—दोष
सदा—नित्य
राज्ञा—राजा से
हातव्याः—छोड़ने योग्य
व्यसनोदयाः—दुःखों के उत्पन्न करने वाले।
प्रायशः—अधिकतर
यैः—जिन से
विनश्यन्ति—नष्ट होते हैं
कृतमूलाः—दृढ़ मूल वाले (महाबलवान्)
अपि—भी
ईश्वराः—राजा लोग।
स्त्रियः—स्त्रियों में आसक्ति
अक्षाः—जुवा खेलना
मृगया—शिकार खेलना
पानम्—मदिरा पान
वाक्पारुष्यम्—कठोर भाषण
च—और
पञ्चमम्—पांचवां
महत्—बड़ा
च—और
दण्डपारुष्यम्—कठोर दण्ड
अर्थदूषणम्—धन का दुरुपयोग
एव—ही
च—और

### व्याख्या—

राजा को दुःखोत्पादक सात दोष सदा छोड़ देने चाहियें। इन दोषों से सुदृढ़ (बलवान्) राजा भी प्रायः करके नष्ट हो जाते हैं। वे सात दोष हैं—स्त्रियों में आसक्ति, जुवा खेलना, शिकार खेलना, मद्यपान करना, कठोर भाषण करना, बड़ा कठोर दण्ड देना और धन का दुरुपयोग ॥९६,९७॥

अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः ।
ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते ॥९८॥
ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति ।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति ॥९९॥
नैनान् स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति ।
एतान् दोषान्नरः प्राज्ञो बुध्येद् बुद्ध्वा विवर्जयेत् ॥१००॥

## पदार्थ—

अष्टौ—आठ
पूर्वनिमित्तानि—पूर्व ज्ञापक
नरस्य—मनुष्य के
विनशिष्यतः—विनाश को प्राप्त होने वाले के।
ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को
प्रथमम्—पहला
द्वेष्टि—द्वेष करता है
ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों के साथ
च—और
विरुध्यते—विरोध करता है
ब्राह्मणस्वानि—ब्राह्मण के धनों को
च—और
आदत्ते—ग्रहण करता है (छीनता है)
ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को
च—और
जिघांसति—मरना चाहता है,
रमते—प्रसन्न होता है
निन्दया—निन्दा से
च—और
एषाम्—इनकी,
प्रशंसाम्—प्रशंसा को
न—नहीं
अभिनन्दति—अभिनन्दन करता है
न—नहीं
एनान्—इनको
स्मरति—स्मरण करता है
कृत्येषु—कार्यों में,
याचितः—मांगा हुआ
च—और
अभ्यसूयति—असूया करता है (हीनता से देखता है)।
एतान्—इन
दोषान्—दोषों को
नरः—मनुष्य
प्राज्ञः—बुद्धिमान्
बुध्येत्—जाने (समझे)
बुद्ध्वा—जानकर
विवर्जयेत्—छोड़ देवे।

## व्याख्या—

विनाश को प्राप्त होनेवाले मनुष्य के आठ पूर्व चिह्न होते हैं। पहला—वह ब्राह्मणों से [मन से] द्वेष करता है, दूसरा—ब्राह्मणों से [कर्म द्वारा] विरोध करता है, तीसरा—ब्राह्मणों के धनों को छीनता है, चौथा—ब्रह्मणों को मारने (नष्ट करने) की इच्छा करता है, पांचवाँ—इन [ब्राह्मणों] की निन्दा से प्रसन्न होता है, छठा—[ब्राह्मणों की] प्रशंसा को नहीं चाहता (प्रशंसा से प्रसन्न नहीं होता), सातवाँ—इन [ब्राह्मणों] को उचित अवसरों पर स्मरण नहीं करता और आठवाँ—याचना करने (माँगने) पर असूया करता (हीनता से देखता) है। बुद्धिमान् मनुष्यों को चाहिए कि इन दोषों को समझे और समझ कर इनको छोड़ देवे॥ ९८,९९,१००॥

अष्टाविमानि हर्षस्य नवनीतानि भारत।
वर्तमानानि दृश्यन्ते तान्येव स्वसुखान्यपि॥१०१॥

समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनागमः।
पुत्रेण च परिष्वङ्गः सन्निपातश्च मैथुने॥१०२॥

समये च प्रियालापः स्वयूथ्येषु समुन्नतिः।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनसंसदि॥१०३॥

## पदार्थ—

अष्टौ—आठ
इमानि—ये
हर्षस्य—हर्ष के
नवनीतानि—सार
भारत—हे भरतकुल के,
वर्तमानानि—वर्तमान
दृश्यन्ते—देखे जाते हैं
तानि—वे
एव—ही
स्वसुखानि—अपने सुख
अपि—भी
समागमः—मिलना
च—और
सखिभिः—मित्रों से,
महान्—बड़े (अधिक)
च—और
एव—ही
धनागमः—धन की प्राप्ति
पुत्रेण—पुत्र से
च—और

परिष्वङ्गः—लिपट कर मिलना
सन्निपातः—साथ रति से निवृत्त होना
च—और
मैथुने—मैथुन में
समये—समय पर
च—और
प्रियालापः—प्रिय बात-चीत करना,
स्वयूथ्येषु—अपने समुदाय में
समुन्नतिः—बड़ी उन्नति
अभिप्रेतस्य—चाही हुई [वस्तु] की
लाभः—प्राप्ति
च—और
पूजा—आदर
च—और
जनसंसदि—जन सभा (लोक) में

## व्याख्या—

हे भरत कुल के राजन् ! ये आठ हर्ष के नवनीत (मक्खन) के समान सार रूप ही हैं १—मित्रों से मिलना, २—महान् धन की प्राप्ति, ३—पुत्र से लिपट कर मिलना, ४—मैथुन में दोनों की साथ-साथ निवृत्ति, ५—समय पर प्रिय आलाप (बात-चीत) अथवा प्रिया के साथ आलाप, ६—स्वसमुदाय में उन्नति, ७—इच्छित वस्तु की प्राप्ति और ८—जनता (लोक) में पूजा ।। १०१-१०३ ।।

**अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।**
**पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ।।१०४।।**

## पदार्थ—

अष्टौ—आठ
गुणाः—गुण
पुरुषम्—पुरुष को
दीपयन्ति—प्रकाशित (प्रसिद्ध) करते हैं ।
प्रज्ञा—बुद्धि
च—और
कौल्यम्—कुलीनता
च—और
दमः—इन्द्रियजय
श्रुतम्—अध्ययन
च—और
पराक्रमः—पराक्रम
च—और
अबहुभाषिता—अधिक न बोलना
च—और
दानम्—दान
यथाशक्ति—शक्त्यनुसार
कृतज्ञता—कृतज्ञ होना (दूसरों के द्वारा किये गये उपकार को स्मरण रखना)
च—और ।

## व्याख्या—

आठ गुण पुरुष को प्रकाशित (प्रसिद्ध) करते हैं— प्रज्ञा (बुद्धि), कुलीनता, दम (इन्द्रियजय-जितेन्द्रियत्व), श्रुत (अध्ययन-विद्या) पराक्रम, मितभाषी होना, यथाशक्ति दान देना और कृतज्ञ होना (दूसरों के द्वारा किये गये उपकार को स्मरण रखना)।

**विशेष**—कुलीन पुरुष वह कहाता है जो स्वामी आदि के द्वारा अपमानित होने पर भी विरोधी नहीं बनता ॥१०४॥

**नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम् ।**
**क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः ॥१०५॥**

## पदार्थ—

नवद्वारम्—नौ द्वार वाले को
इदम्—इसको
वेश्म—गृह को
त्रिस्थूणम्—तीन स्थूणा (आधार) वाले को
पञ्चसाक्षिकम्—पांच साक्षियों वाले को
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितम्—क्षेत्रज्ञ (आत्मा) से अधिष्ठित (धारण किये हुए) को
विद्वान्—ज्ञानी
यः—जो
वेद—जानता है
सः—वह
परः—श्रेष्ठ
कविः—ज्ञानी [है]।

## व्याख्या—

जो विद्वान् नवद्वार (दो आंख, दो नाक, दो कान, एक मुख, एक उपस्थेन्द्रिय, एक गुदा इन नवद्वारों छिद्रों) वाले, तीन स्थूणा (वात पित्त, कफ आधार) वाले, पाँच साक्षियों (५ इन्द्रियां जिनसे सांसारिक विषयों का ग्रहण होता है) वाले क्षेत्रज्ञ जीवात्मा से अधिष्ठित धारण किए गए शरीररूपी गृह को अच्छे प्रकार जानता है वह श्रेष्ठ ज्ञानी अर्थात् ब्रह्मवित् है।

**विशेष**—शरीर को **नवद्वार** वाला अथर्व० १०।२।३१; श्वेता० उप० ३।१८; गीता ५।१३ में भी कहा है। कठोपनिषद् २।२।१ में इसे **एकादशद्वार** वाला कहा है। ११ द्वार पक्ष में वागिन्द्रिय को पृथक् गिना जाता है,

और ११वां मस्तिष्क में ब्रह्मरन्ध्र है। श्री शंकराचार्य ने १०वां द्वार नाभि माना है। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने ५ इन्द्रियां और ४ मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये ९ द्वार माने हैं। नीलकण्ठ की व्याख्या अन्य सभी व्याख्याकारों से भिन्न होने से अप्रमाण है, ऐसा हमारा विचार है। त्रिस्थूणा की व्याख्या में नीलकण्ठ ने अविद्या, काम और कर्म को स्थूणा कहा है। इसी प्रकार पांच साक्षियों में पाँच विषयों का ग्रहण किया है। **पञ्चसाक्षिकम्** के स्थान पर **पांचभौतिकम्** पाठ भी मिलता है यह अधिक स्पष्टार्थक है। टीकाकार ने इस पाठ को अर्वाचीन कहा है।

शरीर को यथातथ रूप में जानने वाले को अथर्व० १०।२।३२ में **ब्रह्मवित्** और मुण्डक उप० २।२।९ **आत्मवित्** कहा है ॥१०५॥

**दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान् ।**
**मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥१०६॥**
**त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश ।**
**तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ॥१०७॥**

## पदार्थ—

दश—दश
धर्मम्—धर्म को
न—नहीं
जानन्ति—जानते हैं
धृतराष्ट्र—हे धृतराष्ट्र !
निबोध—जानो
तान्—उनको
मत्तः—मद्यपान किया हुआ
प्रमत्तः—विषयासक्त मन-वाला
उन्मत्तः—उन्माद आदि रोग से युक्त
श्रान्तः—थका हुआ
क्रुद्धः—क्रोध से युक्त
बुभुक्षितः—भूखा
त्वरमाणः—शीघ्रता करता हुआ
च—और
लुब्धः—लोभी
च—और
भीतः—डरा हुआ
कामी—कामी
च—और
ते—वे
दश—दस
तस्मात्—इसलिए
एतेषु—इनमें
सर्वेषु—सबमें
न—नहीं
प्रसज्जेत—संबद्ध होवे
पण्डितः—पण्डित, ज्ञानी।

### व्याख्या—

हे धृतराष्ट्र ! दश प्रकार के लोग धर्म को नहीं जानते उन्हें तुम जानो। वे ये हैं—मद्यपान से मत्त, विषयासक्त मन वाला होने से प्रमत्त, उन्माद आदि रोग से युक्त उन्मत्त, थका हुआ, क्रोध से युक्त, भूखा, शीघ्रता करने वाला, लोभी, डरा हुआ और दसवां कामी। इसलिए पण्डित को चाहिए कि इनसे सम्पर्क न रखे।

**विशेष**—त्वरमाण और क्षिप्रकारी में अन्तर है। क्षिप्रकारी वह होता है जो किसी कार्य को ठीक ढंग से अल्प समय में कर लेता है और त्वरमाण कहते हैं जल्दबाज को जो कार्य के सम्बन्ध में पूर्वापर का पूर्ण विचार किये विना ही कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। इसलिए क्षिप्रकारित्व गुण माना जाता है और त्वरमाणत्व दोष ॥१०६, १०७॥

**अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।**
**पुत्रार्थमसुरेन्द्रेण गीतं चैव सुधन्वना ॥१०८॥**

### पदार्थ—

अत्र—यहां
एव—ही
उदाहरन्ति—कहते हैं
इमम्—इस
इतिहासम्—इतिहास को
पुरातनम्—पुराने को।
पुत्रार्थम्—पुत्र के लिए
असुरेन्द्रेण—असुरों के स्वामी ने
गीतम्—गाया=कहा
च—और
एव—ही
सुधन्वना—सुधन्वा ने।

### व्याख्या—

पूर्व प्रकरण में कहे गये विषयों के सम्बन्ध में पुराना इतिहास कहते हैं जिसे असुरों के स्वामी ने अपने पुत्र के लिये कहा था और सुधन्वा ने भी जिसका कथन किया था ॥१०८॥

**यः काममन्यू प्रजहाति राजा पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च।**
**विशेषविच्छ्रुतवान् क्षिप्रकारी तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् ॥१०९॥**

## पदार्थ—

यः—जो
काममन्यू—काम और क्रोध को
प्रजहाति—छोड़ देता है
राजा—राजा,
पात्रे—योग्य व्यक्ति में
प्रतिष्ठापयते—स्थापित करता है
धनम्—धन को,
च—और
विशेषवित्—तारतम्य (ऊंच नीच) को जानने वाला
श्रुतवान्—विद्वान्
क्षिप्रकारी—शीघ्रकार्य करने वाला
तम्—उसको
सर्वलोकः—सब लोग
कुरुते—करते हैं
प्रणामम्—प्रणाम को।

## व्याख्या—

जो राजा काम और क्रोध का परित्याग कर देता है, योग्य व्यक्ति को धनादि पदार्थ देता है, कार्य के ऊंच नीच (गौरव लाघव-तारतम्य) को जानता है, विद्वान् है, और कार्य को शीघ्र पूरा करने वाला है उसे सब लोग नमस्कार करते हैं।

**विशेष**—मन्यु शब्द साधारणतया क्रोध अर्थ में प्रयुक्त होता है, यहां भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मूलतः मन्यु और क्रोध में अन्तर है। जिसमें मनुष्य आवेग से आपे से बाहर नहीं हो जाता अर्थात् हानि लाभ का विचार करके आवेश को प्रकट करने या पी जाने में समर्थ रहता है वह मन्यु कहाता है। अतः मन्यु की गणना गुणों में होती है। इसलिये **मन्युरसि मन्युं मयि धेहि** (यजु०) मन्त्र में मन्यु की प्रार्थना की गई है। जिसमें आवेग से मनुष्य आपे से बाहर हो जाता है, सुध-बुध खो बैठता है, हानि लाभ के विचार करने की मति नष्ट हो जाती है वह क्रोध कहाता है और उसकी गणना दोषों में की जाती है ॥१०९॥

जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्
विज्ञातदोषेषु दधाति दण्डम्।
जानाति मात्रां च तथा क्षमां च
तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा ॥११०॥

## पदार्थ—

जानाति—जानता है
विश्वासयितुम्—विश्वास दिलाना
मनुष्यान्—मनुष्यों को
विज्ञातदोषेषु—जिनका दोष जान लिया है उन पर
दधाति—धारण करता है
दण्डम्—दण्ड को;
जानाति—जानता है
मात्राम्—[अपराधानुसार दण्ड की] मात्रा को
च—और
तथा—भी
क्षमाम्—क्षमा को,
च—और
तम्—उसको
तादृशम्—उस प्रकार के [व्यक्ति] को
श्रीः—लक्ष्मी
जुषते—सेवन करती है (प्राप्त होती है)
समग्रा—सम्पूर्ण ।

## व्याख्या—

जो व्यक्ति अपने मनुष्यों को विश्वास दिलाना जानता है, जिनका दोष जान लिया है उनको दण्ड देता है, अपराध के अनुसार दण्ड की मात्रा (परिमाण) को जानता है और क्षमा करना भी जानता है उसको सम्पूर्ण लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥११०॥

सुदुर्बलं नावजानाति कंचिद्
युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम् ।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः
काले च यो विक्रमते स धीरः ॥१११॥

## पदार्थ—

सुदुर्बलम्—अति दुर्बल को
न—नहीं
अवजानाति—उपेक्षा करता है
कंचित्—किसी को
युक्तः—प्रमाद रहित होकर
रिपुम्—शत्रु को
सेवते—सेवन करता है
बुद्धिपूर्वक—ज्ञानपूर्वक ।
न—नहीं
विग्रहम्—लड़ाई झगड़े को
रोचयते—चाहता है
बलस्थैः—बलवानों से,
काले—समय प्राप्त होने पर
च—और
यः—जो
विक्रमते—पराक्रम दिखाता है
सः—वह
धीरः—धीर [कहाता है] ।

## व्याख्या—

जो मनुष्य अति दुर्बल शत्रु को छोटा नहीं जानता अर्थात् उपेक्षा नहीं करता, [समय पड़ने पर] किसी शत्रु का प्रमाद रहित होकर सेवन करता हैं अर्थात् उसका आश्रय लेता है, जो बलवान् से लड़ाई बखेड़ा नहीं चाहता (नहीं करता) और जो समय पड़ने पर पराक्रम दिखाता है वही धीर कहाता है ॥१११॥

**प्राप्यापदं न व्यथते कदाचिद् उद्योगमन्विच्छति चाप्रमत्तः ।**
**दुःखं च काले सहते महात्मा धुरन्धरस्तस्य जिताः सपत्नाः ॥११२॥**

## पदार्थ—

प्राप्य—प्राप्त होकर
आपदं—विपत्ति को
न—नहीं
व्यथते—दुखी होता है
कदाचित्—कभी भी
उद्योगम्—पुरुषार्थ को
अन्विच्छति—करना चाहता है
च—और
अप्रमत्तः—प्रमाद रहित होकर
दुःखम्—दुःख को
च—और
काले—समय पड़ने पर
सहते—सहन करता है [वही]
महात्मा—श्रेष्ठ पुरुष
धुरन्धरः—कार्य भार सहने में समर्थ [होता है],
तस्य—उसके
जिताः—जीते हुए [होते हैं]
सपत्नाः—शत्रु ।

## व्याख्या—

जो मनुष्य विपत्ति को प्राप्त होकर भी दुःखी नहीं होता, जो प्रमाद रहित होकर सदा उद्योग करता है, और समय पड़ने पर दुःखों को सहन करता है और वही श्रेष्ठ पुरुष कार्य करने में समर्थ होता है उसके शत्रु जीते हुये होते हैं अर्थात् वह अपने शत्रुओं को जीतने में समर्थ होता है ॥११२॥

**अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः पापैः सन्धिं परदाराभिमर्शम् ।**
**दम्भं स्तैन्यं पैशुन्यं मद्यपानं न सेवते यश्च सुखी सदैव ॥११३॥**

## पदार्थ—

अनर्थकम्—विना प्रयोजन वाला
विप्रवासम्—दूर का प्रवास (दूर जाना)
गृहेभ्यः—घरों से,
पापैः—पापी पुरुषों से
सन्धिम्—सन्धि (सम्बन्ध)
परदाराभिमर्शम्—पराई स्त्रियों के स्पर्श को
दम्भम्—दम्भ को
स्तैन्यम्—चोरी को
पैशुन्यम्—पिशुनता (छिद्रान्वेषण) को
मद्यपानम्—शराब पीने को
न—नहीं
सेवते—सेवन करता है,
यः—जो
च—और
सुखी—सुखयुक्त
सद—सर्वदा
एव—ही।

## व्याख्या—

जो पुरुष विना प्रयोजन घर से दूर नहीं जाता, पापियों के साथ सम्बन्ध नहीं रखता, पराई स्त्री का सेवन नहीं करता, दम्भ, चोरी, पिशुनता (दूसरों के छिद्रान्वेषण), मद्यपान नहीं करता वह सदा सुखी रहता है ॥११३॥

**न संरम्भेणारभते त्रिवर्गमाकारितः शंसति तत्त्वमेव ।**
**न मित्रार्थे रोचयते विवादं नापूजितः कुप्यति चाप्यमूढः ॥११४॥**

## पदार्थ—

न—नहीं
संरम्भेण—क्रोध से
आरभते—आरम्भ करता है
त्रिवर्गम्—त्रिवर्ग (धर्म अर्थ काम) को,
आकारितः—पूछा गया
शंसति—कहता है
तत्त्वम्—सत्य को
एव—ही,
न—नहीं
मित्रार्थे—मित्र की सम्पत्ति के विषय में
रोचयते—चाहता है
विवादम्—झगड़े बखेड़े को
न—नहीं
अपूजितः—पूजा न किया गया (निन्दा किया गया)
कुप्यति—क्रोध करता है
च—और
अपि—भी
अमूढः—[वही] बुद्धिमान् [कहाता है]

## व्याख्या—

जो पुरुष क्रोध के वशीभूत होकर धर्म अर्थ और काम विषयक कार्यों को आरम्भ नहीं करता, पूछे जाने पर सत्य ही कहता है, मित्र की सम्पत्ति के विषय में झगड़ा बखेड़ा नहीं करता और निन्दा किये जाने पर क्रोध नहीं करता वही बुद्धिमान् कहाता है।

**विशेष**—इस श्लोक में **मित्रार्थे** के स्थान में **मात्रार्थे** पाठान्तर है। इसका अर्थ होगा—अल्प लाभ के लिये जो विवाद नहीं करता। यह पाठ अधिक अच्छा है ॥११४॥

**न योऽभ्यसूयत्यनुकम्पते च न दुर्बलः प्रातिभाव्यं करोति।**
**नात्याह किञ्चित् क्षमते विवादं सर्वत्र तादृग्लभते प्रशंसाम् ॥११५॥**

## पदार्थ—

न—नहीं
यः—जो
अभ्यसूयति—निन्दा करता है,
अनुकम्पते—दया करता है
च—और
न—नहीं
दुर्बलः—दुर्बल (कमजोर) [जानकर]
प्रातिभाव्यम्—विरोध को
करोति—करता है
न—नहीं
अत्याह—अधिक बोलता है
किञ्चित्—कुछ भी
क्षमते—क्षमा (उपेक्षा) करता है
विवादम्—विवाद को
सर्वत्र—सब स्थानों में
तादृक्—वैसा [पुरुष]
लभते—प्राप्त होता है
प्रशंसाम्—प्रशंसा को।

## व्याख्या—

जो पुरुष किसी की निन्दा नहीं करता, सब पर दया करता है, दुर्बल जान कर विरोध नहीं करता, आवश्यकता से अधिक नही बोलता और विवाद को क्षमा करता है (उपेक्षा करता है) ऐसा पुरुष सर्वत्र प्रशंसा को प्राप्त होता है।

**विशेष**—प्रतिकूलो भावः चित्ताभिप्रायः प्रतिभावः, तस्य भावः प्रातिभाव्यम्, विरुद्ध भाव का होना, अर्थात् विरोध ॥११५॥

**यो नोद्धतं कुरुते जातु वेषं न पौरुषेणापि विकत्थतेऽन्यान् ।**
**न मूर्च्छितःकटुकान्याह किञ्चित् प्रियं सदा तं कुरुते जनो हि ॥११३॥**

पदार्थ—

| | |
|---|---|
| यः—जो | न—नहीं |
| न—नहीं | मूर्च्छितः—पीड़ित [होकर भी] |
| उद्धतम्—बुरा लगने वाला | कटुकानि—कडुवे वचन को |
| कुरुते—करता है | आह—बोलता है |
| जातु—कभी | किञ्चित्—कुछ भी, |
| वेषम्—वेष को, | प्रियम्—प्रिय |
| न—नहीं | सदा—सर्वदा |
| पौरुषेण—पराक्रम से | तम्—उसको |
| अपि—भी | कुरुते—करता है |
| विकत्थते—निन्दा करता है | जनः—मनुष्य (जनता) |
| अन्यान्—अन्यों को (की), | हि—निश्चय से |

व्याख्या—

जो व्यक्ति पुरुषों को बुरा लगने वाला वेष नहीं बनाता, जो बलवान् होने पर भी अन्यों की निन्दा नहीं करता और पीड़ित होने पर कुछ भी कड़ुवा वचन नहीं बोलता, उसको सभी लोग प्यार करते ।।

**विशेष**—इस श्लोक में **किञ्चित्** के स्थान पर **कञ्चित्** पाठ माना जाये तो अर्थ अधिक स्पष्ट होगा—जो किसी को भी कड़ुवे वचन नहीं बोलता ।।११६।।

**न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति ।**
**न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥११७॥**

पदार्थ—

| | |
|---|---|
| न—नहीं | न—नहीं |
| वैरम्—वैर (विरोध) को | दर्पम्—दर्प (अहंकार) को |
| उद्दीपयति—प्रज्वलित करता है | आरोहति—चढ़ता है, |
| प्रशान्तम्—शान्त हुए को, | न—नहीं |

अस्तम्—समाप्ति (नाश) को
एति—प्राप्त होता है
न—नहीं
दुर्गतः—दुर्गति को प्राप्त
अस्मि—हुआ हूं
इति—ऐसा [समझ कर]
करोति—करता है
अकार्यम्—न करने योग्य (अकर्म) को।
तम्—उसको
आर्यशीलम्—श्रेष्ठ स्वभाव वाला
परम्—अत्यन्त
आहुः—कहते हैं
आर्याः—श्रेष्ठ जन।

## व्याख्या—

जो व्यक्ति शान्त हुये वैर को पुनः प्रज्वलित नहीं करता (नहीं भड़काता), दर्प (अहंकार) को प्राप्त नहीं होता, अपने अस्तित्व को नहीं खोता है और मैं दुर्गति को प्राप्त हुआ हूँ ऐसा जानकर अकार्य (अधर्म कार्य) नहीं करता उसे ही श्रेष्ठ जन अत्यन्त आर्यशील (श्रेष्ठ स्वभाव वाला) कहते हैं।

**विशेष**—जहाँ अहंकार अथवा अभिमान करना बुरा है वहां अपना अस्तित्व (स्वाभिमान) को खो देना भी अनुचित है। यही भाव **न दर्पमारोहति नास्तमेति** पदों से व्यक्त किया है। स्वाभिमान से रहित मनुष्य निष्कर्मण्य अथवा तेजोहीन परमुखापेक्षी हो जाता है ॥२१७॥

**न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।**
**दत्वा न पश्चात् कुरुते न तापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥११८॥**

## पदार्थ—

न—नहीं
स्वे—अपने
सुखे—सुख में
वै—निश्चय से
कुरुते—करता है
प्रहर्षम्—विशेष हर्ष को,
न—नहीं
अन्यस्य—दूसरे के
दुःखे—दुःख में
भवति—होता है
प्रहृष्टः—प्रसन्न,
दत्वा—देकर
न—नहीं
पश्चात्—पीछे से
कुरुते—करता है
न—नहीं
तापम्—सन्ताप को
सः—वह
कथ्यते—कहा जाता है
सत्पुरुषार्यशीलः—उत्तम पुरुष श्रेष्ठ स्वभाव वाला।

## व्याख्या—

जो पुरुष अपने सुख में प्रसन्न नहीं होता, दूसरे के दुःख में प्रसन्न नहीं होता और दान देकर पीछे से सन्ताप नहीं करता उसे ही उत्तम पुरुष श्रेष्ठ स्वभाव वाला कहते हैं।

**विशेष**—वस्तुतः यहाँ 'अन्य के दुःख में प्रसन्न नहीं होता' के स्थान में 'अन्य के दुःख में दुःखी होता है' कहना अधिक युक्त प्रतीत होता है। तृतीय पाद **दत्वा न पश्चात् कुरुते न तापम्** में दो बार न का प्रयोग हुआ है, एक बार से ही वाक्यार्थ बन जाता है। अतः सम्भव है यहाँ **दत्वा च पश्चात् कुरुते न तापम्** मूल पाठ रहा हो ।।११८।।

**देशाचारान् समयाञ्जातिधर्मान् बुभूषते यः स परावरज्ञः ।**
**स यत्र तत्राभिगतः सदैव महाजनस्याधिपत्यं करोति ।।११९।।**

## पदार्थ—

देशाचारान्—विभिन्न देशों के व्यवहारों को
समयान्—संकेतों अर्थात् भाषाओं को
जातिधर्मान्—जातियों के धर्मों को
बुभूषते—प्राप्त करने (जानने) की इच्छा करता है
यः—जो
सः—वह
परावरज्ञः—पर और अवर का जानने वाला (बहुज्ञानी) [होता है]।
सः—वह
यत्र तत्र—जहां तहाँ (सर्वत्र)
अभिगतः—प्राप्त हुआ
सदा—सर्वदा
एव—ही
महाजनस्य—बड़े पुरुषों का
आधिपत्यम्—स्वामित्व
करोति—करता है।

## व्याख्या—

जो पुरुष विभिन्न देशों के व्यवहारों, भाषाओं को और जातियों के धर्मों को जानता है वह परावरज्ञ (बहुज्ञानी) होता है और वह सब पर सर्वदा स्वामीभाव को प्राप्त होता है, सब को वश में कर लेता है ।।११९।।

दम्भं मोहं मात्सर्यं पापकृत्यं राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम् ।
मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं यः प्रज्ञावान् वर्जयेत् स प्रधानः ।१२०।

## पदार्थ—

दम्भम्—दम्भ को,
मोहम्—मोह को,
मात्सर्यम्—मत्सरता (दूसरे की उन्नति देखकर जलना) को,
पापकृत्यम्—पाप कर्म को,
राजद्विष्टम्—राजद्वेष को,
पैशुनम्—पिशुनता (चुगली करना) को,
पूगवैरम्--समुदाय से वैरभाव को,
मत्तोन्मत्तैः—मत्त (मद्य-पान किये हुये) उन्मत्त (उन्माद आदि रोग के रोगी) से
दुर्जनैः—बुरे पुरुषों से
च—और
अपि—भी
वादम्—वादविवाद (झगड़े बखेड़े) को
यः—जो
प्रज्ञावान्—बुद्धिमान्
वर्जयेत्—छोड़ देवे
सः—वह
प्रधानः—श्रेष्ठ [होता] है ।

## व्याख्या—

जो पुरुष दम्भ, मोह, मत्सरता, पाप कर्म, राजद्वेष, पिशुनता, समुदाय से वैर, मत्त उन्मत्त और दुर्जनों के साथ विवाद को छोड़ देता है वही श्रेष्ठ होता है ।

**विशेष—राजद्वेष** से यहां धार्मिक राजाओं से द्वेष परित्याग समझना चाहिए । जो राजा पापी अत्याचारी प्रजाशोषक हो उस से द्वेष, उससे विरोध करना मनुष्य का धर्म है । ऐसे राजा का विरोध मनुष्य को अपनी पूरी शक्ति से करना चाहिए ।।१२०।।

दानं मोहं दैवतं मङ्गलानि
प्रायश्चित्तान् विविधान् लोकवादान् ।
एतानि यः कुरुते नैत्यकानि
तस्योत्थानं देवता राधयन्ति ।।१२१।।

## पदार्थ—

दानम्—दान को
मोहम्—मोह को
दैवतम्—देव सम्बन्धी कार्य (यज्ञादि) को
मङ्गलानि— शुभ कर्मों को
प्रायश्चित्तान्—प्रायश्चित्तों को
विविधान्— विविध प्रकार वालों को
लोकवादान्— लोक में कहे गये (व्यवहारों) को।

एतानि— इन को
यः—जो
कुरुते—करता है
नैत्यकानि—नित्य किये जाने वालों को
तस्य—उसकी
उत्थानम्—उन्नति को
देवताः—देव लोग
राधयन्ति—सिद्ध करते हैं।

## व्याख्या—

जो व्यक्ति दान, मोह, देवकर्म (यज्ञ), शुभ कर्म, प्रायश्चित्त, विविध लोक व्यवहार इन नित्य करने योग्य कार्यों को करता है उसकी देव उन्नति करते हैं, उन्नति की ओर ले जाते हैं।

**विशेष**—इस से पूर्व श्लोक में **मोह** को त्याज्य कहा है, यहां उस को करने योग्य कहा है। इस विरोध से प्रतीत होता है कि यहां पाठ भ्रष्ट हुआ है। **लोकवाद** लोक में प्रचलित व्यवहारों में से उत्तम व्यवहार ही यहां कर्त्तव्यरूप से जानने चाहियें। उत्तम कर्म करने वालों को श्रेष्ठ पुरुषों से सदा साहाय्य प्राप्त होता है यही इस श्लोक का भाव है ॥१२१॥

**समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः**
**समैः सख्यं व्यवहारं कथां च।**
**गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति**
**विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः ॥१२२॥**

## पदार्थ—

समैः—बराबर [के कुलों के साथ
विवाहम्—विवाह को
कुरुते—करता है,
न—नहीं

हीनैः—हीन (कुलों) के साथ,
समैः—बराबर [के पुरुषों] के साथ
सख्यम्—मित्रता,

व्यवहारम्—व्यवहार
कथाम्—बातचीत
च—और
गुणैः—गुणों से
विशिष्टान्—श्रेष्ठ को
च—और
पुरः—आगे
दधाति—रखता है
विपश्चितः—बुद्धिमान् के,
तस्य—उसके
नयाः—नीतियां
सुनीताः—अच्छे प्रकार चलाई हुई अर्थात् सफल [होती हैं]।

## व्याख्या—

जो बुद्धिमान् पुरुष अपने बराबर के कुलों के साथ ही विवाह सम्बन्ध करता है हीन कुलों के साथ नहीं करता, जो बराबर के व्यक्तियों के साथ ही मित्रता, लौकिक व्यवहार, बात-चीत करता है और अपने से गुणों से श्रेष्ठ व्यक्ति को ही आगे करता है नेता बनाता है अथवा पुरोहित स्वीकार करता है उसी पुरुष की नीतियां सफल होती हैं ॥१२२॥

**मितं भुङ्क्ते संविभज्याश्रितेभ्यो मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा।**
**ददात्यमित्रेष्वपि याचितः संस्तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः ॥१२३॥**

## पदार्थ—

मितम्—परिमित (स्वल्प)
भुङ्क्ते—खाता है
संविभज्य—बांटकर
आश्रितेभ्यः—आश्रित (अधीन) लोगों को
मितम्—परिमित (स्वल्प)
स्वपिति—सोता है
अमितम्—अपरिमित (बहुत)
कर्म—कार्य को
कृत्वा—करके।
ददाति—देता है
अमित्रेषु—शत्रुओं में (को)
अपि—भी
याचितः—मांगा हुआ
सन्—होकर,
तम्—उसको
आत्मवन्तम्—श्रेष्ठ पुरुष को
प्रजहति—छोड़ देते हैं
अनर्थाः—अनर्थ।

## व्याख्या—

जो व्यक्ति अपने आश्रित जनों को बांटकर स्वयं परिमित भोग को भोगता है (भोजन वस्त्र आदि का उपयोग करता है), बहुत कार्य करके (कठोर

परिश्रम करके) थोड़ा सोता है और मांगने पर शत्रुओं को भी मांगी हुई वस्तु देता है ऐसे श्रेष्ठ पुरुष को सभी अनर्थ छोड़ देते हैं अर्थात् उसकी सदा उन्नति होती है ॥१२३॥

**चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य नान्ये जनाः कर्म जानन्ति किञ्चित् ।**
**मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च नाल्पोऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः ।१२४।**

**पदार्थ—**

चिकीर्षितम्—करना चाहे हुए को,
विप्रकृतम्—विरुद्ध किये हुए को
च—और
यस्य—जिसके
न—नहीं
अन्ये—दूसरे
जनाः—पुरुष
कर्म—कर्म को
जानन्ति—जानते हैं
किञ्चित्—कुछ भी ।
मन्त्रे—विचार
गुप्ते—छिपे हुए होने पर
सम्यक्—अच्छे प्रकार
अनुष्ठिते—कार्यरूप में परिणत हो जाने पर
च—और
न—नहीं
अल्पः—थोड़ा
अपि—भी
अस्य—इसका
च्यवते—नष्ट होता है
कश्चित्—कोई भी
अर्थः—अभिप्राय (कार्य) ।

**व्याख्या—**

जिस पुरुष के चाहे हुए कर्म और विरुद्ध किये गये कर्म को दूसरे लोग कुछ भी नहीं जानते और गुप्त विचार अच्छे प्रकार कार्यरूप में परिणत होने पर ही दूसरे जान पाते हैं, उस पुरुष का कोई भी कार्य अल्प मात्रा में भी नष्ट नहीं होता अर्थात् वह अपने कार्य को पूर्ण रूप से करने में समर्थ होता है ॥१२४॥

**यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः सत्यो मृदुर्मानकृच्छुद्धभावः ।**
**अतीव स ज्ञायते ज्ञातिमध्ये महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः ।१२५।**

**पदार्थ—**

यः—जो
सर्वभूतप्रशमे—सब प्राणियों की शान्ति में
निविष्टः—लगा हुआ
सत्यः—सत्यवादी
मृदुः—कोमल स्वभाव वाला

मानकृत् —[दूसरों का] आदर करने वाला
शुद्धभावः—पवित्र विचार वाला
अतीव — अत्यन्त
सः—वह
ज्ञायते—जाना (माना) जाता है
ज्ञातिमध्ये—अपने समुदाय (जाति) में,
महामणिः—श्रेष्ठ मणि
जात्यः—उत्तम जाति वाला
इव—जैसे
प्रसन्नः—शुद्ध (चमकदार)।

## व्याख्या—

जो व्यक्ति सब प्राणियों की शान्ति (सुख) में लगा हुआ, सत्यवादी कोमल स्वभाववाला दूसरों का मान करने वाला और शुद्ध विचार वाला होता है वह अपने समुदाय में उसी प्रकार श्रेष्ठ माना जाता है जैसे उत्तम जाति वाला शुद्ध (चमकदार) मणि श्रेष्ठ समझा जाता है ।।१२५।।

**य आत्मनाऽपत्रपते भृशं नरः स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत।**
**अनन्ततेजाः सुमनाः समाहितः स तेजसा सूर्य इवावभासते ।१२६।**

## पदार्थ—

यः—जो
आत्मना—स्वयं [दूसरों के द्वारा स्वदोषों के न जानने पर भी]
अपत्रपते—लज्जित होता है
भृशम्—अत्यधिक।
नरः—मनुष्य
सः—वह
सर्वलोकस्य—सब लोगों का
गुरु—गुरु
भवति—होता है
उत—भी
अनन्ततेजाः—महातेजस्वी
सुमनाः—उत्तम मन वाला
समाहितः—स्थिर बुद्धि वाला।
सः—वह
तेजसा—तेज से
सूर्य इव—सूर्य के समान
अवभासते—प्रकाशित होता हैं [चमकता है]।

## व्याख्या—

जो महातेजस्वी, उत्तम मनवाला, स्थिर बुद्धिवाला, दूसरे के द्वारा अपने

दोषों के न जानने पर भी अपने दोषों से स्वयं लज्जित होता है वह सब लोगों का गुरु होता है और सूर्य के समान प्रकाशित होता है, चमकता है ।।१२६।।

**वने जाताः शापदग्धस्य राज्ञः पाण्डोः पुत्राः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पाः ।**
**त्वयैव बाला वर्धिताः शिक्षिताश्च तवादेशं पालयन्त्याम्बिकेय ।।१२७।।**

## पदार्थ—

वने—वन में
जाताः—उत्पन्न हुए
शापदग्धस्य—शाप से नष्ट हुए
राज्ञः—राजा के
पाण्डोः—पाण्डु के
पुत्राः—पुत्र
पञ्च—पांच
पञ्च—पांच
इन्द्रकल्पाः—इन्द्र के समान [तेजस्वी]
त्वया—तुम्हारे द्वारा
एव—ही
बालाः—बालक
वर्धिताः—बढ़ाये गये (पाल पोस कर बड़े किये गये)
शिक्षिताः—पढ़ाये गये
च—और
तव—तुम्हारे
आदेशम्—आज्ञा को
पालयन्ति—पालन करते हैं (मानते हैं) ।
आम्बिकेय—हे अम्बिका के पुत्र [धृतराष्ट्र] ।

## व्याख्या—

हे अम्बिका के पुत्र धृतराष्ट्र ! शाप से नष्ट हुए राजा पाण्डु के वन में उत्पन्न हुए पांच इन्द्रों के समान तेजस्वी पांचों पुत्र तुम्हारे द्वारा ही पाल-पोसकर बड़े किये गये हैं और तुम्हारे द्वारा ही शिक्षित हुए हैं । ये पांचों तुम्हारी आज्ञा का पालन करते हैं ।

**विशेष**—महाभारत में कथा आती है कि किसी समय किन्दम ऋषि मृग का रूप धारण करके अपनी भार्या के साथ संगम कर रहा था । राजा पाण्डु ने उसे मृग जानकर तीक्ष्ण बाणों से वेध दिया । उसने मरते हुए शाप दिया कि राजन् तुम भी जब अपनी पत्नी के साथ संगम करोगे तब इसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त होवोगे । इस शाप के अनन्तर राज्य और ग्राम्य सुख का परित्याग करके राजा वानप्रस्थी हो गया । परन्तु दैवात् एक दिन वह काम वासना के वशीभूत होकर अपनी पत्नी माद्री के साथ संभोग करने लगा, उसी समय कन्दम ऋषि

के शाप से उसकी मृत्यु हो गई। उपरिनिर्दिष्ट श्लोक में शापदग्धस्य पद से इसी कथा की ओर संकेत है ॥१२७॥

**प्रदायैतेषामुचितं तात राज्यं सुखी पुत्रैः सहितो मोदमानः।**
**न देवानां नापि च मानुषाणां भविष्यसि त्वं तर्कणीयो नरेन्द्र ॥१२८॥**

## पदार्थ—

प्रदाय—देकर
एतेषाम्—इन [पाण्डवों] का
उचितम्—उचित
तात—हे भ्रातः
राज्यम्—राज्य को,
सुखी—सुखी
पुत्रैः—पुत्रों के
सहितः—सहित
मोदमानः—प्रसन्न हुआ
न—नहीं
देवानाम्—देवों का
न—नहीं
अपि—भी
च—और
मानुषाणाम्—मनुष्यों का
भविष्यसि—होगा
त्वम्—तुम
तर्कणीयः—शङ्काभाव वाला
नरेन्द्र—हे नरों के स्वामिन्!

## व्याख्या—

हे राजन् तुम इन पाण्डवों का उचित राज्य देकर अपने पुत्रों के साथ सुखी और प्रसन्न होकर रहो। ऐसा करने से देव और मनुष्य कोई भी तुम्हारे पर शङ्का नहीं करेंगे। अर्थात् तुम सबकी दृष्टि में न्यायकारी होवोगे ॥१२८॥

**इति महाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥**

इस प्रकार महाभारत के उद्योग पर्व में प्रजागरपर्व नाम के अवान्तर विभाग में विदुरनीति वाक्य में तैंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ।

**॥ इति विदुरनीतौ प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥**

———

# अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

## धृतराष्ट्र उवाच

**जाग्रतो दह्यमानस्य यत्कार्यमनुपश्यसि ।**
**तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥१॥**

### पदार्थ—

**धृतराष्ट्र बोले—**

जाग्रतः—जागते हुए का
दह्यमानस्य—जलते हुए का
यत्—जो
कार्यम्—कार्य (करने योग्य काम)
अनुपश्यसि—देखते हो (समझते हो)
तद्—उसको
ब्रूहि—कहो (बताओ)
त्वम्—तुम
हि—निश्चय से
नः—हमारे मध्य में
तात—हे भ्रातः !
धर्मार्थकुशलः—धर्म और अर्थ (=नीति) में कुशल (चतुर)
हि—निश्चय से
असि—हो ।

### व्याख्या—

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भ्रातः विदुर ! तुम निश्चय से हम लोगों के मध्य धर्म और राजनीति में कुशल हो, इसलिये मुझ चिन्ता से जलते हुए और जागते हुए के करने योग्य उस कार्य को तुम निश्चय से कहो (बताओ) ।

**विशेष**—इस श्लोक की व्याख्या में नीलकण्ठ ने **धर्मार्थकुशलः** पद की व्याख्या में लिखा है कि "मोक्ष के विषय में कहने का विदुर को अधिकार नहीं है इसलिये दो को ही निर्देश किया है ।"*

टीकाकार ने विदुर के वर्णसंकर होने से मोक्ष में अनधिकार समझा है । वस्तुतः यह धारणा अशुद्ध है । मोक्ष में उस सभी का अधिकार है जो मोक्ष चाहता है और उसके अनुकूल धर्मानुसार कर्म करता है । धर्म अर्थ दो के

---

*'धर्मार्थयोः कुशलः' मोक्षंवक्तुमनधिकारात् द्वयोरेव ग्रहः । नीलकण्ठ ।

ही ग्रहण में टीकाकार ने जो हेतु दिया है वह भी चिन्त्य है। यदि दुर्जनतोष न्याय से विदुर का मोक्ष के प्रवचन में अधिकार न भी माना जाये तो 'काम' के प्रवचन में तो अधिकार था ही, पुनः 'काम' का भी यहां निर्देश क्यों नहीं किया, वस्तुतः यह प्रसङ्ग ही धर्म और अर्थ का है। इसलिए काम और मोक्ष का निर्देश प्राप्त ही नहीं है।

यही श्लोक तृतीय चरण के कुछ भेद से प्रथमाऽध्याय में भी आया है। (श्लोक ११) वहां नीलकण्ठ ने इस प्रकार श्लोक की व्याख्या ही नहीं की ।।१।।

**त्वं मां यथावद् विदुर प्रशाधि प्रज्ञापूर्वं सर्वमजातशत्रोः ।**
**यन्मन्यसे पथ्यमदीनसत्त्व श्रेयस्करं ब्रूहि तद्वै कुरूणाम् ।।२।।**

## पदार्थ—

त्वम्—तुम
माम्—मुझ को
यथावद्—जैसा चाहिये वैसा
विदुर—हे विदुर !
प्रशाधि—शासन करो (बताओ)
प्रज्ञापूर्वम्—बुद्धिपूर्वक
सर्वम्—सब
अजातशत्रोः—नहीं उत्पन्न हुआ शत्रु जिसका उस (युधिष्ठिर) का
यत्—जो
मन्यसे—समझते हो
पथ्यम्—उचित=न्याय्य
अदीनसत्त्व—दीनता रहित स्थिति वाले अर्थात् स्पष्ट कहने वाले
श्रेयस्करम्—कल्याणकारी को
ब्रूहि—कहो
तत्—उसे
वै—निश्चय से
कुरूणाम्—कौरवों के ।

## व्याख्या—

हे अदीनसत्त्व अर्थात् स्पष्ट कहने वाले विदुर ! तुम मुझ को जैसा होना चाहिये वैसा ठीक-ठीक बुद्धिपूर्वक बताओ। जिसे अजातशत्रु=युधिष्ठिर के लिये न्याय्य=उचित और कौरवों के लिये कल्याणकारी समझते हो उसे कहो।

**विशेष**—यहां धृतराष्ट्र ने पाण्डवों के लिये तो न्याय्य बात कहने का आग्रह किया है और कौरवों के लिये श्रेयस्कर बात। यह भेद धृतराष्ट्र के अन्तर्निहित (छिपे) हुए कुटिल भावों का सूचक है ।।२।।

**पापाशङ्की पापमेवानुपश्यन् पृच्छामि त्वां व्याकुलेनात्मनाहम् ।**
**कवे तन्मे ब्रूहि सर्वं यथावन्मनीषितं सर्वमजातशत्रोः ।।३।।**

## पदार्थ—

पापाशङ्की—पाप की आशंका करने वाला
पापम्—(स्व पूर्वकृत) पाप कर्म को
एव—ही
अनुपश्यन्—देखता हुआ = स्मरण करता हुआ
पृच्छामि—पूछता हूं
त्वाम्=तुमको
व्याकुलेन—व्याकुल (दुःखी)
आत्मना—आत्मा (मन) से
अहम्—मैं।
कवे—हे विद्वन्!
तत्—उसे
मे—मुझ को
ब्रूहि—कहो
सर्वम्—सब
यथावत्—ठीक ठीक रूप से (जैसा हो वैसा)
मनीषितम्—सोचा हुआ
सर्वम्—सब
अजातशत्रोः—अजात शत्रु का (युधिष्ठिर)

## व्याख्या—

हे कवे विद्वन्! भावी दुःख से पीड़ित हुआ और स्वपूर्वकृत पापकर्म को स्मरण करता हुआ दुःखी मन से मैं तुम से पूछता हूं कि हे विदुर! आजतशत्रु (युधिष्ठिर) का जो विचारा हुआ (भावी कार्य-क्रम है) उस सब को मुझ से यथावत् ठीक-ठीक रूप से कहो ॥३॥

## विदुर उवाच—

शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम्।
अपृष्टस्तस्य तद् ब्रूयाद् यस्य नेच्छेन् पराभवम् ॥४॥

## पदार्थ—

विदुर बोले—
शुभम्—अच्छा
वा—अथवा
यदि—यदि
वा—अथवा
पापम्—बुरा
द्वेष्यम्—द्वेष के योग्य
वा—अथवा
यदि—यदि
वा—अथवा
प्रियम्—प्रिय (प्यारा)
अपृष्टः—विना पूछा हुआ
तस्य—उसका

| | |
|---|---|
| तद्—वह | न—नहीं |
| ब्रूयात्—कहे | इच्छेत्—चाहे |
| यस्य—जिसका | पराभवम्—पराजय अथवा हानि । |

## व्याख्या—

विदुर बोले—हे धृतराष्ट्र ! जो जिस पुरुष का पराजय अथवा हानि नहीं चाहता उसको बिना पूछे भी उसको अच्छा, बुरा, प्रिय अथवा अप्रिय बात यथावत् रूप से बतावे ॥४॥

**तस्माद् वक्ष्यामि ते राजन् हितं यत् स्यात् कुरून् प्रति ।**
**वचः श्रेयस्करं धर्म्यं ब्रुवतस्तन्निबोध मे ॥५॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| तस्मात्—इसलिये (उक्त कारणसे) | प्रति—लिये । |
| वक्ष्यामि—कहूंगा | वचः—वचन=कथन |
| ते—तुम्हारे लिये | श्रेयस्करम्—कल्याणकारी |
| राजन्—हे राजन् ! | धर्म्यम्—धर्मानुकूल |
| हितम्—हितकारी | ब्रुवतः—कहते हुए का |
| यत्—जो | तत्—उसको |
| स्यात्—होवे | निबोध—सुनो |
| कुरून्—कौरवों के | मे—मेरा । |

## व्याख्या—

हे राजन् ! इसलिये (पूर्वश्लोक में कहे गए हेतु से) तुम्हारे लिये हितकारी वचन को कहूंगा । कौरवों के लिये धर्मानुकूल कल्याणकारी वचन कहते हुए मेरा कहा सुनो ॥५॥

**मिथ्योपेतानि कर्माणि सिध्येयुर्यानि भारत ।**
**अनुपायप्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥६॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| मिथ्योपेतानि—कपटयुक्त द्यूत आदि | सिध्येयुः—सिद्ध होवें (बन जावें) |
| कर्माणि—कर्म | यानि—जो |

भारत—हे भरत कुलोत्पन्न !
अनुपायप्रयुक्तानि—असद् उपायों से सिद्ध किये गये (कर्म)
मा स्म—नहीं
तेषु—उनमें
मनः—मन को
कृथाः—लगाओ

## व्याख्या—

हे भरत कुलोत्पन्न धृतराष्ट्र ! जो कपट आदि से युक्त [द्यूत आदि] कर्म सिद्ध होवें और जो असद् उपायों से प्रयुक्त (जिसका फल दुःख रूप हो) हों ऐसे कर्मों में अपने मन को मत लगाओ अर्थात् ऐसे निन्दित कर्म का चिन्तन मत करो ॥६॥

तथैव योगविहितं यत्तु कर्म न सिध्यति ।
उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥७॥

## पदार्थ—

तथा—उसी प्रकार
एव—ही
योगविहितम्—प्रयत्न से किया गया ।
यत्—जो
तु—तो
कर्म—कार्य
न—नहीं
सिध्यति—सिद्ध होता है,
उपाययुक्तम्—सत् उपायों से युक्त
मेधावी—बुद्धिमान्
न—नहीं
तत्र—उसके विषय में
ग्लपयेत्—ग्लानि से युक्त करे
मनः—मन को

## व्याख्या—

उसी प्रकार जो सत् उपायों से युक्त प्रयत्नपूर्वक किया गया कर्म सिद्ध न होवे, उसके विषय में मन को ग्लानि से युवत न करे अर्थात् दुःखी न होवे ॥७॥

अनुबन्धान् अपेक्षेत सानुबन्धेषु कर्मसु ।
सम्प्रधार्य च कुर्वीत न वेगेन समाचरेत् ॥८॥

## पदार्थ

| | |
|---|---|
| अनुबन्धान्—प्रयोजनों को | च—और |
| अपेक्षेत—अपेक्षा (चिन्तन) करे | कुर्वीत—करे, |
| सानुबन्धेषु—प्रयोजन वाले | न—नहीं |
| कर्मसु—कर्मों में; | वेगेन—बलात् (विना विचारे) |
| सम्प्रधार्य—निश्चय करके | समाचरेत्—आचरण करे। |

## व्याख्या—

जो सप्रयोजन कर्म हैं उनमें पहले प्रयोजन के विषय में विचार करे और [प्रयोजन के साधक उपायों को] विचार कर कर्म करे, बिना विचारे कोई कर्म न करे ॥८॥

**अनुबन्धं च सम्प्रेक्ष्य विपाकं चैव कर्मणाम् ।**
**उत्थानमात्मनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा ॥९॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| अनुबन्धम्—प्रयोजन को | आत्मनः—अपने |
| च—और | च—और |
| सम्प्रेक्ष्य—देखकर (विचारकर) | एव—ही |
| विपाकम्—फल को | धीरः—धैर्यवान् |
| च—और | कुर्वीत—करे |
| एव—ही | वा—अथवा |
| कर्मणाम्—कर्मों के, | न—नहीं |
| उत्थानम्—उद्यम को | वा—अथवा |

## व्याख्या—

धैर्यवान् पुरुष को चाहिये कि वह कर्मों के प्रयोजन, उनके फल और अपने प्रयत्न का विचार करके [कार्य को] करे अथवा न करे ॥९॥

**यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये ।**
**कोशे जनपदे दण्डे न स राज्येऽवतिष्ठते ॥१०॥**

## पदार्थ—

यः—जो [राजा]
प्रमाणम्—परिमाण
न—नहीं
जानाति—जानता है
स्थाने—दुर्ग के विषय में
वृद्धौ—वृद्धि [के विषय] में
तथा—और
क्षये—हानि के विषय में
कोशे—कोश (खजाने) के विषय में
जनपदे—देश के विषय में
दण्डे—सेना के विषय में
न—नहीं
स—वह
राज्ये—राज्य में
अवतिष्ठते—ठहरता है।

## व्याख्या—

जो राजा स्थान (दुर्ग), वृद्धि, क्षय, कोश, देश और सेना के विषय में प्रमाण=लेखादि अथवा परिणाम को नहीं जानता वह राज्य में नहीं ठहर सकता अर्थात् राज्य से भ्रष्ट हो जाता है।

आशय यह है कि राजा को अपने दुर्ग, देश, कोश, सेना, वृद्धि और क्षय के विषय में यथावत् ज्ञान रखना चाहिये। जो इस विषय में प्रमाद करता है वह राज्य से भ्रष्ट हो जाता है। इसका उदाहरण हमारे सामने प्रत्यक्ष है। हम अपने उत्तरी सीमान्त पर होने वाली घटनाओं से अनभिज्ञ रहे। उसका फल यह हुआ कि चीन हमारे देश का लगभग २००० दो हजार वर्ग मील का क्षेत्र हड़प गया और सन् १९६२ में हम पर आक्रमण किया ॥१०॥

**यस्त्वेतानि प्रमाणानि यथोक्तान्यनुपश्यति।**
**युक्तो धर्मार्थयोर्ज्ञाने स राज्यमधिगच्छति ॥११॥**

## पदार्थ—

यः—जो
तु—तो
एतानि—इन
प्रमाणानि—प्रमाणों की
यथोक्तानि—जैसे कहे गये हैं
अनुपश्यति—देखता है, जानता है,
युक्तः—लगा हुआ
धर्मार्थयोः—धर्म और अर्थ के
ज्ञाने—ज्ञान में
स—वह
राज्यम्—राज्य को
अधिगच्छति—प्राप्त होता है।

## व्याख्या—

जो व्यक्ति पूर्वनिर्दिष्ट दुर्ग आदि के विषय में यथोक्त प्रमाण वा परिमाण को जानता है और धर्म तथा अर्थ में प्रयत्नपूर्वक संलग्न है, वह राज्य को प्राप्त होता है ॥११॥

न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥१२॥

## पदार्थ—

न—नहीं
राज्यम्—राज्य को
प्राप्तम्—प्राप्त कर लिया
इति—ऐसा
एव—निश्चय से (सोचकर)
वर्तितव्यम्—बरतना चाहिये
असाम्प्रतम्—अनुचित ।
श्रियम्—ऐश्वर्य को
हि—निश्चय से
अविनयः—अविनय धृष्टता या अनीति
हन्ति—नष्ट कर देता है
जरा—बुढ़ापा
रूपम्—रूप को
इव—जैसे
उत्तमम्—उत्तम को ।

## व्याख्या—

मैंने राज्य प्राप्त कर लिया है यह सोचकर राजा को अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिये क्योंकि अविनय (=धृष्टता या अनीति) ऐश्वर्य का उसी प्रकार नाश कर देता है जैसे उत्तम रूप को बुढ़ापा नष्ट कर देता है ॥१२॥

भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं मत्स्यो बडिशमायसम् ।
लोभाभिपाती ग्रसते नानुबन्धमवेक्षते ॥१३॥

## पदार्थ—

भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नम्—उत्तम खाने योग्य आटे आदि से ढके हुए को
मत्स्यः—मछली
बडिशम्—कांटे को
आयसम्—लोहे से बने हुए को
लोभाभिपाती—लोभ के पीछे दौड़ने वाली
ग्रसते—निगलती है,
न—नहीं
अनुबन्धम्—बन्धन को
अवेक्षते—देखती है ।

## व्याख्या—

लोभी मछली उत्तम खाने योग्य आटे आदि से ढके हुए लोहे के कांटे को निगलती है, परन्तु उसमें होने वाले बन्धन को नहीं देखती=विचारती।

आशय यह है कि जो मनुष्य आरम्भ में सुखकारी परन्तु अन्त में दुःखदायी कर्म का विचार नहीं करता वह लोभी मछली के समान नष्ट हो जाता है ॥१३॥

**यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत्।**
**हितं च परिणामे स्यात् तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥१४॥**

## पदार्थ—

यत्—जो
शक्यम्—ठीक हो
ग्रसितुम्—निगलने के लिये
ग्रस्यम्—निगलने योग्य
ग्रस्तम्—निगला हुआ
परिणमेत्—पच जाये
च—और
यत्—जो
हितम्—हितकारी
च—और
परिणामे—परिणाम में (अन्त में)
स्यात्—हो
तत्—वह
आद्यम्—खाया जाना चाहिये
भूतिम्—कल्याण को
इच्छता—चाहने वाले से।

## व्याख्या—

जो निगलने (खाने) योग्य पदार्थ निगला (खाया) जो सके और खाया हुआ पच जाये और परिणाम में (पचने पर) हितकारी हो, कल्याण चाहने वाले से ऐसा पदार्थ ही खाया जाना चाहिये।

**विशेष**—नीतिकार यहां इस बात का संकेत कर रहे हैं कि हे धृतराष्ट्र! कौरवों के द्वारा पाण्डवों का जो राज्य बलात् हरण किया गया है वह पचेगा नहीं, और यदि पच भी जाये तो उसका परिणाम बुरा ही होगा। इसलिये अभी भी समय है कि पाण्डवों का राज्य उन्हें लौटा दिया जाए ॥१४॥

**वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः।**
**स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ॥१५॥**

## पदार्थ—

वनस्पतेः—वृक्ष के
अपक्वानि—कच्चे
फलानि—फलों को
प्रचिनोति—चुनता है (ग्रहण करता है),
यः—जो
सः—वह
न—नहीं
आप्नोति—प्राप्त करता है
रसम्—रस को
तेभ्यः—उन फलों से,
बीजम्—बीज
च—और
अस्य—इस (वृक्ष) का
विनश्यति—नष्ट हो जाता है।

## व्याख्या—

जो मूर्ख वृक्षों के कच्चे फलों को ग्रहण करता है वह उन फलों से उनके रस को नहीं पाता और उसका बीज भी नष्ट हो जाता है।

**विशेष**—उद्भिज्ज (वनस्पति) शास्त्र के जानने वाले आचार्यों ने समस्त उद्भिज्जों को चार विभागों में बांटा है—

फली वनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पफलोपगाः।
ओषध्यः फलपाकान्ता लतागुल्माश्च वीरुधः॥

काशिकावृत्ति ८।४।६ में उद्धृत वचन।

अर्थात्—जिनमें केवल फल लगते हों पुष्प न आते हों ऐसे पेड़ **वनस्पति** कहाते हैं—यथा गूलर आदि, जिनमें पुष्प और फल दोनों आते हैं वे **वृक्ष** कहाते हैं—यथा आम आदि, जिनका फल पकने के पश्चात् नाश हो जाए ऐसे उद्भिज्ज **ओषधि** कहाते हैं—यथा गेहूं जौ चना उड़द आदि, लताएं और गुल्म (झाड़ियां) **वीरुद** कहाती हैं।

वनस्पति वृक्ष और ओषधि का ऐसा ही लक्षण मनुस्मृति १।४६, ४७ में मिलता है। चरक सूत्र स्थान १।७२ भी इस विषय में द्रष्टव्य है॥१५॥

**यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम्।**
**फलाद् रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः॥१६॥**

## पदार्थ—

यः—जो
तु—तो
पक्वम्—पके हुए को
उपादत्ते—ग्रहण करता है

| | |
|---|---|
| काले—समय पर | लभते—प्राप्त करता है |
| परिणतम्—तैयार हुए को | बीजात्—बीज से |
| फलम्—फल को, | च—और |
| फलात्—फल से | एव—ही |
| रसम्—रस को | फलम्—फल को |
| सः—वह | पुनः—पश्चात्। |

## व्याख्या—

जो मनुष्य समय पर तैयार हुए पके फल को ग्रहण करता है वह उस फल से रस को प्राप्त करता है और (फलान्तर्गत) बीज से पुनः फल को प्राप्त करता है ॥१६॥

**यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।**
**तद्वद् अर्थान् मनुष्येभ्य आदधाद् अविहिंसया ॥१७॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| यथा—जैसे | तद्वत्—उसी तरह |
| मधु—शहद को | अर्थान्—धनों को |
| समादत्ते—ग्रहण करता है | मनुष्येभ्यः—मनुष्यों से |
| रक्षन्—रक्षा करता हुआ | आदधात्—ग्रहण करे |
| पुष्पाणि—पुष्पों की | अविहिंसया—विना हिंसा के। |
| षट्पदः—छ पैरों वाला अर्थात् भौंरा। | |

## व्याख्या—

जिस प्रकार भौंरा फूलों की रक्षा करता हुआ (उन्हें हानि न पहुंचाता हुआ) शहद को ग्रहण करता है उसी प्रकार पीड़ा न पहुंचाते हुए मनुष्यों से (=प्रजाओं से) धन (=कर) ग्रहण करे।

**विशेष**—भारतीय नीति शास्त्र का यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है कि राजा प्रजा पर इतना कर लगावे जिसे वे विना पीड़ा के देने में समर्थ हों। इस प्रकार अल्पतम मात्रा से ग्रहण की गई कर की राशि अधिक मात्रा में

स्वेच्छा से प्राप्त होती है। इस के विपरीत जब कर की मात्रा अधिक होती है तो साधारण जन कर देने में असमर्थ होने के कारण कर की चोरी करते हैं। इसी प्रकार कर की चोरी का वर्तमान में एक यह भी कारण है कि कर-ग्रहण अधिकारी प्रत्येक व्यक्ति को स्वभावतः करचोर समझ कर इस प्रकार परेशान करते हैं, जिससे साधारण व्यक्ति न चाहते हुए भी स्वयं कर देने का साहस नहीं करते। इस लिए सभी प्रकार के करों की मात्रा स्वल्प होनी चाहिए और उनके आदान का प्रकार भी सरल और सम्मानित होना चाहिए, जिससे प्रजा स्वयं आगे होकर अपना कर्त्तव्य समझ कर राज्य को कर प्रदान करे। इतना होने पर भी जो व्यक्ति कर की चोरी करे उसे कड़ा दण्ड देना चाहिए। विशेष अवस्था में उसके सर्वस्व का अपहरण भी कर लेना चाहिए ॥ १७ ॥

**पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत् ।**
**मालाकर इवारामे न यथाङ्गारकारकः ॥१८॥**

## पदार्थ—

पुष्पं पुष्पम्—फूल फूल को
विचिन्वीत—चुने (ग्रहण करे)
मूलच्छेदम्—मूल (जड़) का नाश
न—नहीं
कारयेत्—करे।
माला इव—जैसे माली
आरामे—फुलवाड़ी में,
न—नहीं
यथा—जैसे
अङ्गारकारकः—कोयले बनाने वाला।

## व्याख्या—

जैसे माली (उद्यान-रक्षक) बगीचे में एक-एक फूल को ग्रहण करता है, मूल से उनका उच्छेद नहीं करता उसी प्रकार प्रजा से कर ग्रहण करे। जिस प्रकार अङ्गारकारक (जंगल में कोयला बनाने वाला) पेड़ों को समूल नाश करके कोयले बनाता है, वैसे प्रजा का समूल उच्छेद न करे॥

**विशेष—कारयेत्** इस पद में णिच् प्रत्यय स्वार्थ में है। इसलिए इस का अर्थ 'करे' है 'करवावे' नहीं। 'करवावे' अर्थ प्रकरण में संगत नहीं होता। चुरादि गण से भिन्न धातुओं से भी स्वार्थ में णिच् देखा जाता है। यथा—**रामो राज्यमकारयत्**। रामायण, युद्ध० १२८।१०५॥१८॥

किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः ।
इति कर्माणि संचिन्त्य कुर्याद् वा पुरुषो न वा ॥१९॥

पदार्थ—

किम्—क्या
नु—निश्चय से
मे—मेरा
स्यात्—होगा
इदम्—इसको
कृत्वा—कर के,
किम्—क्या
नु—निश्चय से
मे—मेरा
स्यात्—होगा
अकुर्वतः—न करते हुए का
इति—इस प्रकार
कर्माणि—कर्मों को
संचिन्त्य—विचार कर
कुर्यात्—करे
वा—अथवा
पुरुषः—पुरुष
न—नहीं
वा—अथवा

व्याख्या—

इस कार्य को करने से मुझे क्या लाभ होगा, इस कार्य को न करने से मुझे क्या हानि होगी, इसप्रकार कर्मों का विचार करके [पुरुष उस कर्म को] करे अथवा उसे न करे (छोड़ देवे) ॥१९॥

अनारभ्या भवन्त्यर्थाः केचिन्नित्यं तथाऽगताः ।
कृतः पुरुषकारो हि भवेद् येषु निरर्थकः ॥२०॥

पदार्थ—

अनारभ्याः—आरम्भ न करने योग्य
भवन्ति—होते हैं
अर्थाः—कर्म
केचित्—कुछ
नित्यम्—नित्य
तथागताः—उस प्रकार के
कृतः—किया हुआ
पुरुषकारः—पुरुषार्थ
हि—निश्चय से
भवेत्—होवे
येषु—जिन में
निरर्थकः—फलरहित ।

## व्याख्या—

कुछ कर्म स्वभाव से ही करने योग्य नहीं होते (जैसे प्रबल के साथ विरोध कर्म) उसी प्रकार वे भी करने योग्य नहीं होते जिन में किया गया पुरुषार्थ प्रयत्न निष्फल हो ॥२०॥

**प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।**
**न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥२१॥**

## पदार्थ—

प्रसादः—प्रसन्नता
निष्फलः—फल रहित [है]
यस्य—जिसका
क्रोधः—क्रोध
च—और
अपि—भी
निरर्थकः—फलरहित
न—नहीं
तम्—उस
भर्तारम्—स्वामी को
इच्छन्ति—चाहते हैं
षण्ढम्—नपुंसक
पतिम्—पति को
इव—जैसे
स्त्रियः—स्त्रियां ।

## व्याख्या—

जिस स्वामी व राजा का प्रसाद (=प्रसन्नता) निष्फल हो और क्रोध भी निरर्थक हो, ऐसे स्वामी को भृत्य वा प्रजाएं नहीं चाहते, जैसे नपुंसक पति को स्त्रियाँ नहीं चाहतीं ॥२१॥

**कांश्चिदर्थान् नरः प्राज्ञो लघुमूलान् महाफलान् ।**
**क्षिप्रमारभते कर्तुं न विघ्नयति तादृशान् ॥२२॥**

## पदार्थ—

काँश्चित्—किन्हीं
अर्थान्—अर्थों (कार्यों) को
नरः—मनुष्य
प्राज्ञः—बुद्धिमान्
लघुमूलान्—छोटे (साधारण) उपायों से सिद्ध होने वालों को
महाफलान्—बड़े फल वालों को
क्षिप्रम्—शीघ्र

| | |
|---|---|
| आरभते—आरम्भ करता हैं | विघ्नयति—छोड़ता है |
| कर्तुम्—करना | तादृशान्—उस प्रकार के |
| न—नहीं | [कर्मों] को। |

## व्याख्या—

बुद्धिमान् मनुष्य साधारण उपायों से सिद्ध होनेवाले बड़े फल-वाले कर्मों को शीघ्र आरम्भ करता है, उस प्रकार के कर्मों को छोड़ता नहीं ॥२२॥

**ऋजुः पश्यति यः सर्वं चक्षुषानुपिबन्निव ।**
**आसीनमपि तूष्णीकम् अनुरज्यति तं प्रजाः ॥२३॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| ऋजुः—सरल [दृष्टि से] | आसीनम्—बैठे हुए को |
| पश्यति—देखता है | अपि—भी |
| यः—जो | तूष्णीकम्—चुप चाप |
| सर्वम्—सबको, | अनुरज्यति—अनुराग दर्शाती हैं |
| चक्षुषा—आंखों से | तम्—उसको |
| अनुपिबन्—पीते हुए के | प्रजाः—प्रजाएं। |
| इव—समान, | |

## व्याख्या—

जो राजा सम्पूर्ण प्रजा को प्रीतिमय चक्षु से पीते हुए के समान दया दृष्टि से देखता है अर्थात् दर्शन से तृप्त करता है, ऐसे चुपचाप बैठे हुए राजा को भी प्रजा अनुराग दिखाती है ॥२३॥

**सुपुष्पितः स्याद् अफलः फलितः स्याद् दुरारुहः ।**
**अपक्वः पक्वसंकाशो न तु शीर्येत कर्हिचित् ॥२४॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| सुपुष्पितः—अच्छे पुष्पों वाला | स्यात्—होवे |
| स्यात्—होवे | दुरारुहः—कठिनाई से चढ़ने योग्य, |
| अफलः—फल रहित, | |
| फलितः—फल वाला | अपक्वः—बिना पका |

पक्वसंकाशः—पके के समान [होवे]
न—नहीं
तु—निश्चय से
शीर्येत—नष्ट होवे
कर्हिचित्—कभी भी।

## व्याख्या—

जो राजा व स्वामी सुपुष्पित अर्थात् वाणी और चक्षु से अनुग्रह दिखाता हुआ भी अफल=धन आदि से भृत्य को न बढ़ाने वाला, फलित अर्थात् धन आदि देने वाला होता हुआ भी दुरारुह अर्थात् भृत्यों के वश में नहीं होता और अपक्व अर्थात् भीतर से बलरहित होता हुआ भी पक्वसंकाश=बलवान् के समान व्यवहार करता है वह कभी नष्ट नहीं होता ॥२४॥

**चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।**
**प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति ॥२५॥**

## पदार्थ—

चक्षुषा—दृष्टि से
मनसा—मन से
वाचा—वाणी से
कर्मणा—कर्म=दान आदि से
च—और
चतुर्विधम्—चार प्रकार से
प्रसादयति—प्रसन्न करता है
यः—जो
लोकम्—प्रजा को
तम्—उसको
लोकः—प्रजा
अनुप्रसीदति—प्रसन्न करती है।

## व्याख्या—

जो राजा प्रजाओं को दृष्टि, मन, वाणी और दानादि कर्म से चार प्रकार से प्रसन्न करता है, उसको प्रजाएं भी प्रसन्न करती हैं ॥२५॥

**यस्मात् त्रस्यन्ति भूतानि मृगव्याधान्मृगा इव ।**
**सागरान्तामपि महीं लब्ध्वा स परिहीयते ।२६॥**

## पदार्थ—

यस्मात्—जिससे
त्रस्यन्ति—डरती हैं
भूतानि—प्रजाएं
मृगव्याधात्—मृगों के शिकारी से
मृगाः—मृग
इव—जैसे

सागरान्ताम्—सागर पर्यन्त
अपि—भी
महीम्—भूमि को
लब्ध्वा—प्राप्त करके
सः—वह
परिहीयते—[प्रजाओं से] छोड़ा जाता है। (नष्ट हो जाता है।)

## व्याख्या—

जिस राजा से प्रजाएँ शिकारी से मृग के समान डरती हैं वह राजा सागरान्त महती पृथिवी को प्राप्त करके भी नष्ट हो जाता है।

**विशेष**—राजा शब्द का मूल अर्थ ही रञ्जन=प्रसन्न करने वाला है। **राजा प्रकृतिरञ्जनात्।** इस लिए जिस राजा के राज्य में प्रजाएँ प्रसन्न रहती हैं वह चिरकाल तक पृथिवी का भोग करता है जिस के अत्याचार से प्रजाएँ डरती हैं उसका राज्य, चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो नष्ट हो जाता है अंग्रेजों का राज्य इस भूमण्डल पर सब से बड़ा था उसके राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं होता था। वह इतना महान् राज्य भी प्रायः देखते देखते नष्ट हो गया और रहा सहा भी नष्ट हो रहा है। इसलिए नीतिकारों का कथन है कि जो अपने राज्य को सुदृढ़ और स्वामी बनाना चाहता हैं वह प्रजा को सदा प्रसन्न रखने का प्रयत्न करे ॥२६॥

**पितृपैतामहं राज्यं प्राप्तवान् स्वेन कर्मणा।**
**वायुरभ्रमिवासाद्य भ्रंशयत्यनये स्थितः ॥२७॥**

## पदार्थ—

पितृपैतामहम्—पिता पितामह से आया हुआ अर्थात् पारम्परिक
राज्यम्—राज्य को
प्राप्तवान्—प्राप्त हुआ
स्वेन—अपने
कर्मणा—कर्म से,
वायुः—वायु
अभ्रम्—मेघ को
इव—जैसे
आसाद्य—प्राप्त होकर
भ्रंशयति—नष्ट करता है
अनये—अनीति में
स्थितः—वर्तमान।

### व्याख्या—

पिता पितामह आदि की परम्परा से राज्य को प्राप्त हुआ अनीति में वर्तमान राजा अपने कर्म से उसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे वायु मेघ को प्राप्त हो कर उसे नष्ट कर देता है ॥

**विशेष**—अभ्र शब्द का मूल अर्थ अल्प जल वाले श्वेतवर्ण के छोटे छोटे बादल हैं। परन्तु समान्य रूप से यह मेघ मात्र के लिए भी प्रयुक्त होता है ॥२७॥

धर्ममाचरतो राज्ञः सद्भिश्चरितमादितः ।
वसुधा वसुसम्पूर्णा वर्धते भूतिवर्धिनी ॥२८॥

### पदार्थ—

धर्मम्—धर्म का
आचरतः—आचरण करते हुए
राज्ञः—राजा का
सद्भिः—सत्पुरुषों द्वारा
चरितम्—आचरण किया गया [धर्म]
आदितः—आरम्भ काल से
वसुधा—पृथिवी
वसुसम्पूर्णा—धनधान्य से भरपूर
वर्धते—बढ़ती है
भूतिवर्धिनी—ऐश्वर्य को बढ़ाने वाली।

### व्याख्या—

जो राजा आदिकाल से सत्पुरुषों के द्वारा आचरित धर्म का आचरण करता है उसकी धनधान्य से पूर्ण और प्राणियों को बढ़ानेवाली पृथिवी बढ़ती है अर्थात् उसका राज्य बढ़ता है ॥२८॥

अथ संत्यजतो धर्मम् अधर्मं चानुतिष्ठतः ।
प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा ॥२९॥

### पदार्थ—

अथ—और।
संत्यजतः—छोड़ते हुए की
धर्मम्—धर्म को
अधर्मम्—अधर्म को
च—और
अनुतिष्ठतः—आचरण करते हुए की
प्रतिसंवेष्टते—संकुचित हो जाती है

भूमिः—पृथिवी
अग्नौ—अग्नि में
चर्म—चमड़ा
आहितम्—रखा हुआ
यथा—जैसे।

### व्याख्या—

तथा धर्म का परित्याग और अधर्म का अनुष्ठान करने वाले राजा की भूमि अग्नि में रखे गए चमड़े के समान संकुचित हो जाती है अर्थात् राज्य संकुचित हो जाता है अथवा भूमि पूर्ण फल देनेवाली नहीं होती ॥२९॥

**य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रविमर्दने।**
**स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥३०॥**

### पदार्थ—

यः—जो
एव—ही
यत्नः—प्रयत्न
क्रियते—किया जाता है
परराष्ट्रविमर्दन—अन्य के राज्य को नष्ट करने में
सः—वही
एव—ही
यत्नः—प्रयत्न
कर्तव्य—करना चाहिए
स्वराष्ट्रपरिपालने—अपने राज्य की रक्षा में।

### व्याख्या—

राजा को चाहिए कि वह जो प्रयत्न दूसरे के राज्य को नष्ट करने के लिए करता है [उसे न करके] वही प्रयत्न अपने राज्य की रक्षा के लिए करना चाहिए ॥३०॥

**धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत्।**
**धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥३१॥**

### पदार्थ—

धर्मेण—धर्म से
राज्यम्—राज्य को
विन्देत—प्राप्त करे,
धर्मेण—धर्म से
परिपालयेत्—पालन करे।
धर्ममूलां—धर्म है मूल जिसका ऐसे
श्रियम्—ऐश्वर्य को

प्राप्य—प्राप्त होकर
न—नहीं
जहाति—[ऐश्वर्य] छोड़ता है
न—नहीं
हीयते—[ऐश्वर्य से] छोड़ा जाता है।

## व्याख्या—

राजा को चाहिए कि वह धर्म से राज्य को प्राप्त करे और धर्म से उसका पालन करे। इस प्रकार धर्ममूलक ऐश्वर्य को प्राप्त होकर वह राजा न ऐश्वर्य को छोड़ता है और न ऐश्वर्य के द्वारा छोड़ा जाता है ॥३१॥

अप्युन्मत्तात् प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः।
सर्वतः सारमादद्याद् अश्मभ्य इव काञ्चनम् ॥३२॥

## पदार्थ—

अपि—भी
उन्मत्तात्—पागल से
प्रलपतः—असम्बद्ध भाषण करने वाले
बालात्—बालक से
च—और
परिजल्पतः—वाचाल से
सर्वतः—सबसे
सारम्—सारको
आदद्यात्—ग्रहण करे
अश्मभ्यः—पत्थर से
इव—जैसे
काञ्चनम्—सोने को

## व्याख्या—

जैसे पत्थर में से सोने को ग्रहण करते हैं उसी तरह पागल, प्रलाप करने वाले, बालक और वाचाल (बकवासी) से भी सारभूत अंश को ग्रहण करे ॥३२॥

सुव्याहृतानि सूक्तानि सुकृतानि ततस्ततः।
संचिन्वन् धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा ॥३३॥

## पदार्थ—

सुव्याहृतानि—अच्छे कहे गये (पाण्डित्यपूर्ण) वचनों को
सूक्तानि—अच्छे प्रकार कहे गये (माता पिता आदि के) वचनों का

सुकृतानि—अच्छे कर्मों को
ततस्ततः—जहां तहां से
संचिन्वन्—इकट्ठा करता हुआ
धीरः—धैर्यवान्
आसीत्—बैठे
शिलाहारी—अन्न की मञ्जरियों सिट्टियों को उठाने वाला
शिलम्—अन्न मञ्जरी (सिट्टी) को
यथा—जैसे

## व्याख्या—

शिलाहारी (खेत काट लेने पर खेत में बिखरी हुई अन्न की मञ्जरी को उठाने हारा) जैसे (इधर उधर बिखरी हुई) शिलाओं (अन्न मञ्जरियों) को चुनता हैं वैसे ही धीर पुरुष अच्छे कहे गये वचनों (=पाण्डित्यपूर्ण वचनों), अच्छी उक्तियों, अच्छे कर्मों को जहां-तहां अर्थात् सब स्थानों से इकट्ठा करे ॥

**विशेष**—अनेक कोषकारों ने शिला का अर्थ उञ्छ किया है, वह ठीक नहीं है। मनु ४।१० में **वर्त्तयंश्च शिलोञ्छाभ्याम्** में द्विवचन का प्रयोग होने से इन दोनों में भेद है यह स्पष्ट है। कुल्लूक भट्ट ने मनु ४।५ को टीका में दोनों का भेद इस प्रकार दर्शाया हैं—"खेत आदि में बिखरे हुए अन्न के एक एक दाने को उठाना उञ्छ कहाता है और अन्न की मञ्जरी=सिट्टियों को चुनना शिल कहाता है। कोशकारों को यह भ्रम धातुपाठ के **शिल उञ्छे** (तुदा० ७२) पाठ में शिल का अर्थ उञ्छ लिखा होने से हुआ है। धातुपाठ का निर्देश दोनों (शिल-उञ्छ) में 'एक एक करके चुगना' रूप सामान्य वृत्ति को लेकर किया गया प्रतीत होता है ॥३३॥

**गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।**
**चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥३४॥**

## पदार्थ—

गन्धेन—गन्ध से
गावः—गौवें
पश्यन्ति—देखती हैं,
वेदैः—वेदों से
पश्यन्ति—देखते हैं
ब्राह्मणाः—ब्राह्मण, ज्ञानी
चारैः—गुप्तचरों से
पश्यन्ति—देखते हैं
राजानः—राजा लोग
चक्षुर्भ्याम्—आंखों से
इतरे—अन्य
जनाः—मनुष्य ।

गौवें अपने खाद्य पदार्थ का ज्ञान गन्ध से प्राप्त करती हैं, ब्राह्मण वेद-पाठी वेदों से [शुभाशुभ कर्मों का] ज्ञान प्राप्त करते हैं, राजा लोग गुप्तचर से [शत्रु के कार्यों को] जानते हैं, अन्य साधारण जन आंखों से ही देखते हैं।

**विशेष**—पाण्डवों के बल और अभिप्राय को जानने के लिए गुप्तचरों को नियुक्त करो, यह भाव टीकाकार ने दर्शाया है ॥३५॥

**भूयांसं क्लेशं लभते या गौर्भवति दुर्दुहा।**
**अथ या सुदुहा राजन्नैव तां वितुदन्त्यपि ॥३५॥**

## पदार्थ—

भूयांसम्—अत्यधिक
क्लेशम्—दुःख को
लभते—प्राप्त होती है
या—जो
गौः—गाय
भवति—होती है
दुर्दुहा—कठिनाई से दुहाने वाली।
अथ—तथा
या—जो
सुदुहा—सुगमता से दुहाने वाली
राजन्—हे राजन्!
नैव—नहीं
ताम्—उसको
वितुदन्ति—पीड़ा देते हैं
अपि—भी।

## व्याख्या—

हे राजन्! जो गौ कठिनाई से दुहाती है वह बहुत दुःखों को प्राप्त होती है। [दुहनेवाले उसे विविध प्रकार का कष्ट देते हैं] और जो गौ सुगमता से दुहाती है उसको कोई कष्ट नहीं देता ॥३५॥

**यदतप्तं प्रणमति न तत् सन्तापयन्त्यपि।**
**यच्च स्वयं नतं दारु न तत् सन्तापयन्त्यपि ॥३६॥**

## पदार्थ—

यत्—जो
अतप्तम्—बिना तपाया हुआ, पीड़ा पहुंचाया हुआ
प्रणमति—झुक जाता है,
न—नहीं
तत्—उसको
सन्तापयन्ति—तपाते हैं, पीड़ा पहुँचाते हैं।

| | |
|---|---|
| अपि--भी | दारु—काष्ठ को |
| तत्—जो | न—नहीं |
| च—और | तत्—उसको |
| स्वयम्—अपने आप | सन्तापयन्ति—तपाते हैं |
| नतम्—झुका हुआ है | अपि--भी |

## व्याख्या—

जो व्यक्ति बिना पीड़ा पहुँचाए ही झुक जाता है नम्र हो जाता है उस को कोई पीड़ा नहीं देता। जैसे स्वयं झुके हुए काष्ठ को नहीं तपाया जाता है।

**विशेष**—जैसे काष्ठ को यथायोग्य रूप में मोड़ने के लिए उसे अग्नि में तपाया जाता है जिस से वह नरम होकर उचित प्रमाण में मोड़ा जा सकता है, टूटता नहीं। इसी प्रकार हे धृतराष्ट्र! तुम्हें भी पाण्डवों के प्रति नम्र बनना चाहिए ॥३६॥

**एतयोपमया धीरः सन्नमेत बलीयसे।**
**इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥३७॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| एतया—इस | सः—वह |
| उपमया—उपमा से | प्रणमते—नम्र होता है, नमस्कार करता है |
| धीरः—बुद्धिमान् | नमते—नम्र होता है |
| सन्नमेत—झुक जाये, नम्र हो जाये | यः—जो |
| बलीयसे--बलवान् के प्रति | बलीयसे—बलवान् के प्रति। |
| इन्द्राय—इन्द्र के लिए | |

## व्याख्या—

उपर्युक्त (श्लोक ३६ में दी गई) उपमा से यह समझ लेना चाहिए कि जो बुद्धिमान् है उसे अपने से बलवान् के प्रति झुक जाना चाहिए। जो पुरुष बलवान् के प्रति झुकता है वह इन्द्र=बल की देवता के प्रति झुकता है ऐसा समझना चाहिए।

**विशेष**—इन्द्र को बल का अधिष्ठाता माना गया है। आधिदैविक जगत् में मध्यस्थानी विद्युच्छक्ति का नाम इन्द्र है (द्र० निरु० अ० ७)। वह बल का अधिष्ठाता है अर्थात् अन्य सभी द्रव्यों की अपेक्षा वह अधिक बलवान् है। इसीलिए निरुक्त (अ० ७) में कहा भी है—**या का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्**—अर्थात् अन्य पदार्थों में जो कोई भी बल =शक्ति का कार्य देखा जाता है वह इन्द्र का (=विद्युत् शक्ति) का ही कार्य है। मानवजगत् में भी प्राचीन काल में देव जाति के सबसे बलवान् व्यक्ति को इन्द्र नाम से पुकारा जाता था। इसलिए यदि किसी राजा को कुछ समय के लिए अपने से बलवान् शत्रु के प्रति नम्रता वर्तनी पड़ती है तो उससे उसे दुःखी न होना चाहिए। उसे यह समझना चाहिए कि वह उस शत्रु के प्रति नहीं झुक रहा है अपितु इन्द्र रूपी शक्ति देव के प्रति झुक रहा है ॥३७॥

**पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मन्त्रिबान्धवाः ।**
**पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबान्धवाः ॥३८॥**

## पदार्थ—

पर्जन्यनाथाः—मेघ हैं रक्षक जिसके, ऐसे
पशवः—पशु [होते हैं]
राजानः—राजा
मन्त्रिबान्धवाः—मन्त्री हैं सहायक जिनके, ऐसे
पतयः—पति
बान्धवाः—रक्षक वा सहायक [होते हैं]
स्त्रीणाम्—स्त्रियों के
ब्राह्मणाः—ब्राह्मण
वेदबान्धवाः—वेद के रक्षक।

## व्याख्या—

मेघ पशुओं के रक्षक होते हैं। राजा मन्त्रियों से सहायता प्राप्त करते हैं। पति स्त्रियों के रक्षक एवं सहायक होते हैं और ब्राह्मण वेद की रक्षा करते हैं।

**विशेष**—पूर्व श्लोक में कहा गया कि राजा को कभी-कभी नम्रता वर्तनी पड़ती है। अपने मन्त्रियों के साथ परामर्श करके राजा इस प्रकार की नम्रता की नीति का आचरण करें ॥३८॥

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥३९॥

**पदार्थ—**

सत्येन्—सत्य के द्वारा
रक्ष्यते—रक्षित होता है
धर्मः—धर्म,
विद्या—विद्या
योगेन—योग (=अभ्यास) द्वारा
रक्ष्यते—रक्षित होती है,
मृजया—उद्वर्त्तन द्वारा
रक्ष्यते—रक्षित होता है
रूपम्=रूप,
कुलम्—कुल
वृत्तेन—आचरण द्वारा
रक्ष्यते—रक्षित होता है ।

**व्याख्या—**

सत्य के द्वारा धर्म की रक्षा होती है, अभ्यास से विद्या की रक्षा होती है, रूप की रक्षा उद्वर्त्तन द्वारा होती है तथा कुल की रक्षा चरित्र (आचरण) द्वारा होती है ॥३९॥

मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रमः ।
अभीक्ष्णदर्शनं गाश्च स्त्रियो रक्ष्याः कुचैलतः ॥४०॥

**पदार्थ—**

मानेन—तौल से
रक्ष्यते—रक्षित होता है ।
धान्यम्—अन्न,
अश्वान्—घोड़ों को
रक्षति—रक्षा करता है
अनुक्रमः—प्रशिक्षण,
अभीक्षणदर्शनम्—पुनः पुनः देखना
गाः—गौओं को
च—और
स्त्रियः—स्त्रियां
रक्ष्याः—रक्षणीय [होती है]
कुचैलतः—कुत्सित वस्त्रों से ।

**व्याख्या—**

अन्न की रक्षा तौल से होती है, निरन्तर प्रशिक्षण से घोड़ों की रक्षा है अर्थात् उनमें शिथिलता नहीं आती । निरन्तर ध्यान रखने से गौओं की रक्षा होती है और स्त्रियों को कुत्सित वस्त्रों से बचाना चाहिए अर्थात् उन्हें शुद्ध सात्त्विक वस्त्र धारण कराने चाहियें ॥४०॥

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः ।
अन्तेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥४१॥

पदार्थ—

न—नहीं
कुलम्—कुल
वृत्तहीनस्य—आचारहीन का
प्रमाणम्—प्रमाण [है]
इति—ऐसी
मे—मेरी
मतिः—मति=मत है ।
अन्तेषु—अन्त में [शूद्रों में]
अपि—भी
हि—निश्चय से
जातानाम्—पैदा हुओं का
वृत्तम्—आचार
एव—ही
विशिष्यते—विशेष माना जाता है।

व्याख्या—

आचार हीन पुरुष का [उत्तम] कुल [उसकी श्रेष्ठता में] प्रमाण नहीं है यह मेरा विचार है । अन्त्यवर्ण में उत्पन्न हुओं का भी वृत्त-आचार ही विशेष माना जाता ।

अभिप्राय यह है कि एक पुरुष आचार से हीन है परन्तु उत्तम कुल में उत्पन्न होने से श्रेष्ठ नहीं मानना चाहिए । इसी प्रकार नीच कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति यदि आचारवान् है तो वह श्रेष्ठ है, उसे कुल की निम्नता से नीच नहीं समझना चाहिए । ४१॥

य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये ।
सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः ॥४२॥

पदार्थ—

यः—जो
ईर्षुः—ईर्ष्या करने वाला है
परवित्तेषु—दूसरों के धन के विषय में
रूपे—रूप के विषय में
वीर्ये—बल पराक्रम के विषय में
कुलान्वये—उत्तम कुल में उत्पन्न होने के विषय में
सुखसौभाग्यसत्कारे—सुख, सौभाग्य और सत्कार के विषय में
तस्य—उसकी
व्याधिः—पीड़ा, दुःख
अनन्तकः—बिना अन्तवाला है।

### व्याख्या—

जो पुरुष दूसरे पुरुष के धन, रूप, पराक्रम, कुल, सुख, सौभाग्य, एवं आदर सत्कार के विषय में ईर्ष्या करनेवाला है उस पुरुष की पीड़ा, दुःख अन्त वाले नहीं होते अर्थात् वह सदा दुःखी रहता है ॥४२॥

**अकार्यकरणाद् भीतः कार्याणां च विवर्जनात् ।**
**अकाले मन्त्रभेदाच्च येन माद्येन्न तत् पिबेत् ॥४३॥**

### पदार्थ—

अकार्यकरणात्—अनुचित कार्य करने से
भीतः—डरा हुआ
कार्याणाम्—करने योग्य कार्यों के
च—और
विवर्जनात्—छोड़ देने से
अकाले—काल के विना (= इष्ट-सिद्धि से पूर्व)
मन्त्रभेदात्—विचार के प्रकट होने से
च—और
येन—जिससे
माद्येत्—मत्त हो जावे (सुध-बुध खो देवे)
न—नहीं
तत्—उसे
पिबेत्—पीवे ।

### व्याख्या—

मनुष्य को चाहिए वह अकार्य=अनुचित कार्य के करने से डरता रहे, इसी प्रकार उचित कार्यों के परित्याग एवं समय से (इष्ट-सिद्धि से) पूर्व मन्त्र =विचार के प्रकट होने से डरता रहे, तथा जिसके [मद्य आदि] के पीने से पुरुष सुध बुध खो बैठे उसे न पीवे ।

**विशेष**—अगले श्लोक में विद्या आदि अन्य ऐसे मदों का भी उल्लेख किया है जिनके वशीभूत होकर मनुष्य अपनी सुध-बुध खो बैठता है, अतः उत्तर मदों के प्रसंग से इस श्लोक के चतुर्थ चरण का यह भी भाव समझना चाहिए कि जिन लोभ आदि मदों के कारण पुरुष विवेकहीन हो जाता है, उन्हें न पीवे अर्थात् उनका आश्रय न लेवे ॥४३॥

**विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः ।**
**मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥४४॥**

## पदार्थ—

विद्यामदः—विद्या का मद
धनमदः—धन का मद
तृतीयः—तीसरा
अभिजनः—सहायक
मदः—मद है,
मदाः—मद [हैं]
एते—ये
अवलिप्तानाम्—अवलिप्त हुओं (उन्हीं में डूबे हुओं) का
एते—ये
एव—ही
सताम्—सत्पुरुषों के (अलिप्त पुरुषों के)
दमाः—दम हैं [शान्ति देने वाले हैं]।

## व्याख्या—

लोक में विद्या, धन और सहायकों का होना ये तीन मद होते हैं। जो व्यक्ति इन्हीं विषयों में डूबे हुए हैं उनके लिए तो ये मद=बुद्धि को भ्रष्ट करने वाले होते हैं और ये ही सत्पुरुषों के दम (मद की उल्टा=दम) शान्ति देने वाले होते हैं।

**विशेष**—अभिजन शब्द का अर्थ टीकाकार नीलकण्ठ ने सहायक (मित्र) किया है। अभिजन का एक अर्थ है। **यत्र पूर्वैरुषितम्**—(महाभाष्य ४।३।९०) जहां पूर्व पुरुषों का आवास था अतः अभिजन शब्द से पूर्व पुरुषों के आवास=देश वा काल भी ग्रहण हो सकता है। पूर्व पुरुषों के देश वा कुल का भी मद लोक में देखा जाता है ॥४४॥

**असन्तोऽभ्यर्थिताः सद्भिः क्वचित् कार्ये कदाचन।**
**तावन्न तस्य सुकृतं किञ्चित् कार्यं कदाचन।**
**मन्यन्ते सन्तमात्मानमसन्तमपि विश्रुतम् ॥४५॥**

## पदार्थ—

असन्तः—असत्पुरुष
अभ्यर्थिताः—चाहे हुए
सद्भिः—सत्पुरुषों से
क्वचित्—किसी
कार्ये—कार्य में (कार्य के लिए)
कदाचन—किसी समय
तावत्—तब तक अथवा पहले ही
न—नहीं
तस्य—उसका
सुकृतम्—अच्छा किया
किञ्चित्—कुछ भी
कार्यम्—कार्य को

कदाचन—कभी भी
मन्यन्ते—मानते हैं
सन्तम्—अच्छा
आत्मानम्—अपने आप को
असन्तम्—बुरे होते हुए को
अपि—भी
विश्रुत—प्रसिद्ध को ।

**विशेष**—इस श्लोक के तृतीय चतुर्थ चरण का अन्वय इस प्रकार समझना चाहिए='तस्य कार्यं किञ्चिदपि यावत् सुष्ठु न कृतं तावदेव मन्यन्ते ।, अर्थात् उस प्रार्थना करने वाले सत्पुरुष के कार्य को कुछ भी अच्छा न करके अर्थात् क्रिया से पूर्व ही अपने को सत्पुरुष मानने लगते हैं ।

## व्याख्या—

[लोक में देखा जाता है कि] कभी किसी कार्य में सत्पुरुषों के द्वारा असत् पुरुषों को अभ्यर्थित करने पर अर्थात् चाहने पर वे असत् पुरुष उसके कार्य को कुछ भी अच्छा न करके पहले ही स्वयं असत् होते हुए भी अपने आपको सत्पुरुष मानने लग जाते हैं ।

इस पद्य का भाव यह है सत्पुरुषों को चाहिए कि जहाँ तक हो सके असत्पुरुष को अपने किसी कार्य में न लगावे ।।४५।।

**गतिरात्मवतां सन्तः सन्त एव सतां गतिः ।**

**असतां च गतिः सन्तो न त्वसन्तः सतां गतिः ।।४६।।**

## पदार्थ—

गतिः—गति=सहारा
आत्मवताम्—प्राणियों का
सन्तः—सत्पुरुष [हैं],
सन्तः—सत्पुरुष
एव—ही
सताम्—सत्पुरुषों का
गतिः—सहारा [हैं] ।
असताम्—असत्पुरुषों का
च—भी
गतिः—सहारा
सन्तः—सत्पुरुष [ही हैं]
न—नहीं
तु—तो
असन्तः—असत् पुरुष
सताम्—सत् पुरुषों का
गतिः—सहारा [हैं] ।

### व्याख्या—

प्राणियों की गति अर्थात् सहारा सत्पुरुष ही होते हैं, सत्पुरुषों का सहारा भी सत्पुरुष ही होते हैं, असत्पुरुषों का सहारा भी सत्पुरुष ही होते हैं, असत्-पुरुष सत्पुरुषों के कभी सहारा नहीं होते।

इसका भाव यह है कि सत्पुरुष प्राणिमात्र चाहे वह सत् हो अथवा असत् सबकी गति=सहारा होते हैं अर्थात् सबकी सहायता करने वाले होते हैं असत् पुरुष तो सत्पुरुषों के भी सहायक नहीं होते। इससे यह ध्वनित किया है कि समय पड़ने पर पाण्डव तो तेरे सहायक उपकारक बनेंगे परन्तु तुम उनके सहायक या उपकारक नहीं बनोगे ।।४६।।

**जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता।**
**अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम् ।।४७।।**

### पदार्थ—

जिता—जीती गई
सभा—सभा
वस्त्रवता—अच्छे वस्त्र वाले से,
मिष्टाशा—मिठाई की इच्छा
गोमता—गायवाले से
जिता—जीती गई
अध्वा—मार्ग
जितः—जीता गया
यानवता—सवारी वाले से,
सर्वम्—सबको
शीलवता—शील=उत्तमस्वभाव वाले ने
जितम्—जीत लिया है।

### व्याख्या—

अच्छे वस्त्र पहनने वाले से सभा जीती जाती है अर्थात् सभा में वह सम्मानित होता है, गाय रखने वालों से सब प्रकार की मिठाई की इच्छा जीत ली जाती है अर्थात् गाय जिसके पास होगी वह उसके घी दूध से सभी प्रकार की मिठाई बनाकर खा सकता है, जिसके पास सवारी है उससे मार्ग जीता जाता है अर्थात् उसे मार्ग में पैदल चलने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। शीलवान्—अच्छे स्वभाव वाले पुरुष से सब कुछ जीत लिया जाता है अर्थात् उसे सभी अच्छा मानते हैं ।।४७।।

**शीलं प्रधानं पुरुषे तद् यस्येह प्रणश्यति ।**
**न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभिः । ४८॥**

## पदार्थ—

शीलम्—शील (उत्तम स्वभाव)
प्रधानम्—मुख्य [ है ]
पुरुषे—पुरुष में;
तत्—वह [शील]
यस्य—जिस का
इह—इस लोक में
प्रणश्यति—नष्ट हो जाता है
न—नहीं
तस्य—उस का
जीवितेन—जीने से
अर्थः—प्रयोजन [होता है]
न—नहीं
धनेन—धन से
न—नहीं
बन्धुभिः—बन्धुओं से

## व्याख्या—

पुरुष में शील (उत्तम स्वभाव) ही प्रमुख है। इस कारण इस लोक में वह शील जिस पुरुष का नष्ट हो जाता है उसका न जीने से प्रयोजन हैं न धन से, न बन्धुओं से। अर्थात् उस का जीना व्यर्थ है ॥४८॥

**आढ्यानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम् ।**
**तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ ॥४६॥**

## पदार्थ—

आढ्यानाम्—धनवानों का
मांसपरमम्—मांसप्रधान,
मध्यानाम्—मध्य स्थिति वालों का
गोरसोत्तरम्—गोरस=घी दूध दही आदि प्रधान
तैलोत्तरम्—तैल प्रधान
दरिद्राणाम्—दरिद्रों का
भोजनम्—भोजन [होता है]
भरतर्षभ—हे भरत कुल में श्रेष्ठ !

## व्याख्या—

हे भरत कुल में श्रेष्ठ धृतराष्ट्र ! धनवान् पुरुषों के भोजन में माँस की प्रधानता होती है, मध्य स्थिति वालों के भोजन में गोरस=दूध दही की प्रधानता होती है और दरिद्र पुरुषों के भोजन में तैल की प्रधानता होती है ॥४६॥

सम्पन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुञ्जते सदा ।
क्षुत्स्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा ॥५०॥

पदार्थ—

सम्पन्नतरम्—बहुत उत्तम
एव—ही
अन्नम्—अन्न को
दरिद्राः—दरिद्र पुरुष
भुञ्जते—खाते हैं
सदा—सर्वदा ।
क्षुत्—क्षुधा (भूख)
स्वादुताम्—स्वादुपन को
जनयति—उत्पन्न करती है ।
सा—वह
च—और
आढ्येषु—धनवानों में
सुदुर्लभा—बहुत कठिनता से प्राप्त होने वाली है ।

व्याख्या—

दरिद्र पुरुष सदा बहुत उत्तम अन्न को खाते हैं क्योंकि भूख [उनके अन्न में] स्वादुपन को उत्पन्न कर देती है। वह स्वादुपन धनवानों के प्रति दुर्लभ है क्योंकि उन्हें स्वस्थ भूख कभी लगती ही नहीं, वे प्रायः मन्दाग्नि से पीड़ित रहते हैं।

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।
जीर्यन्त्यपि हि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते ॥५१॥

पदार्थ—

प्रायेण—बहुत करके
श्रीमताम्—धनवानों की
लोके—लोक में
भोक्तुम्—खाने के लिए
शक्तिः—सामर्थ्य
न—नहीं
विद्यते—होता है ।
जीर्यन्ति—पच जाते हैं
अपि—भी
हि—निश्चय से
काष्ठानि—लकड़ियाँ
दरिद्राणाम्—दरिद्र पुरुष को
महीपते—हे राजन् !

व्याख्या—

हे राजन् प्रायः करके लोक में देखा जाता है कि धनाढ्य पुरुषों में खाने की शक्ति नहीं होती। उन्हें भूख नहीं लगती। और दरिद्र पुरुषों को तो लड़कियां भी पच जाती हैं।

**विशेषः**—ये तीन श्लोक इस प्रकरण में पूर्णतया संवद्ध प्रतीत नहीं होते। पूर्व प्रकरण में सत्पुरुष शील और मद का प्रकरण है और इस ५१ वें श्लोक के पश्चात् भी प्रकारान्तर से उन्हीं का निर्देश है। अतः मध्य में ये श्लोक असंबद्ध से प्रतीत होते हैं। टीकाकार नील कण्ठ ने इनका सम्वन्ध प्रकरण से लगाने के लिए लिखा है कि ऐश्वर्य प्राप्ति की अपेक्षा शील की रक्षा करते हुए दारिद्रय प्राप्ति भी हो जाए तो भी वह अच्छी है क्योंकि दरिद्र पुरुष को भोजन में जो स्वाद आता है वह धनाढ्यों के लिए अत्यन्त दुर्लभ है ॥५१॥

**अवृत्तिर्भयमन्त्यानां मध्यानां मरणाद् भयम् ।**
**उत्तमानां तु मर्त्यानामवमानात् परं भयम् ॥५२॥**

## पदार्थ—

अवृत्तिः—निर्वाह के साधन का अभाव
भयम्—भय [होता है]।
अन्त्यानाम्—साधारण जनों को
मध्यानाम्—मध्य कोटि के पुरुषों को
मरणाद्—मृत्यु से
भयम्—भय [होता है]।
उत्तमानाम्—उत्तमों को
तु—निश्चय से
मर्त्यानाम्—मनुष्यों को
अवमानात्—अपमान से
परम्—अत्यन्त
भयम्—भय [होता है]।

## व्याख्या—

साधारण जनों को अवृत्ति=निर्वाह के साधन से अभाव रूपी भय होता है, मध्यम जनों को मृत्यु से भय होता है, उत्तम जनों को तो अपमान से महान् भय होता है।

**विशेषः**—मनुस्मृति (२।१६२) में लिखा है—

**सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।**
**अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥**

**अर्थात्**—ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) सम्मान से विष के समान भयभीत हो और अपमान की अमृत के समान आकाङ्क्षा करे।

विदुरनीति के श्लोक में कहा है कि श्रेष्ठपुरुषों को अपमान से परम भय होता है। इसका मनुस्मृति से विरोध नहीं समझना चाहिए, क्योंकि दोनों

का प्रकरण भिन्न-भिन्न है, दोनों के लक्ष्य व्यक्ति भिन्न-भिन्न हैं। विदुरनीति में सांसारिक पुरुषों के तीन विभाग करके उनमें श्रेष्ठों को अपमान का भय लिखा है। मनुस्मृति में जो निर्देश है विद्यार्थी (ब्रह्मचारी) के लिए है। विद्यार्थी यदि सम्मान के चक्कर में पड़ जाएगा तो विद्या सेवञ्चित रह जाएगा। अतः विद्यार्थी को मानापमान रूप द्वन्द्व को सहन करने वाला होना चाहिए। इसमें मनु का तात्पर्य है। ब्राह्मण का अर्थ यहाँ पर है—ब्रह्म वेदमधीते=ब्रह्म वेद को पढ़ाने वाला। अतः यह तीनों वर्ण के ब्रह्मचारियों के लिए सामान्य रूप से प्रयुक्त हुआ है।

**ऐश्वर्यमदपापिष्ठा मदाः पानमदादयः।**
**ऐश्वर्यमदमत्तो हि नापतित्वा विबुध्यते ॥५३॥**

## पदार्थ—

ऐश्वर्यमदपापिष्ठाः—ऐश्वर्य रूपी मद है निन्दिततम जिन से ऐसे
मदाः—मद
पानमदादयः—सुरापान आदि मद
ऐश्वर्यमदमत्तः—ऐश्वर्य रूपी मद से मत्त
हि—निश्चय से
न—नहीं
अपतित्वा—बिना गिरे
विबुध्यते—बोध को प्राप्त होता हैं

## व्याख्या—

ऐश्वर्यमद अन्य सुरापान आदि मदों में निन्दिततम है। ऐश्वर्यमद में मत्त हुआ व्यक्ति बिना गिरे होश में नहीं आता अर्थात् उसका पतन अवश्यंभावी है।

**विशेष**—ऐश्वर्य रूपी मद में मत्त हुए पुरुषों के कार्य कलापों को देखकर प्राचीन पुरुषों ने उस से बचने के लिए विविध प्रकार के कथनोपथन किये हैं। पौराणिक जगत् में लक्ष्मी (ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री देवी) की सवारी उल्लू बताई है जो प्रकाश से दूर रहना चाहता है, अंधकार पसन्द करता है। इस का भाव यही है कि लक्ष्मी जिसके घर में निवास करती है वह प्रायः उल्लू सदृश अविवेकी बन जाता है। हिन्दी के कवि ने भी कहा है—

**कनक-कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।**
**या खाये बौराय नर वा पाये बौराय ॥**

अर्थात्—कनक-धतूरे से कनक=सुवर्ण=सम्पत्ति सौगुनी अधिक मादकता दिखाती है। कनक=धतूरे को खाकर मनुष्य पागल होता है और कनक=सुवर्ण=सम्पत्ति को पाकर ही पागल हो जाता है।

इसी दृष्टि से ईसामसीह ने भी कहा है—सूई के सुराख में से ऊँट गुजर सकता है परन्तु स्वर्ग के द्वार से धनी नहीं गुजर सकता।

यह सब निर्देश अविनीत पुरुषों को सम्पत्ति पाने से जो अनर्थ होता है उसके लिए है। विनीत पुरुष सम्पत्ति को पाकर भी उससे निर्लिप्त रहते हैं, सम्पत्ति की प्राप्ति करके जग का भला करते हैं ॥५३॥

**इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु वर्तमानैरनिग्रहैः ।**
**तैरयं ताप्यते लोको नक्षत्राणि ग्रहैरिव ॥५४॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा | अयं—यह |
| इन्द्रियार्थेषु—इन्द्रिय के शब्दादि विषयों में | ताप्यते—पीड़ित किया जाता है |
| | लोकः—लोक=संसार |
| वर्तमानैः—वर्तमान | नक्षत्राणि—नक्षत्र |
| अनिग्रहैः—असंयमितों द्वारा | ग्रहैः—ग्रहों से |
| तैः—उन से | इव—जैसे |

## व्याख्या—

अपने विषयों में वर्तमान असंयमित इन्द्रियों द्वारा यह जगत् पीड़ित हो रहा है। जैसे ग्रहों=सूर्यादिकों के द्वारा नक्षत्र आक्रान्त होते हैं ॥५४॥

**यो जितः पञ्चवर्गेण सहजेनात्मकर्षिणा ।**
**आपदस्तस्य वर्धन्ते शुक्लपक्ष इवोडुराट् ॥५५॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| यः—जो | आपदः—आपत्तियां |
| जितः—जीता गया (वश में हुआ) | तस्य—उसकी |
| पञ्चवर्गेण—पांच वर्ग से (पांच इन्द्रियों से) | वर्धन्ते—बढ़ती हैं |
| | शुक्लपक्षे—शुक्लपक्ष में |
| सहजेन—सरलता से | इव—जैसे |
| आत्मकर्षिणा—अपनी ओर खेंचने वाले से | उडुराट्—चन्द्रमा। |

### व्याख्या—

जो मनुष्य सरलता से अपनी ओर आकर्षित करने वाली पांच इन्द्रियों के द्वारा वश में किया हुआ है, उसकी आपत्तियां बराबर उसी प्रकार बढ़ती जाती हैं, जैसे शुक्लपक्ष में चन्द्रमा (कलाएं) बढ़ता जाता है।

विशेष—टीकाकार नीलकण्ठ ने श्लोक ५३,५४,५५ के द्वारा यह ध्वनित किया है कि तुम (धृतराष्ट्र) ऐश्वर्यमद से मत्त एवं अजितेन्द्रिय हो, अतः तुम आपत्तियों को अवश्य प्राप्त होवोगे ॥५५॥

**अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते ।**
**अमित्रान् वाऽजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ ५६ ॥**

### पदार्थ—

अविजित्य—बिना जीते
यः—जो
आत्मानम्—स्वयं को
अमात्यान्—मन्त्रियों को
विजिगीषते—जीतने की इच्छा करता है
अमित्रान्—शत्रुओं को
वा—अथवा
अजितामात्यः—जिसने मन्त्रियों को नहीं जीता [वश में नहीं किया]
सः—वह
अवशः—अजितात्मा
परिहीयते—नष्ट हो जाता है।

### व्याख्या—

जो राजा स्वयं अपने को अथवा अपने मन को बिना जीते मन्त्रियों को जीतना चाहता है, तथा मन्त्रियों को बिना वश में किये शत्रुओं को जीतना चाहता है, वह अजितेन्द्रिय राजा नाश को प्राप्त होता है ॥५६॥

**आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण यो जयेत् ।**
**ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥ ५७ ॥**

### पदार्थ—

आत्मानम्—अपने को, अथवा अपने मन को
एव—निश्चय से
प्रथमम्—पहले
द्वेष्यरूपेण—शत्रु रूप से
यः—जो
जयेत्—जीत ले, वश में कर ले
ततः—उसके पश्चात्

अमात्यान्—मन्त्रियों को [वश में कर लेवे]
अमित्रान्—शत्रुओं को
च—और
न—नहीं
मोघम्—व्यर्थ
विजिगीषते—जीतने की इच्छा करता है ।

## व्याख्या—

जो राजा पहले अपने आत्मा को अथवा मन को शत्रु के समान जीत लेवे, और तत्पश्चात् अमात्यों=मन्त्रियों को वश में कर लेवे, उसकी शत्रुओं को जीतने की इच्छा कभी व्यर्थ नहीं होती, अर्थात् वह शत्रुओं को अवश्य जीत लेता है ॥५७॥

**विशेष**—टीकाकार ने यहां 'आत्मानम्' का अर्थ मन किया है ।

**वश्येन्द्रियं जिताऽऽत्मानं धृतदण्डं विकारिषु ।**
**परीक्ष्य कारिणं धीरमत्यन्तं श्रीर्निषेवते ॥५८॥**

## पदार्थ—

वश्येन्द्रियम्—वश में इन्द्रियां हैं जिसके, उसको
जितात्मानम्—जीत लिया आत्मा वा मन को जिसने,
धृतदण्डम्—धारण कर रखा है दण्ड को जिसने, उसको
विकारिषु—बुरा कार्य (चोरी आदि) करने वालों पर
परीक्ष्य—परीक्षा करके
कारिणम्—कार्य करने वाले को
धीरम्—धैर्यवान् को
अत्यन्तम्—अधिक=निरन्तर
श्रीः—लक्ष्मी
निषेवते—सेवन करती है ।

## व्याख्या—

जो राजा इन्द्रियों और आत्मा तथा मन को जीते हुए है, जो अकार्य करने वालों पर दण्ड धारण किये रहता है, अर्थात् उनको सदा दण्ड देता रहता है, और जो परीक्षा करके किसी कार्य को करता है [विना विचारे कार्य नहीं करता], ऐसे धीर पुरुष को लक्ष्मी=ऐश्वर्य निरन्तर सेवन करता है, अर्थात् ऐश्वर्य सदा उसके पास रहता है ॥५८॥

**विशेष**—टीकाकार ने श्लोक से ध्वनित किया है कि 'हे राजन् [= धृतराष्ट्र] तुम अजितेन्द्रिय, अजितमनवाले एवं अमात्य-स्थानीय पुत्रों के वशीभूत हो, इसलिए तुम शत्रुओं = पाण्डवों को जीतकर स्थिर लक्ष्मी को नहीं भोग सकते' ।।५८।।

**रथः शरीरं पुरुषस्य राजन्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः ।**
**तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ।।५९।।**

## पदार्थ—

रथः—रथ
शरीरम्—शरीर
पुरुषस्य—पुरुष का
राजन्—हे राजन्!
आत्मा—आत्मा
नियन्ता—सारथी
इन्द्रियाणि—इन्द्रियां
अस्य—इसके
च—और
अश्वाः—अश्व [हैं]
तैः—उनसे
अप्रमत्तः—प्रमाद न करता हुआ
कुशली—चतुर
सदश्वैः—अच्छे अश्वों से
दान्तैः—वश में किये हुवों से
सुखम्—सुख को
याति—प्राप्त होता है
रथी—रथ वाले (रथ के स्वामी)
इव—के समान
धीरः—धीर (पुरुष)।

## व्याख्या—

हे राजन्! इस पुरुष के शरीर को रथ समझना चाहिये। आत्मा इसका नियन्ता = सारथी है, और इन्द्रियां इसके घोड़े हैं। इन इन्द्रियरूपी घोड़ों से चतुर पुरुष उसी प्रकार लक्ष्य को प्राप्त करता है, जैसे धीर रथी वश में किये हुए उत्तम अश्वों के द्वारा सुखपूर्वक अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त करता है ।।५९।।

**विशेष**—शरीर को रथ एवं मन को सारथी आदि की उपमा वेद, उपनिषद् आदि अनेक ग्रन्थों में दी गई है। यथा—यजुर्वेद अ० ३४, मं० ६ में कहा है—

**सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।**
**हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।**

अर्थात्—अच्छा चतुर सारथी अश्वों को जैसे लगाम के द्वारा गन्तव्य स्थान को ले जाता है, उसी प्रकार जो मनुष्यों को अपने प्राप्तव्य लक्ष्य

(मोक्षादि) को लेजाता है, हृदय में स्थित, जीर्ण (पुराना) न होने वाला एवं शीघ्रगामी वह मेरा मन शिवसंकल्प वाला हो।

कठोपनिषद् १।३।३,४ में कहा है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रगहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्॥

अर्थात्—आत्मा को रथी (रथ में बैठने वाला) समझना चाहिये, तथा शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि, मन को लगाम और इन्द्रियों को अश्व। इन्द्रियों के विषय इन्द्रियरूपी अश्वों के गोचर=विचरने के स्थान हैं॥५९॥

**एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम्।**
**अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम्॥ ६०॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| एतानि—ये [इन्द्रियां] | अविधेयाः—अशिक्षित |
| अनिगृहीतानि—वश में न की हुई | इव—जैसे |
| व्यापादयितुम्—(मारने) नष्ट के लिए | अदान्ताः—उच्छृङ्खल |
| | हयाः—घोड़े |
| अपि—भी | पथि—मार्ग में |
| अलम्—पर्याप्त=समर्थ हैं | कुसारथिम्—निन्दित सारथी को। |

## व्याख्या—

ये वश में न की हुई इन्द्रियां पुरुष को नष्ट करने के लिए भी पर्याप्त हैं (समर्थ हैं)। जैसे अशिक्षित और उच्छृंखल घोड़े मार्ग में प्रमादी सारथी को नष्ट कर देते हैं॥६०॥

**अनर्थमर्थतः पश्यन्नर्थं चैवाप्यनर्थतः।**
**इन्द्रियैरजितैर्बालः सुदुःखं मन्यते सुखम्॥ ६१॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| अनर्थम्—अनर्थ को(अन्याय को) | अर्थम्—अर्थ को |
| अर्थतः—अर्थ के निमित्त | च—और |
| पश्यन्—देखता हुआ | एव, अपि—ही |

अनर्थतः—अन्याय के निमित्त
इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा
अजितैः—जो जीती नहीं उई, उनसे
वालः—मूर्ख
सुदुःखम्—महान् दुःख को भी
मन्यते—मानता है
सुखम्—सुख।

## व्याख्या—

जिसकी इन्द्रियां वश में नहीं हैं, ऐसा मूर्ख व्यक्ति अनर्थ को अर्थ के निमित्त और अर्थ को अनर्थ के निमित्त, ही अर्थात् विपरीत रूप से देखता है। वह मूर्ख अवशीभूत इन्द्रियों के कारण महान् दुःख को भी सुख ही मानता है ॥६१॥

**धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियवशानुगः।**
**श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ ६२ ॥**

## पदार्थ—

धर्मार्थौ—धर्म और अर्थ को
यः—जो
परित्यज्य—छोड़कर
स्यात्—होवे
इन्द्रियवशानुगः—इन्द्रियों की इच्छा का अनुगामी
श्रीप्राणधनदारेभ्यः—यश प्राण धन और स्त्री [आदि वान्धवों] से
क्षिप्रम्—शीघ्र ही
सः—वह
परिहीयते—सर्वथा रहित हो जाता है।

## व्याख्या—

जो मनुष्य धर्म और [धर्मानुकूल] अर्थ को छोड़कर—उनका ध्यान न रखकर—इन्द्रियों की इच्छा का अनुगामी हो जाता है, वह शीघ्र ही यश, धन, स्त्री [आदि वान्धव] एवं जीवन से सर्वथा रहित हो जाता है ॥६२॥

**अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः।**
**इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद् भ्रश्यते हि सः ॥ ६३ ॥**

## पदार्थ—

अर्थानाम्—धन-सम्पत्तियों का
ईश्वरः—स्वामी
यः—जो
स्यात्—होवे

इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों का
अनीश्वरः—अस्वामी (दास)
इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों का
अनैश्वर्यात्—ईश्वर=स्वामी न होने से
ऐश्वर्यात्—ऐश्वर्य से
भ्रश्यते—भ्रष्ट हो जाता है (दूर हो जाता है)
हि—निश्चय से
सः—वह मनुष्य।

## व्याख्या—

जो मनुष्य धन-सम्पत्तियों का तो स्वामी है, परन्तु इन्द्रियों का स्वामी नहीं है, अर्थात् इन्द्रियां उसके वश में नहीं हैं, वह इन्द्रियों का स्वामी न होने के कारण निश्चय ही उस ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है। अर्थात् वह ऐश्वर्य उसका नष्ट हो जाता है, जो उसके पास है ॥६३॥

**आत्मनाऽऽत्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः ।**
**आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६४ ॥**

**बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनैवात्माऽऽत्मना जितः ।**
**स एव नियतो बन्धुः स एव नियतो रिपुः ॥ ६५ ॥**

## पदार्थ—

आत्मना—अपने आप से
आत्मानम्—आत्मा को (अपने को)
अन्विच्छेत्—पहचानने की इच्छा करे
मनोबुद्धीन्द्रियैः—मन बुद्धि और इन्द्रियों से
यतैः—वश में की हुई से
आत्मा—आत्मा (स्वयम्)
हि—निश्चय से
एव—ही
आत्मनः—अपना
बन्धुः—सहायक [है]
आत्मा—आत्मा (स्वयं)
एव—ही
रिपुः—शत्रु [है]
आत्मनः—अपना।
बन्धुः—सहायक [है]
आत्मा—आत्मा
आत्मनः—अपना
तस्य—उसका
येन—जिससे
एव—निश्चय से
आत्मा—आत्मा
आत्मना—स्वयं से
जितः—जीता गया है
सः—वह [आत्मा]

एव—ही
नियतः—निश्चित रूप से
बन्धुः—सहायक [है]
सः—वह [आत्मा] स्वयं
एव—ही
नियतः—निश्चित रूप से
रिपुः—शत्रु है।

## व्याख्या—

मनुष्य स्वयं अपने वशीभूत मन, बुद्धि और इन्द्रियों की सहायता से अपने आप को पहचानने का प्रयत्न करे। निश्चय ही मनुष्य स्वयं ही अपना वन्धु=सहायक है और स्वयं ही अपना शत्रु है, (अन्य व्यक्ति न वास्तव में सहायक होते हैं और न ही शत्रु)। जिस मनुष्य ने अपने को अपने वश में कर लिया है—जो स्वाधीन हो गया है, (इन्द्रियों के आधीन नहीं है), उसका वह स्वयं बन्धु है=सहायक है, और जिसने अपने को नहीं जीता—जो पराधीन है, उस का वह स्वयं ही शत्रु है ॥६४,६५॥

**क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुरू।**
**कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुम्पतः॥ ६६ ॥**

## पदार्थ—

क्षुद्राक्षेण—छोटे छेद वाले
इव—जैसे
जालेन—जाल से
झषौ—दो मछलियां
अपिहितौ—छिपाई हुई [फांसी हुई]
उरू—बड़ी
कामः—काम
च—और
राजन्—हे राजन्!
क्रोधः—क्रोध
च—और
तौ—वे दोनों
प्रज्ञानम्—बुद्धि को
विलुम्पतः—लुप्त कर देते हैं, नष्ट कर देते हैं।

## व्याख्या—

जैसे बारीक छिद्र वाले जाल में फांसी हुई दो मोटी मछलियां उस बारीक जाल को नष्ट कर देती हैं, उसी प्रकार हे राजन्! काम और क्रोध, ये दोनों मनुष्य की बुद्धि को नष्ट कर देते हैं।

**विशेष**—गीता ३।३३,३७ में भी कहा है कि मनुष्य न चाहता हुआ भी काम और क्रोध के वशीभूत होकर पाप-कर्म का आचरण करता है। इन दोनों में भी काम क्रोध का जनक है, यह बात गीता २।६२ में कही है। इसीलिए गीता ३।३७ में काम क्रोध का प्रसंग उठाकर भी आगे विशेष रूप से काम की ही निन्दा की है। प्रकृत श्लोक में काम क्रोध दोनों को सामान्य रूप से बुद्धि का नाश करने वाला कहा है ॥६६॥

**समवेक्ष्येह धर्मार्थौ संभारान् योऽधिगच्छति।**
**स वै संभृतसंभारः सततं सुखमेधते ॥ ६७ ॥**

**पदार्थ—**

समवेक्ष्य—अच्छे प्रकार देख भाल कर सोच विचार कर
इह—इस संसार में
धर्मार्थौ—धर्म और अर्थ दोनों को
संभारान्—साधन-सामग्रियों को
यः—जो
अधिगच्छति—प्राप्त करता है
सः—वह
वै—निश्चय से
संभृतसंभारः—इकट्ठे किये हुए हैं साधन जिसने, वह
सततम्—सदा
सुखम्—सुखपूर्वक
एधते—बढ़ता है।

**व्याख्या—**

जो मनुष्य इस संसार में धर्म और अर्थ दोनों को अच्छे प्रकार विचार करके, अपने वृद्धि के=जय के साधनों का प्राप्त करता है—बढ़ाता है। वह साधन-सम्पन्न व्यक्ति निश्चय ही सुखपूर्वक वृद्धि=जय को प्राप्त करता है ॥६७॥

**यः पञ्चाभ्यन्तरान् शत्रूनविजित्य मनोमयान्।**
**जिगीषति रिपूनन्यान् रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥ ६८ ॥**

**पदार्थ—**

यः—जो
पञ्च—पांच
आभ्यन्तरान्—अन्दर के=अन्तरंग (काम क्रोधादि)
शत्रून्—शत्रुओं को
अविजित्य—न जीत कर
मनोमयान्—मन के विकारभूत
जिगीषति—जीतने की इच्छा करता है
रिपून्—शत्रुओं को
अन्यान्—अन्यों को
रिपवः—शत्रु
अभिभवन्ति—जीत लेते हैं
तम्—उसको।

## व्याख्या—

जो मनुष्य मनोमय=मन के विकारभूत अथवा मनःप्रधान पांच आन्तरिक श्रोत्रादि इन्द्रियरूप शत्रुओं को बिना जीते अन्य शत्रुओं को जीतना चाहता है, उसे वाह्य शत्रु पराजित कर देते हैं, अर्थात् वह अजितेन्द्रिय शत्रुओं से पराजित हो जाता है ॥६८॥

**विशेष**—सांख्यदर्शन की जगद्-उत्पत्ति प्रक्रिया के अनुसार अहंकार रूप मन से इन्द्रियों की उत्पत्ति कही गई है—**अहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं च**। इस प्रकार मनोमय शब्द में अहंकार=मन का विकार इस अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय होता है। उपनिषद् में कहा है—**मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति** इत्यादि। अर्थात् मन से ही देखता है, मन से ही सुनता है, अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा विषय-ग्रहण में मन का संयोग आवश्यक है। उस मन के बिना कोई इन्द्रिय कार्य करने में समर्थ नहीं होती। इस अभिप्राय में मनोमय में **तत्प्रकृतवचने मयट्** (अ० ५।४।२१) से 'मयट्' प्रत्यय होता है, जैसे 'आनन्दमय' में ॥६८॥

**दृश्यन्ते हि महात्मानो वध्यमानाः स्वकर्मभिः।**
**इन्द्रियाणामनीशत्वात् राजानो राज्यविभ्रमैः ॥ ६९ ॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| दृश्यन्ते—दिखाई पड़ते हैं | इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों के |
| हि—निश्चय से | अनीशत्वात्—स्वामी न होने से |
| महात्मानः—बड़े (समर्थ) व्यक्ति | (अजितेन्द्रिय होने से) |
| वध्यमानाः—मारे जाते हुए | राजानः—राजा लोग |
| स्वकर्मभिः—अपने कर्मों से | राज्यविभ्रमैः—ऐश्वर्य के मद से। |

## व्याख्या—

अनेक बड़े बड़े राजा अजितेन्द्रिय होने से अपने कर्मों एवं ऐश्वर्यमद से ही नष्ट होते हुए देखे जाते हैं।

**विशेष**—आचार्य चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र के इन्द्रियजय नामक

अधिकरण में ऐसे अनेक प्रतापी चक्रवर्ती राजाओं को गिनाया है, जो इन्द्रिय-वश होकर अपने कुकर्मों वा ऐश्वर्यमद से मर्यादा-भंग के कारण मारे गये, वा राज्य से भ्रष्ट हुए। यथा—

**काम**—दाण्डक्य भोज काम के वशीभूत होकर ब्राह्मण कन्या से बलात्कार के कारण बन्धु और राष्ट्र सहित नाश को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार कराल वैदेह भी कामवश नष्ट हुआ।

**क्रोध**—जनमेजय क्रोध के वशीभूत होकर ब्राह्मणों पर अत्याचार करने और तालजङ्ग भृगुओं पर आक्रमण करने से नष्ट हुआ।

**लोभ**—ऐल और सौवीर अजबिन्दु लोभ से चारों वर्णों से अत्यधिक धन के आहरण से नष्ट हो गये।

**अभिमान**—रावण अभिमान से परदारा सीता को वापस न लौटाने और दुर्योधन पाण्डवों के राज्यांश को न लौटाने के कारण नष्ट हुआ।

**मद**—डम्मोद्भव एवं हैहय अर्जुन मद से प्रजाओं के अपमान के कारण नष्ट हुए।

**अतिहर्ष**—वातापि अतिहर्ष से अगस्त्य का और वृष्णि (यादव) कृष्ण द्वैपायन (व्यास) का अपमान करने के कारण नष्ट हुए।

कतिपय अजितेन्द्रिय राजाओं के नाश का कारण बताकर आचार्य चाणक्य अध्याय के उपसंहार में लिखते हैं—

**एते चान्ये च बहवः शत्रुषड्वर्गमाश्रिताः।**
**सबन्धुराष्ट्रा राजानो विनेशुरजितेन्द्रियाः॥**
**शत्रुषड्वर्गमुत्सृत्य जामदग्न्यो जितेन्द्रियः।**
**अम्बरीषश्च नाभागो बुभुजाते चिरं महीम्॥**

**अर्थात्**—उपर्युक्त तथा अन्य बहुत से अजितेन्द्रिय राजा काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, हर्ष इन शत्रुरूपी षड्वर्ग के आश्रय के कारण बन्धु-बान्धव सहित राष्ट्र से नष्ट हुए। उक्त शत्रुरूपी षड्वर्ग का परित्याग करके जितेन्द्रिय जामदग्न्य राम (परशुराम) एवं अम्बरीष नाभाग आदि ने चिरकाल तक राज्य किया॥६९॥

असंत्यागात् पापकृतामपापांस्
तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात् ।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावात् ।
तस्मात् पापैः सह संधिं न कुर्यात् ॥ ७० ॥

## पदार्थ—

असंत्यागात्—न छोड़ने से
पापकृताम्—पापियों को
अपापान्—अपापियों को (अच्छे पुरुषों को)
तुल्यः—एक जैसा
दण्डः—दण्ड
स्पृशते—स्पर्श करता है
मिश्रभावात्—मेल होने से
शुष्केण—सूखे [काष्ठ से]
आर्द्रम्—गीला [काष्ठ भी]
दह्यते—जल जाता है
मिश्रभावात्—संगति (सहयोग) के कारण
तस्मात्—इस कारण
पापैः—पापियों (बुरे मनुष्यों) के
सह—साथ
सन्धिम्—मेल
न—नहीं
कुर्यात्—करे ।

## व्याख्या—

पापियों का त्याग न करने के कारण धर्मात्मा पुरुष भी सहभाव के कारण वैसे ही समान दण्ड=दुःख को प्राप्त होते हैं, जैसे सूखी लकड़ी के सह-भाव के कारण गीली लकड़ी भी जल जाती है। इसलिये हे राजन् ! पापी (अधर्मात्मा) पुरुषों के साथ कभी मेल न रखे।

इसका आशय यह है कि—हे राजन् ! तुम स्वतः पापरहित होते हुए भी दुर्योधन आदि अधर्मात्मा पुत्रों का साथ देने के कारण नाश को प्राप्त होवोगे ॥७०॥

निजानुत्पततः शत्रून् पञ्च पञ्चप्रयोजनान् ।
यो मोहान्न निगृह्णाति तमापद् ग्रसते नरम् ॥ ७१ ॥

## पदार्थ—

निजान्—अपने
उत्पततः—बुरे मार्ग पर जाते हुए
शत्रून्—शत्रुओं को
पञ्च—पांच [इन्द्रियों] को
पञ्चप्रयोजनान्—पांच [शब्दादि को ग्रहण करना] प्रयोजन है जिनका, उनको
यः—जो
मोहात्—मोह से, अज्ञान से
न—नहीं
निगृह्णति—वश में करता है
तम्—उसको
आपद्—आपत्ति
ग्रसते—ग्रस्त करती है, प्राप्त होती है
नरम्—पुरुष को ।

## व्याख्या—

जो पुरुष बुरे मार्ग पर चलने वाली शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूप इन पांच प्रयोजनों वाली शत्रुरूपी पांच इन्द्रियों को वश में नहीं रखता, उसको आपत्ति प्राप्त होती है=(दुःख प्राप्त होते हैं) ।

**विशेष**—इसका भाव यह है कि हे धृतराष्ट्र ! तुम कुमार्गगामी मन के वशीभूत होने के कारण ही दुःखी हो ।।७१।।

**अनसूयाऽऽर्जवं शौचं सन्तोषः प्रियवादिता ।**
**दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम् ।। ७२ ।।**

## पदार्थ—

अनसूया—असूया का अभाव
आर्जवम्—सरलता
शौचम्—पवित्रता
सन्तोषः—संतोष
प्रियवादिता—प्रिय बोलना
दमः—इन्द्रिय-जय
सत्यम्—सत्य
अनायासः—चंचलता का अभाव
न—नहीं
भवन्ति—होते हैं
दुरात्मनाम्—बुरे आत्मा वालों (पापियों) में ।

## व्याख्या—

दुष्ट मनुष्यों में असूया का अभाव, सरलता, पवित्रता, सन्तोष, प्रिय बोलना, इन्द्रिय-जय, सत्य और अचंचलता ये गुण नहीं रहते हैं ।।७२।।

**आत्मज्ञानमनायासस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।**
**वाक् चैव गुप्ता दानं च नैतान्यन्त्येषु भारत ।। ७३ ।।**

## पदार्थ—

आत्मज्ञानम्—आत्मा का ज्ञान
अनायासः—अचाञ्चल्य
तितिक्षा—सहनशीलता
धर्मनित्यता—धर्म में सदा बने रहना
वाक्—वाणी
च—और
एव—ही
गुप्ता—रक्षित [असंबद्ध प्रलापादि न करने वाली]
दानम्—दान
च—और
न—नहीं
एतानि—ये
अन्त्येषु—नीचों में
भारत—हे भरतकुलीन !

## व्याख्या—

हे भरतकुल के राजन् ! आत्मज्ञान=अपने जैसा अन्यों को समझना, चंचलता का अभाव, [सुख दुःख आदि द्वन्द्वों को] सहन करना, धर्म में निरत रहना, [असंबद्ध प्रलाप आदि से] गुप्त=रक्षित वाणी और दान ये कर्म अन्त्य=नीच पुरुषों में नहीं रहते ।

**विशेष**—उक्त दोनों श्लोकों का भाव यह है कि तुम्हारे दुर्योधनादि पुत्रों में आर्जव आदि गुण एवं वाणी के संयम का गुण नहीं हैं, अतः वे अन्त्य=नीच पुरुष हैं ।।७३।।

**आक्रोशपरिवादाभ्यां विहिंसन्त्यबुधा बुधान् ।**
**वक्ता पापमुपादत्ते क्षममाणो विमुच्यते ।। ७४ ।।**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| आक्रोशपरिवादाभ्याम्—कठोर भाषण और निन्दा के द्वारा | वक्ता—बोलने वाला |
| विहिंसन्ति—पीड़ा पहुंचाते हैं | पापम्—पाप को |
| अबुधाः—मूर्ख जन | उपादत्ते—प्राप्त करता है |
| बुधान्—बुद्धिमानों को | क्षममाणः—क्षमा करता हुआ |
| | विमुच्यते—छूट जाता है। |

## व्याख्या—

मूर्खजन कठोर भाषण एवं निन्दा द्वारा बुद्धिमान् जनों को पीड़ा देते हैं। कठोर भाषण एवं निन्दा करने वाला पाप का भागी होता है और उन्हें क्षमा करता हुआ बुद्धिमान् [दुःख से] मुक्त हो जाता है।

**आशय**—तुम्हारा पुत्र दुर्योधन उक्त दोनों प्रकार के व्यवहारों के कारण हिंसक है। अतः यह नाश को प्राप्त होगा, और पाण्डव क्षमाशील होने से जय को प्राप्त होंगे ॥७४॥

**हिंसाबलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम्।**
**शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ७५ ॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| हिंसाबलम्—हिंसारूपी बल | शुश्रूषा—सेवा |
| असाधूनाम्—दुष्ट लोगों का [होता है] | तु—तो |
| राज्ञाम्—राजाओं का | बलम्—बल |
| दण्डविधिः—दण्ड का विधान करना | स्त्रीणाम्—स्त्रियों का |
| बलम्—बल | क्षमा—क्षमा करना |
| | गुणवताम्—गुणीजनों का |
| | बलम्—बल [होता है]। |

## व्याख्या—

असाधु=दुष्ट पुरुषों का हिंसा ही बल होता है। अर्थात् हिंसा से ही

वे अपने विरोधियों को दबाना चाहते हैं। राजाओं का दण्डविधान बल है। स्त्रियों का सेवा बल है, और गुणीजनों का क्षमा बल है ॥७५॥

**वाक्संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो मतः।**
**अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहु भाषितुम् ॥ ७६ ॥**

### पदार्थ—

वाक्संयमः—वाणी का संयम करना
हि—निश्चय से
नृपते—हे राजन्!
सुदुष्करतमः—अत्यन्त कठिन
मतः—माना गया है
अर्थवत्—अर्थ से युक्त
च—और
विचित्रम्—चमत्कारपूर्ण
च—और
न—नहीं
शक्यम्—समर्थ
बहु—बहुत
भाषितुम्—बोलने को।

### व्याख्या—

हे राजन्! वाणी का संयम अर्थात् परिमित (=जितना बोलना उचित है उतना) भाषण अत्यन्त कठिन माना गया है। और अर्थयुक्त अर्थात् उचित और चमत्कार पूर्ण वचन भी बहुत नहीं बोला जा सकता ॥७६॥

**अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता।**
**सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ॥ ७७ ॥**

### पदार्थ—

अभ्यावहति—प्राप्त कराती है
कल्याणम्—कल्याण को
विविधम्—विविध प्रकार के
वाक्—वाणी
सुभाषिता—अच्छी बोली हुई
सा—वह
एव—ही
दुर्भाषिता—बुरी बोली हुई
राजन्—हे राजन्!
अनर्थाय—अनर्थ [=दुःख] के लिये
उपपद्यते—समर्थ होती है।

## व्याख्या—

हे राजन् ! अच्छी बोली हुई वाणी विविध प्रकार के कल्याणों को प्राप्त कराती है, और वही वाणी बुरे ढंग से बोली हुई अनर्थ का कारण बन जाती है ॥७७॥

**रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।**
**वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥ ७८ ॥**

## पदार्थ—

रोहते—भर जाता है=पूरा हो जाता है
सायकैः—बाणों से
विद्धम्—छेदा गया घाव
वनम्—जङ्गल
परशुना—फरसे से
हतम्—नष्ट किया हुआ, काटा हुआ
वाचा—वाणी से
दुरुक्तम्—बुरा कहा हुआ
बीभत्सम्—निन्दित
न—नहीं
संरोहति—भरता है
वाक्क्षतम्—वाणी से किया गया घाव ।

## व्याख्या—

बाणों से छेदा गया घाव फिर भर जाता है, परशु (कुल्हाड़े) से काटा गया वन भी पुनः हरा हो जाता है, परन्तु निन्दित दुर्वचन युक्त वाणी से किया गया [हृदय का] जो घाव है, वह कभी नहीं भरता ॥७८॥

**कर्णिनालीकनाराचान्निर्हरन्ति शरीरतः ।**
**वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥ ७९ ॥**

## पदार्थ—

कर्णिनालीकनाराचान्—कर्ण की आकृति वाले फल वाला बाण, नली के द्वारा फेंका गया बाण, नाराच नाम का अस्त्र, इनको
निर्हरन्ति—निकाल लेते हैं

शरीरतः—शरीर में से
वाक्शल्यः—कटुवाणीरूपी शल्य= बाण
तु—तो
न—नहीं
निर्हर्तुम्—निकालने में
शक्यः—समर्थ
हृदिशयः—हृदय में बैठा हुआ
हि—निश्चय से
सः—वह ।

## व्याख्या—

शरीर में घुसे हुए कर्णी (कान के आकारवाला), नालीक (नली से फेंका जाने वाला) बाण एवं नाराच अस्त्र को भी शरीर से निकाल लेते हैं (दूर कर देते हैं), परन्तु कटुवाणी रूपी शल्य (=बाण) हृदय में चुभा हुआ नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि वह हृदय में ही बैठ जाता है ॥७९॥

**वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति**
**यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।**
**परस्य नामर्मसु ते पतन्ति**
**तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः ॥ ८० ॥**

## पदार्थ—

वाक्सायकाः—कटुवाणीरूपी बाण
वदनात्—मुख से
निष्पतन्ति—निकलते हैं
यैः—जिन से
आहतः—घायल हुआ
शोचति—शोक करता है
रात्र्यहानि—दिन रात
परस्य—दूसरे के
नामर्मसु—अत्यन्त मर्मस्थानों में ही
ते—वे
पतन्ति—गिरते हैं, [इस कारण]
तान्—उन [वाक्रूपी शल्यों को]
पण्डितः—बुद्धिमान्
न—नहीं
अवसृजेत्—छोड़े
परेभ्यः—दूसरों के लिये ।

## व्याख्या—

कटु वाणीरूपी बाण मुख से निकलते हैं और वे दूसरों के अतिमर्म-स्थानों पर ही गिरते हैं। उन से घायल किया गया व्यक्ति रात दिन शोक करता है (दुःखी होता है)। इसलिये बुद्धिमान् दूसरों के लिये उन कटुवाणीरूपी बाणों को न छोड़े।

**विशेष**—विदुर यहां संकेत करते हैं कि तुम्हारे पुत्र ने सभा के मध्य द्रौपदी को दुर्वचन कहे थे। वे द्रौपदी वा पाण्डवों के हृदय में बैठे हुए है। इस कारण तुम्हारे पुत्रों का यह अपराध पाण्डव कभी क्षमा नहीं करेंगे ॥८०॥

**यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्।**
**बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ ८१ ॥**

## पदार्थ—

यस्मै—जिसको
देवाः—देवगण
प्रयच्छन्ति—देते है
पुरुषाय—पुरुष के लिए
पराभवम्—पराजय को
बुद्धिम्—बुद्धि को
तस्य—उसकी
अपकर्षन्ति—खींच लेते हैं (नष्ट कर देते हैं)
सः—वह
अवाचीनानि—नीच कर्मों को
पश्यति—देखता है (झुकता है)।

## व्याख्या—

देवगण जिस पुरुष के लिए पराजय देते हैं अर्थात् जिसे नष्ट करना चाहते हैं, उसकी बुद्धि को वह खींच लेते हैं=नष्ट कर देते हैं। वह बुद्धि से रहित हुआ नीच कर्मों को ही देखता है, अर्थात् उन्हीं की ओर झुकता है ॥८१॥

**बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते।**
**अनयो नयसंकाशो हृदयान्नावसर्पति ॥ ८२ ॥**

## पदार्थ—

बुद्धौ—बुद्धि में
कलुषभूतायाम्—मलिन हुई में
विनाशे—नाश के
प्रत्युपस्थिते—उपस्थित होने पर
अनयः—अनीति
नयसंकाशः—नीति के समान
हृदयात्—हृदय से
न—नहीं
अवसर्पति=दूर होती है।

## व्याख्या—

बुद्धि के मलिन हो जाने और विनाश के उपस्थित होने पर अनीति नीति के समान प्रतीत होती हुई हृदय से नहीं निकलती ॥८२॥

**सेयं बुद्धिः परीता ते पुत्राणां भरतर्षभ ।**
**पाण्डवानां विरोधेन न चैनानवबुध्यसे ॥ ८३ ॥**

## पदार्थ—

सा—वह
इयम्—यह
बुद्धिः—बुद्धि
परीता—नष्ट हुई, भ्रष्ट हुई
ते—तुम्हारे
पुत्राणाम्—पुत्रों की
भरतर्षभ—भरतकुल में श्रेष्ठ !
पाण्डवानाम्—पाण्डवों के
विरोधेन—विरोध के कारण
न—नहीं
च—और
एनान्—इन (भ्रष्ट बुद्धिवाले अपने पुत्रों को)
अवबुध्यसे—जानते हो।

## व्याख्या—

हे भरतकुल में श्रेष्ठ राजन् ! तुम्हारे पुत्रों की वह बुद्धि पाण्डवों के

साथ विरोध के कारण मलिन हो गई है, भ्रष्ट हो गई है। इन (भ्रष्टबुद्धि वाले अपने पुत्रों) को तुम नहीं जानते हो। अर्थात् ये मलिन वा भ्रष्टबुद्धि वाले हैं, यह नही समझते हो ॥८३॥

राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत्।
शिष्यस्ते शासिता सोऽस्तु धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥ ८४ ॥

### पदार्थ—

राजा—राजा
लक्षणसम्पन्नः—(राजा के) लक्षणों से युक्त
त्रैलोक्यस्य—तीनों लोकों का
अपि—भी
यः—जो
भवेत्—होवे;
शिष्यः—शिष्य=आज्ञाकारी
ते—तुम्हारा
शासिता—(राज्य) शासन करने वाला
सः—वह
अस्तु—होना चाहिये
धृतराष्ट्र—हे धृतराष्ट्र !
युधिष्ठरः—युधिष्ठिर।

### व्याख्या—

हे धृतराष्ट्र ! राजा के लक्षणों से युक्त, जो तीनों लोकों का भी राजा होने योग्य है, वह तुम्हारा शिष्य=आज्ञाकारी युधिष्ठिर शासिता=राजा होना चाहिये अर्थात् दुर्योधन को हटाकर उसे राजा बनाओ ॥८४॥

अतीव सर्वान् पुत्रांस्ते भागधेयपुरस्कृतः।
तेजसा प्रज्ञया चैव युक्तो धर्मार्थतत्त्ववित्॥ ८५ ॥

## पदार्थ---

अतीव—अत्यन्त
सर्वान्—सब को
पुत्रान्—पुत्रों को
ते—तुम्हारे
भागधेयपुरस्कृतः—राज्यांश से सम्मानित
तेजसा—तेज से
प्रज्ञया—बुद्धि से
च—और
एव—ही
युक्तः—युक्त
धर्मार्थतत्त्ववित्—धर्म और अर्थ के तत्त्व को जानने वाला ।

## व्याख्या—

वह राज्यांश से पुरस्कृत, धर्म और अर्थ के तत्त्व को जानने वाला युधिष्ठिर तुम्हारे सब पुत्रों से अधिक तेज और बुद्धि से युक्त है ।

**विशेष**—टीकाकार नीलकण्ठ ने यह लिखा है—'पाण्डु के राज्यांश में मूर्द्धाभिषिक्त अर्थात् राजा होने के कारण पाण्डव राज्य के अधिकारी हैं । तुम अन्धा होने के कारण राज्य से वंचित कर दिए गए । अतः तुम्हारे पुत्र राज्य के अधिकारी नहीं हैं' । किन्तु यह अभिप्राय शब्दों से स्पष्ट नहीं होता ।।८५।।

**अनुक्रोशादानृशंस्याद् योऽसौ धर्मभृतां वरः ।**
**गौरवात् तव राजेन्द्र बहून् क्लेशांस्तितिक्षते ।। ८६।।**

अनुक्रोशात्—दयालुता से
आनृशंस्यात्—अक्रूरता के कारण
यः—जो
असौ—यह
धर्मभृताम्—धर्मात्माओं में
वरः—श्रेष्ठ (है वह)
गौरवात्—बड़प्पन के कारण
तव—तुम्हारे
राजेन्द्र—हे राजन्
बहून्—बहुत
क्लेशान्—दुःखों को
तितिक्षते—सहता है ।

## व्याख्या—

हे राजेन्द्र धृतराष्ट्र! धर्मात्माओं में श्रेष्ठ यह जो युधिष्ठिर है, वह तुम्हारे बड़प्पन के कारण तथा अपनी दयालुता एवं सौम्यता के कारण बहुत दुःखं सह रहा है ।।८६।।

**इति महाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ।।**

इस प्रकार महाभारत के उद्योगपर्व में प्रजागरपर्व नाम के अवान्तर विभाग में विदुरनीति वाक्य में चौंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।।

**।। इति विदुरनीतौ द्वितीयोऽध्यायः ।।**

# अथ तृतीयोऽध्यायः

## धृतराष्ट्र उवाच

**ब्रूहि भूयो महाबुद्धे धर्मार्थसहितं वचः ।**
**शृण्वतो नास्ति मे तृप्तिर्विचित्राणीह भाषसे ॥ १ ॥**

### पदार्थ—

**धृतराष्ट्र बोले—**

ब्रूहि—कहो
भूयः—फिर, और आगे
महाबुद्धे—हे विशाल बुद्धि वाले !
धर्मार्थसहितम्—धर्म अर्थ से युक्त
वचः—वचन को
शृण्वतः—सुनते हुए को
न—नहीं
अस्ति—है
मे—मुझे
तृप्तिः—तृप्ति
विचित्राणि—विचित्र=उत्तम
इह—यहां
भाषसे—बोलते हो ।

### व्याख्या—

धृतराष्ट्र बोले—हे विशाल बुद्धिवाले विदुर ! धर्म और अर्थ से युक्त वचन और सुनाओ । मुझ सुनते हुए को तृप्ति नहीं है, अर्थात् मन भरा नहीं है । तुम बड़ा उत्तम भाषण करते हो ॥१॥

## विदुर उवाच

**सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।**
**उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥ २ ॥**

**विदुर बोले—**

सर्वतीर्थेषु—सब तीर्थों में
वा—अथवा
स्नानम्—स्नान
सर्वभूतेषु—सब प्राणियों में
च—और
आर्जवम्—ऋजुता=सरलता
उभे—दोनों
तु—तो
एते—ये
समे—बराबर
स्याताम्—होवें
आर्जवम्—ऋजुता
वा—अथवा
विशिष्यते—विशिष्ट होती है ।

## व्याख्या—

सब तीर्थों में स्नान और सब प्राणियों के प्रति ऋजुता=एकत्वभावना ये दोनों समान हैं, अथवा यों कहना चाहिये कि इनमें आर्जव श्रेष्ठ है ॥२॥

**आर्जवं प्रतिपद्यस्व पुत्रेषु सततं विभो ।**
**इह कीर्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ ३ ॥**

## पदार्थ—

आर्जवम्—एकत्व=अवैषम्य को
प्रतिपद्यस्व—प्राप्त होवो
पुत्रेषु—पुत्रों में
सततम्—सदा
विभो—हे राजन् !
इह—यहां
कीर्तिम्—कीर्ति को
पराम्—उत्तम को
प्राप्य—प्राप्त करके
प्रेत्य—मरकर
स्वर्गम्—स्वर्ग को
अवाप्स्यसि—प्राप्त होवोगे ।

## व्याख्या—

हे राजन् ! तुम पुत्रों में अर्थात् कौरव-पाण्डव सभी में एक बुद्धि को, अवैषम्य को धारण करो, सब को समान रूप से देखो । इससे इस लोक में उत्तम कीर्ति को प्राप्त कर मर कर स्वर्ग को प्राप्त होवोगे ॥३॥

**यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोके प्रगीयते ।**
**तावत् स पुरुषव्याघ्र स्वर्गलोके महीयते ॥ ४ ॥**

## पदार्थ—

यावत्—जब तक
कीर्तिः—यश
मनुष्यस्य—मनुष्य का
पुण्या—उत्तम
लोके—लोक में
प्रगीयते—गाया जाता है
तावत्—तब तक
सः—वह
पुरुषव्याघ्र—हे पुरुषसिंह !
स्वर्गलोके—स्वर्गलोक में
महीयते—पूजित होता है, आदृत होता है ।

## व्याख्या—

हे पुरुषश्रेष्ठ ! मानव की जब तक उत्तम कीर्ति इस लोक में गाई जाती है, तब तक वह स्वर्ग में पूजित होता है ॥४॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विरोचनस्य संवादं केशिन्यर्थे सुधन्वना ॥ ५ ॥

पदार्थ—

अत्र—इस विषय में
अपि—भी
उदाहरन्ति—उद्धृत करते हैं, बताते हैं
इमम्—इसको
इतिहासम्—इतिहास को
पुरातनम्—पुराने को
विरोचनस्य—विरोचन के
संवादम्—संवाद को
केशिन्यर्थे—केशिनी [नामक कन्या] के लिए
सुधन्वना—सुन्धवा के साथ ।

व्याख्या—

उक्त विषय में पुराना इतिहास बताया जाता है, जो कि केशिनी [नामक कन्या] के लिए सुधन्वा के साथ विरोचन का संवाद हुआ था ॥५॥

स्वयंवरे स्थिता कन्या केशिनी नाम नामतः ।
रूपेणाप्रतिमा राजन् विशिष्टपतिकाम्यया ॥ ६ ॥

पदार्थ—

स्वयंवरे—स्वयंवर में
स्थिता—ठहरी हुई
कन्या—कन्या
केशिनी—केशिनी
नाम—नामवाली
नामतः—नाम से
रूपेण—रूप में
अप्रतिमा—अनुपम
राजन्—हे राजन् !
विशिष्टपतिकाम्यया—विशिष्ट (उत्तम) पति की प्राप्ति की इच्छा से ।

व्याख्या—

हे राजन् ! केशनी नामवाली अनुपम रूपवती कन्या, विशिष्ट (उत्तम) पति की प्राप्ति की इच्छा से स्वयम्वर में खड़ी हुई ॥६॥

विरोचनोऽथ दैतेयस्तदा तत्राजगाम ह ।
प्राप्तुमिच्छंस्ततस्तत्र दैत्येन्द्रं प्राह केशिनी ॥ ७ ॥

### पदार्थ---

विरोचनः—विरोचन
अथ—तदनन्तर
दैतेयः—दिति का पुत्र
तदा—तब
तत्र—वहां (स्वयंवर-स्थान में)
आजगाम—आया=पहुंचा
ह—निश्चय से।
प्राप्तुम्—पाने के लिए
इच्छन्—इच्छा करता हुआ
ततः—इसके पश्चात्
तत्र—वहां
दैत्येन्द्रम्—दैत्यराज को
प्राह—बोली
केशिनी—केशिनी।

### व्याख्या—

तदनन्तर [केशिनी को] प्राप्त करने की दृढ इच्छा से दिति का पुत्र विरोचन वहां (स्वयम्वर स्थान में) पहुंचा। तब केशिनी ने दैत्येन्द्र (=विरोचन) से कहा—॥७॥

### केशिन्युवाच—

**किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांसो दितिजाः स्विद् विरोचन।**
**अथ केन स्म पर्यङ्कं सुधन्वा नाधिरोहति ॥ ८ ॥**

### पदार्थ—

**केशिनी बोली—**

किम्—क्या
ब्राह्मणाः—ब्राह्मण
स्वित्—वा
श्रेयांसः—श्रेष्ठ
दितिजाः—दिति के पुत्र
स्वित्—वा
विरोचन—हे विरोचन!
अथ—तब फिर
केन—किस कारण से
स्म—निश्चय से
पर्यङ्कम्—पलङ्ग पर
सुधन्वा—सुधन्वा
न—नहीं
अधिरोहति—चढ़े।

### व्याख्या—

केशिनी बोली—हे विरोचन! ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं अथवा दैत्य (दिति के पुत्र)? यदि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, तो मेरे पर्यङ्क पर सुधन्वा क्यों न चढ़े? अर्थात् मैं उसी से विवाह क्यों न करूं ॥८॥

**विशेष—अधिरोहति** पद यहां लेट् लकार का रूप है।

## विरोचन उवाच—

**प्राजापत्यास्तु वै श्रेष्ठा वयं केशिनि सत्तमाः ।**
**अस्माकं खल्विमे लोका के देवाः के द्विजातयः ॥ ९ ॥**

## पदार्थ—

**विरोचन बोला—**

| | |
|---|---|
| प्राजापत्याः—प्रजापति की संतान | अस्माकम्—हमारे |
| तु—तो | खलु—निश्चय से |
| वै—निश्चय से | इमे—ये |
| श्रेष्ठाः—श्रेष्ठ | लोकाः—सब लोक (भूमि) |
| वयम्—हम लोग | के—कौन |
| केशिनि—हे केशिनि ! | देवाः—देव । |
| सत्तमाः—उत्तम | के—कौन |
| | द्विजातयः—ब्राह्मण । |

## व्याख्या—

विरोचन बोला—हे केशिनि ! हम प्रजापति (=कश्यप) की सन्तानें निश्चय से ही श्रेष्ठ और उत्तम हैं । सारे लोक=पृथिवी आदि हमारे ही हैं । कौन देव हैं ? कौन ब्राह्मण हैं ? अर्थात् हमारे सन्मुख देवों और ब्राह्मणों की क्या गणना है ।।९।।

**विशेष**—कश्यप प्रजापति की दो पत्नियां थीं—दिति और अदिति । दिति से दैत्य=असुर उत्पन्न हुए, और अदिति से आदित्य=देव । असुर आयु और शक्ति में बड़े थे, देव छोटे थे । कश्यप प्रजापति के उत्तराधिकारी के रूप में बड़े होने के कारण यह पृथिवी असुरों को प्राप्त हुई । असुरों ने अपने भाई देवों को भूमि का कुछ भी भाग नहीं दिया । अतः देवों और असुरों में दायभाग-निमित्त लोमहर्षण युद्ध हुए, जो कई सौ वर्षों तक चलते रहे । ये ही इतिहास में देवासुर युद्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं । अन्त में असुर लोग अभिमान के कारण परास्त हुए और देव इस भूमि के प्रशासक बने ।।९।।

## केशिन्युवाच—

**इहैवावां प्रतीक्षाव उपस्थाने विरोचन ।**
**सुधन्वा प्रातरागन्ता पश्येयं वां समागतौ ॥ १० ॥**

## पदार्थ —

**केशिनी बोली—**

इह—यहां
एव—ही
आवाम्—हम दोनों
प्रतीक्षाव—प्रतीक्षा करें
उपस्थाने—स्थान में
विरोचन—हे विरोचन !
सुधन्वा—सुधन्वा
प्रातः—[कल] प्रातःकाल
आगन्ता—आवेगा
पश्येयम्—देखूं
वाम्—तुम दोनों को
समागतौ—सम्मुख उपस्थित ।

## व्याख्या—

केशिनी बोली—हे विरोचन ! हम दोनों इसी स्थान में सुधन्वा की प्रतीक्षा करें । सुधन्वा कल प्रातः आयेगा । मैं तुम दोनों को सम्मुख उपस्थित हुओं को देखना चाहती हूं ॥१०॥

## विरोचन उवाच—

**तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे ।**
**सुधन्वानं च मां चैव प्रातर्द्रष्टासि सङ्गतौ ॥ ११ ॥**

## पदार्थ—

**विरोचन बोला—**

तथा—वैसा ही
भद्रे—हे कल्याणि !
करिष्यामि—करूंगा
यथा—जैसा
त्वम्—तुम
भीरु—हे भीरु=डरपोक !
भाषसे—कहती हो
सुधन्वानम्—सुधन्वा को
च—और
माम्—मुझको
च—और
एव—ही
प्रातः—प्रातः काल
द्रष्टासि—देखोगी
संगतौ—इकट्ठे हुओं को, साथ आये हुओं को ।

## व्याख्या—

विरोचन बोला—हे कल्याणि ! जैसा तुम कहती हो, हे भीरु! मैं वैसा ही करूंगा । कल प्रातः सुधन्वा को और मुझको इकट्ठे हुओं को देखोगी, अर्थात् कल प्रातः हम दोनों इकट्ठे उपस्थित होवेंगे ॥११॥

## विदुर उवाच—

अतीतायां च शर्वर्यामुदिते सूर्यमण्डले ।
अथाजगाम तं देशं सुधन्वा राजसत्तम ॥ १२ ॥

विरोचनो यत्र विभो केशिन्या सहितः स्थितः ।
सुधन्वा च समागच्छत् प्राल्हादिं केशिनीं तथा ॥ १३ ॥

## पदार्थ—

**विदुर बोले—**

अतीतायाम्—बीत जाने पर
च—और
शर्वर्याम्—रात्रि के
उदिते—उदित होने पर
सूर्यमण्डले—सूर्यमण्डल के
अथ—अनन्तर
आजगाम—आया
तम्—उस
देशम्—देश=स्थान को
सुधन्वा—सुधन्वा
राजसत्तम—हे श्रेष्ठ राजन् !
विरोचनः—विरोचन
यत्र—जहां
विभो—हे राजन् !
केशिन्या—केशिनी के
सहितः—साथ
स्थितः—ठहरा हुआ था
सुधन्वा—सुधन्वा
च—और
समागच्छत्—प्राप्त हुआ
प्राह्लादिम्—प्रह्लाद के पुत्र=विरोचन को
केशिनीम्—केशिनी को
तथा—और ।

## व्याख्या—

विदुर बोले—हे श्रेष्ठ राजन्! रात्रि के बीत जाने और सूर्य मण्डल के उदित हो जाने के अनन्तर सुधन्वा उस स्थान पर आया, जहां विरोचन केशिनी के साथ ठहरा हुआ था । सुधन्वा केशिनी और प्राह्लादि=प्रह्लाद के पुत्र विरोचन के पास पहुंचा ॥१२-१३॥

समागतं द्विजं दृष्ट्वा केशिनी भरतर्षभ ।
प्रत्युत्थायासनं तस्मै पाद्यमर्घ्यं ददौ पुनः ॥ १४ ॥

## पदार्थ—

समागतम्—आये हुए
द्विजम्—द्विज=ब्राह्मण को
दृष्ट्वा—देखकर
केशिनी—केशिनी
भरतर्षभ—हे भरतकुल में श्रेष्ठ!
प्रत्युत्थाय—खड़े होकर
आसनम्—आसन को
तस्मै—उसके लिये
पाद्यम्—पैर धोने के योग्य जल को
अर्घ्यम्—अर्घ=सत्कार योग्य हाथ मुंह धोने के जल को
ददौ—दिया
पुनः—फिर।

## व्याख्या—

हे भरतकुल में श्रेष्ठ! [अपने स्थान पर] ब्राह्मण को आया हुआ देख कर केशिनी ने उसके लिए आसन दिया। तत्पश्चात् पाद्य (पैर धोने के योग्य) और अर्घ्य (मुख-प्रक्षालन के योग्य) जल दिया ॥१४॥

## सुधन्वोवाच—

**अन्वालभे हिरण्मयं प्राह्लादे ते वरासनम्।**
**एकत्वमुपसम्पन्नो न त्वासेऽहं त्वया सह ॥ १५ ॥**

## पदार्थ—

[विरोचन के द्वारा 'मेरे साथ सोने के आसन पर बैठो, इस प्रकार प्रार्थना करने पर] **सुधन्वा बोला—**

अन्वालभे—स्पर्श करता हूं
हिरण्मयम्—सुवर्णनिर्मित आसन को
प्राह्लादे—हे प्रह्लाद के पुत्र!
ते—तुम्हारे
वरासनम्—श्रेष्ठ आसन को
एकत्वम्—एकत्व (बराबरी) को
उपसम्पन्नः—प्राप्त हुआ
न—नहीं
तु—तो
आसे—बैठता हूं
अहम्—मैं
त्वया—तेरे
सह—साथ।

## व्याख्या—

['मेरे साथ सुवर्ण-निर्मित आसन पर बैठो' ऐसी विरोचन के द्वारा प्रार्थना करने पर] सुधन्वा बोला—हे प्रह्लादपुत्र विरोचन! मैं तुम्हारे सुवर्ण-निर्मित श्रेष्ठ आसन का स्पर्श करता हूं; मैं तुम्हारे साथ बराबरी को प्राप्त हुआ नहीं

बैठूंगा, अर्थात् मैं तुम्हारे बराबर नहीं हूं, [अपितु] तुमसे श्रेष्ठ हूं। अतः एक आसन पर तुम्हारे साथ नहीं बैठूंगा ॥१५॥

## विरोचन उवाच—

**तवार्हते तु फलकं कूर्चं वाप्यथवा बृसी।**
**सुधन्वन्न त्वमर्होऽसि मया सह समासनम् ॥ १६ ॥**

### पदार्थ—

**विरोचन बोला—**

तव—तुम्हारे
अर्हते—योग्य है
तु—निश्चय से
फलकम्—लकड़ी का पीढ़ा
कूर्चम्—दर्भ से बना आसन
वा—अथवा
अपि—भी
अथवा—अथवा
बृसी—बटे हुए दर्भ से बना पीढ़ा
सुन्धवन्—हे सुधन्वन्!
न—नहीं
त्वम्—तू
अर्हः—योग्य
असि—है
मया—मेरे
सह—साथ
समासनम्—एक आसन पर बैठने को।

### व्याख्या—

विरोचन बोला—हे सुधन्वन्! तुम्हारे बैठने के लिए तो लकड़ी का पीढ़ा, दर्भासन अथवा बटे हुए दर्भ से बना पीढ़ा ही योग्य है। तुम मेरे साथ एक आसन पर बैठने के योग्य नहीं हो ॥१६॥

## सुधन्वोवाच—

**पितापुत्रौ सहासीतां द्वौ विप्रौ क्षत्रियावपि।**
**वृद्धौ वैश्यौ च शूद्रौ च न त्वन्यावितरेतरम् ॥ १७ ॥**

### पदार्थ—

**सुधन्वा बोला—**

पितापुत्रौ—पिता और पुत्र
सह—साथ
आसीताम्—बैठें
द्वौ—दो
विप्रौ—ब्राह्मण
क्षत्रियौ—[दो] क्षत्रिय
अपि—भी
वृद्धौ—[दो] वृद्ध

?

| | |
|---|---|
| वैश्यौ—वैश्य | न—नहीं |
| च—और | तु—निश्चय से |
| शूद्रौ—[दो] शूद्र | अन्यौ—अन्य [दो] |
| च—और | इतरेतरम्—एक दूसरे के साथ। |

## व्याख्या—

सुधन्वा बोला—पिता पुत्र दोनों एक साथ बैठ सकते हैं, दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वृद्ध वैश्य और दो शूद्र भी एक साथ बैठ सकते हैं। किन्तु अन्य दो एक दूसरे के साथ नहीं बैठ सकते ॥१७॥

**पिता हि ते समासीनमुपासीतैव मामधः।**
**बालः सुखैधितो गेहे न त्वं किञ्चन बुध्यसे ॥ १८ ॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| पिता—पिता | अधः—नीचे (बैठकर) |
| हि—निश्चय से | बालः—बालक [हो तुम] |
| ते—तुम्हारा | सुखैधितः—सुख से बढ़े (पले) हुए |
| समासीनम्—बैठे हुए को | गेहे—घर में |
| उपासीत—उपासना (सेवा) करता है | न—नहीं |
| | त्वम्—तुम |
| एव—ही | किञ्चन—कुछ भी |
| माम्—मुझको (मेरी) | बुध्यसे—जानते हो। |

## व्याख्या—

[हे विरोचन!] तुम्हारा पिता [ऊपर] बैठे हुए मेरी नीचे बैठकर सेवा करता है, अर्थात् वह मेरे से नीचे बैठता है। तुम बालक हो, घर में लाड प्यार से पल कर बड़े हुए हो, इस कारण [शिष्टाचार] को तुम कुछ नहीं जानते। [इसीलिए] तुम मुझे अपने साथ बैठने को कह रहे हो ॥१८॥

**विशेष**—बाल से यहां तात्पर्य अल्प आयुवाले से नहीं है, अपितु अज्ञानी से है। मनु ने कहा है—**अज्ञो भवति वै बालः** (२।१५३) अर्थात् अज्ञानी ही बालक होता है, वय से बालकपन का सम्बन्ध नहीं है ॥१८॥

## विरोचन उवाच—

**हिरण्यं च गवाश्वं च यद्वित्तमसुरेषु नः ।**
**सुधन्वन् विपणे तेन प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥१६॥**

### पदार्थ—

**विरोचन बोला—**

| | |
|---|---|
| हिरण्यम्—सुवर्ण | नः—हमारा [है] |
| च—और | सुधन्वन्—हे सुधन्वन् ! |
| गवाश्वम्—गौवें और अश्व [आदि पशु] | विपणे—पण (शर्त) में |
| | तेन—उसे लगाकर |
| च—और | प्रश्नम्—प्रश्न को |
| यत्—जो | पृच्छाव—पूछें [हम दोनों] |
| वित्तम्—धन | ये—जो |
| असुरेषु—असुरों में | विदुः—जानते हैं [इस विषय में] |

### व्याख्या—

विरोचन बोला—हे सुधन्वन् ! असुरों में हमारा जो भी सुवर्ण गौ अश्व आदि पशु तथा अन्य धन है, उसकी शर्त लगाकर हम उनसे प्रश्न पूछें, जो इस [हमारी श्रेष्ठता के] विषय में जानते हैं ॥१६॥

## सुधन्वोवाच—

**हिरण्यं च गवाश्वं च तवैवास्तु विरोचन ।**
**प्राणयोस्तु पणं कृत्वा प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥२०॥**

### पदार्थ—

**सुधन्वा बोला—**

| | |
|---|---|
| हिरण्यम्—सुवर्ण | प्राणयोः—प्राणों का |
| च—और | तु—तो (निश्चय से) |
| गवाश्वम्—गौवें और अश्व | पणम्—पण (शर्त) |
| च—और | कृत्वा—करके (लगा कर) |
| तव—तुम्हारा | प्रश्नम्—प्रश्न को |
| एव—ही | पृच्छाव—पूछें |
| अस्तु—हो (रहे) | ये—जो |
| विरोचन—हे विरोचन ! | विदुः—जानते हैं । |

## व्याख्या—

सुधन्वा बोला—हे विरोचन ! सुवर्ण, गौ, अश्व आदि पशु, और अन्य धन तुम्हारा ही रहे। हम प्राणों का पण (शर्त) लगाकर इस प्रश्न को पूछें जो इस विषय में जानते हैं।

**विशेष**—सुधन्वा ब्राह्मण था, उसके पास शर्त लगाने के लिए कुछ धन नहीं था। अतः उसने धन की शर्त अस्वीकार करके प्राण की शर्त लगाने को कहा ॥२०॥

## विरोचन उवाच

आवां कुत्र गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते।
न तु देवेष्वहं स्थाता न मनुष्येषु कर्हिचित् ॥ २१ ॥

## पदार्थ—

**विरोचन बोला—**

आवाम्—हम दोनों
कुत्र—कहां
गमिष्यावः—जायेंगे
प्राणयोः—प्राणों की
विपणे—शर्त
कृते—करने पर,
न—नहीं
तु—तो
देवेषु—देवों में
अहम्—मैं
स्थाता—ठहरने वाला हूँ,
न—नहीं
मनुष्येषु—मनुष्यों में
कर्हिचित्—कदापि।

## व्याख्या—

विरोचन बोला—[हे सुधन्वन्] हम दोनों प्राणों की शर्त लगाकर कहां [प्रश्न पूछने] जायेंगे, [क्योंकि] मैं देवों में और मनुष्यों में कभी ठहरने वाला नहीं हूं, अर्थात् उन्हें मध्यस्थ नहीं बना सकता।

**विशेष**—विरोचन असुरों की अपेक्षा देवों और मनुष्यों को हीन समझता था। इस कारण वह इस प्रश्न को पूछने के लिए उनके पास जाने में हीनता अनुभव करता था ॥२१॥

## सुधन्वोवाच—

पितरं ते गमिष्याव: प्राणयोर्विपणे कृते ।
पुत्रस्यापि स हेतोर्हि प्रह्लादो नानृतं वदेत् ॥ २२ ॥

## पदार्थ—

**सुधन्वा बोला—**

पितरम्—पिता को (पिता के पास)
ते—तेरे
गमिष्याव:—जायेंगे
प्राणयोः—प्राणों की
विपणे—शर्त
कृते—करने पर,
पुत्रस्य—पुत्र के
अपि—भी
सः—वह
हेतोः—कारण से
हि—निश्चय से
प्रह्लादः—प्रह्लाद
न—नहीं
अनृतम्—झूठ
वदेत्—बोलेगा ।

## व्याख्या—

सुधन्वा बोला—[हे विरोचन !] हम प्राणों की शर्त लगाकर तुम्हारे पिता प्रह्लाद के पास ही [प्रश्न पूछने] जायेंगे । वह पुत्र के कारण भी झूठ नहीं बोलेगा ऐसा निश्चय है ।

**विशेष**—यहां भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल चित्र अंङ्कित है । सुधन्वा को दृढ़ निश्चय है कि प्रह्लाद असुर होने पर भी पुत्र के लिये कभी झूठ नहीं बोलेगा ।

भारतीय संस्कृति में सत्य को सर्वोपरि स्थान दिया गया है । धर्मशास्त्रकारों ने सत्य की महिमा का वर्णन करते हुए उसकी सौ अश्वमेध यज्ञों के साथ न केवल तुलना की है, अपितु उसे उससे भी अधिक महत्त्व दिया है ॥ २२ ॥

## विदुर उवाच—

एवं कृतपणौ क्रुद्धौ तत्राभिजग्मतुस्तदा ।
विरोचनसुधन्वानौ प्रह्लादो यत्र तिष्ठति ॥ २३ ॥

## पदार्थ—

**विदुर बोले—**

एवम्—एस प्रकार
कृतपणौ—शर्त लगाये हुए दोनों
क्रुद्धौ—क्रोध में भरे हुए
तत्र—वहां
अभिजग्मतुः—गये
तदा—तब
विरोचनसुधन्वानौ—विरोचन और सुधन्वा
प्रह्लादः—प्रह्लाद (विरोचन का पिता)
यत्र—जहां पर
तिष्ठति—स्थित था।

## व्याख्या—

विदुर बोले—इस प्रकार शर्त लगाए हुए दोनों क्रोध में भरे हुए विरोचन और सुधन्वा वहां गये, जहां विरोचन का पिता प्रह्लाद विद्यमान था ॥२३॥

## प्रह्लाद उवाच—

**इमौ तौ संप्रदृश्येते याभ्यां न चरितं सह ।**
**आशीविषाविव क्रुद्धावेकमार्गाविहागतौ ॥२४॥**

## पदार्थ—

**प्रह्लाद बोला—**

इमौ—ये
तौ—वे दोनों
संप्रदृश्येते—दिखाई पड़ते हैं
याभ्याम्—जिन दोनों ने
न—नहीं
चरितम्—विचरण किया (गमन किया)
सह—साथ
आशीविषौ—दो भयानक सर्पों [के]
इव—समान
क्रुद्धौ—क्रुद्ध हुए
एकमार्गौ—एक मार्ग वाले (एक ही मार्ग से)
इह—यहां
आगतौ—आये हैं।

## व्याख्या—

प्रह्लाद बोला—ये वे दोनों (विरोचन और सुधन्वा) दिखाई पड़ते हैं, जिन्होंने [वैर के कारण] कभी भी साथ-साथ विचरण नहीं किया (कभी साथ नहीं रहे)। ये दोनों दो भयानक सर्पों के समान क्रुद्ध हुए एक ही मार्ग से यहा आये हैं ॥ २४ ॥

किं वै सहैवं चरथो न पुरा चरथः सह।
विरोचनैतत् पृच्छामि किं ते सख्यं सुधन्वना ॥२५॥

पदार्थ—

किम्—कैसे
वै—निश्चय से
सह—साथ
एवम्—इस प्रकार
चरथः—विचरण कर रहे हो
न—नहीं
पुरा – कभी पहले
चरथः—विचरण करते थे
सह—साथ
विरोचन—हे विरोचन !
एतत्—यह
पृच्छामि—[मैं] पूछता हूं
किम्—क्या
ते—तुम्हारी
सख्यम्—मित्रता [है]
सुधन्वना—सुधन्वा के साथ।

व्याख्या—

[प्रह्लाद ने पूछा—] हे विरोचन ! तुम दोनों कैसे इस प्रकार साथ-साथ विचरण कर रहे हो ? पहले तो कभी साथ नहीं रहे। मैं तुमसे पूछता हूँ कि क्या सुधन्वा के साथ तुम्हारी मैत्री हो गई है ? ॥ २५ ॥

विरोचन उवाच—

न मे सुधन्वना सख्यं प्राणयोर्विपणावहे।
प्रह्लाद तत्त्वं पृच्छामि मा प्रश्नमनृतं वदेः ॥२६॥

पदार्थ—

विरोचन बोला—

न—नहीं
मे—मेरी
सुधन्वना—सुधन्वा के साथ
सख्यम्—मित्रता है,
प्राणयोः—प्राणों की
विपणावहे—हम दोनों पण=शर्त लगाये हुए हैं
प्रह्लाद—हे प्रह्लाद !
तत्त्वम्—तत्त्व=वास्तविकता को
पृच्छामि—पूछता हूं
मा—मत (नहीं)
प्रश्नम्—प्रश्न
अनृतम्—असत्य
वदेः—बोलना (कहना)।

## व्याख्या—

विरोचन बोला—हे प्रह्लाद ! मेरी सुधन्वा से कोई मित्रता नहीं है। हम दोनों प्राणों की शर्त लगाये हुए हैं। मैं तुमसे वास्तविकता पूछता हूं, प्रश्न विषय में असत्य मत बोलना।

**विशेष**—इस श्लोक में 'माङ्' के योग में 'वदेः' लिङ् लकार का प्रयोग हुआ है। पाणिनीय वैयाकरणों का प्रायः यह मत है कि माङ् के योग में **माङि लुङ्** (३।३।१७५) से लुङ् लकार ही होता है। वैयाकरणों में स्वामी दयानन्द सरस्वती ही प्रथम व्यक्ति हैं, जो **माङि लुङ्** सूत्र में ऊपर (३।३।१७१) से लिङ् और लोट् की अनुवृत्ति लाते हैं, और माङ् के योग में लिङ् और लोट् का भी विधान करते हैं (द्र० अष्टाध्यायी भाष्य ३।३।१७५)। ऋषि दयानन्द ने इस सूत्र पर लोट् के प्रयोग के लिये **मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि** यह गीता (२।४७) का वचन उद्धृत किया है। लिङ् के प्रयोग की साधुता के लिये प्रकृत श्लोक **मा प्रश्नमनृतं वदेः** प्रमाण है ॥ २६ ॥

## प्रह्लाद उवाच—

**उदकं मधुपर्कं वाऽप्यानयन्तु सुधन्वने।**
**ब्रह्मन्नभ्यर्चनीयोऽसि श्वेता गौः पीवरीकृता ॥ २७ ॥**

## पदार्थ—

**प्रह्लाद बोला—**

उदकम्—जल
मधुपर्कम्—मधुपर्क
वा—और
अपि—भी
आनयन्तु—लाओ
सुधन्वने—सुधन्वा के लिए
ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण !
अभ्यर्चनीयः—सत्कार के योग्य
असि—हो
श्वेता—श्वेत रंगवाली
गौः—गाय
पीवरीकृता—पुष्ट की हुई।

## व्याख्या—

प्रह्लाद [अपने आदमियों से] बोला—सुधन्वा के लिये उदक और मधुपर्क लाओ। हे ब्रह्मन् (=सुधन्वन्) ! आप सत्कार के योग्य हो, आप के लिये श्वेत रङ्ग की पुष्ट की हुई गाय उपस्थित है।

**विशेष**—भारतीय संस्कृति में घर पर आये हुए छः प्रकार के विशिष्ट व्यक्तियों[1] के लिये विशेष सत्कार की व्यवस्था की गई है। उसे अर्घ्य प्रदान करना कहते हैं। इस क्रिया में आसन, हाथ मुंह पैर धोने को जल, खाने के लिये मधुपर्क (शहद और दधि का मिश्रण) प्रदान किया जाता है। साथ ही अर्चनीय व्यक्ति को भेंट भी दी जाती थी। उस भेंट को '**वर**' कहा जाता था। ब्राह्मण के लिये भेंट का द्रव्य गौ, क्षत्रिय के लिये ग्राम और वैश्य के लिये अश्व कहा गया है। यथा—**गौर्ब्राह्मणस्य वरः, ग्रामो राजन्यस्य, अश्वो वैश्यस्य** (पारस्कर गृह्यसूत्र १।८।१५,१६,१७)। इस नियम के अनुसार प्रह्लाद ने सुधन्वा के ब्राह्मण होने के कारण गौ भेंट देने का निर्देश किया है।

संस्कृत भाषा में **गोघ्न** पद अतिथि के लिये प्रयुक्त होता है। इसका अर्थ अर्वाचीन लोग **गाय जिसके लिये मारी जाती है** ऐसा करते हैं। द्र० **दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने** (३।४।७३) पाणिनीय सूत्र की काशिका आदि व्याख्यायें। परन्तु इस में **मारना** अंश मांसाहारियों ने जोड़ा है। गोघ्न का अर्थ है गौ जिसके लिये प्राप्त कराई जाये। अर्थात् हन धातु यहां हिंसार्थक नहीं है, अपितु प्राप्त्यर्थक है। जो लोग इस से सहमत न हों, उन्हें संस्कृत भाषा में दस्ताने (हस्तत्राण) के लिये प्रयुक्त **हस्तघ्न** शब्द पर विचार करना चाहिये। क्या दस्ताने अर्थ में प्रयुक्त हस्तघ्न का अर्थ 'हाथ' की हिंसा करने वाला हो सकता है? कदापि नहीं। वहां अर्थ होगा—हाथ को रक्षार्थ प्राप्त होने वाला=घेरने वाला। अब सोचो जो 'घ्न' पद हस्तघ्न में है, वही गोघ्न में है, फिर दोनों का एक सा अर्थ क्यों नहीं? इतना ही नहीं, वेद में गौ और अश्व की हिंसा करने वाले को सीसे की गोली से उड़ा देने का विधान है। देखो अथर्ववेद १।१६।४—**यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि वा पूरुषम्। तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा।**

गृह्यसूत्रों में मधुपर्क के प्रसंग में गाय को मारने का उल्लेख मिलता है वह वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण है॥२७॥

## सुधन्वोवाच—

**उदकं मधुपर्कं च पथिष्वेवार्पितं मम।**
**प्रह्लाद त्वं तु मे तथ्यं प्रश्नं प्रब्रूहि पृच्छतः।**
**किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांस उताहो स्विद्विरोचनः॥२८॥**

---

१. आचार्य, ऋत्विक्, वर(दामाद), राजा, प्रिय व्यक्ति और स्नातक। पार० गृह्यसूत्र १।३।१॥

## पदार्थ—

**सुधन्वा बोला—**

उदकम्—जल
मधुपर्कम्—मधुपर्क
च—और
पथिषु—मार्ग में (प्रश्न के निर्णयमार्ग में)
एव—ही
अर्पितम्—प्राप्त हो गया
मम—मुझे
प्रह्लाद—हे प्रह्लाद !
त्वं—तुम
तु—तो
मे—मेरे
तथ्यम्—ठीक-ठीक
प्रश्नम्—प्रश्न को
प्रब्रूहि—बतलाओ (उत्तर दो)
पृच्छतः—पूछते हुए मुझे
किम्—क्या
ब्राह्मणाः—ब्राह्मण (अर्थात् मैं सुधन्वा)
स्वित्—वा
श्रेयांसः—श्रेष्ठ (हैं)
उताहो—अथवा
स्वित्—वा
विरोचनः—विरोचन ।

## व्याख्या—

सुधन्वा बोला—हे प्रह्लाद ! तुम मेरे प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर दे दो । मुझे तुम्हारे सत्य उत्तर से ही जल एव मधुपर्क आदि स्वागत की सामग्रियां प्राप्त हो जायेंगी, अर्थात् मुझे इस समय स्वागत-सत्कार की नहीं, अपितु प्रश्न के उत्तर की ही अभिलाषा है । प्रश्न यह है कि क्या ब्राह्मण श्रेष्ठ होता है, अर्थात् मैं श्रेष्ठ हूं अथवा विरोचन ? ।।२८।।

## प्रह्लाद उवाच—

**पुत्र एको मम ब्रह्मंस्त्वं च साक्षादिहास्थितः ।**
**तयोर्विवदतोः प्रश्नं कथमस्मद्विधो वदेत् ।।२९।।**

## पदार्थ—

**प्रह्लाद बोला—**

पुत्रः—पुत्र
एकः—एक
मम—मेरा
ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण !
त्वम्—तुम
च—और
साक्षात्—समक्ष (सामने)
इह—यहां
आस्थितः—खड़े हो
तयोः—उन [तुम] दोनों के
विवदतोः—विवाद करते हुओं के
प्रश्नम्—प्रश्न को
कथम्—कैसे
अस्मद्विधः हमारे समान व्यक्ति (जो विवाद में स्वयं तुम्हारे विरोधी अर्थात् विरोचन का पिता है)
वदेत्—बोले (निर्णय करे) ।

## व्याख्या—

प्रह्लाद बोला—हे ब्रह्मन् ! मेरा एक ही पुत्र है, और तुम साक्षात् यहां सामने उपस्थित हो। उन तुम दोनों विवाद करने वालों के प्रश्न को मेरे जैसा व्यक्ति कैसे कहे, अर्थात् उसका कैसे उत्तर देवे—निर्णय देवे ॥ २९ ॥

## सुधन्वोवाच—

**गां प्रदद्यास्त्वौरसाय यद्वाऽन्यत् स्यात् प्रियं धनम् ।**
**द्वयोर्विवदतोस्तथ्यं वाच्यं च मतिमंस्त्वया ॥ ३० ॥**

## पदार्थ—

**सुधन्वा बोला—**

गाम्—पृथिवी को
प्रदद्याः—देओ
तु—तो
औरसाय—औरस पुत्र के लिये
यत्—जो
वा—अथवा
अन्यत्—अन्य
स्यात्—होवे
प्रियम्—प्रिय
धनम्—धन
द्वयोः—दोनों के
विवदतोः—विवाद करने वालों के [प्रश्न का उत्तर]
तथ्यम्—यथार्थ
वाच्यम्—कहा जाना चाहिये
च—और
मतिमन्—हे बुद्धिमान् !
त्वया—तुम से।

## व्याख्या—

सुधन्वा बोला—[हे प्रह्लाद !] अपने औरस पुत्र विरोचन को पृथिवी [का राज्य] देओ अथवा अन्य प्रिय धन देओ। परन्तु हे बुद्धिमान् ! दो विवाद करने वालों के प्रश्न का यथार्थ उत्तर तुम्हें देना ही चाहिये ॥ ३० ॥

## प्रह्लाद उवाच—

**अथ यो नैव प्रब्रूयात् सत्यं वा यदि वाऽनृतम् ।**
**एतत् सुधन्वन् पृच्छामि दुर्विवक्ता स्म किं वसेत् ॥ ३१ ॥**

## पदार्थ—

**प्रह्लाद बोला—**

अथ—अनन्तर
यः—जो
नैव—नहीं
च—और
ब्रूयात्—बोले, कहे
सत्यम्—सत्य को
वा—अथवा
यदि—यदि
वा—अथवा
अनृतम्—असत्य को
एतत्—यह
सुधन्वन्—हे सुधन्वन् !
पृच्छामि—पूछता हूं
दुर्विवक्ता—दुष्ट विवेचन कर्ता =मिथ्या उत्तर देने वाला
स्म—(वाक्य पूरण में)
किम्—किसको
वसेत्—प्राप्त होवे ।

## व्याख्या—

प्रह्लाद बोला—हे सुधन्वन् ! प्रश्न के उत्तर में जो व्यक्ति सत्य अथवा मिथ्या कुछ भी न बोले=कहे, अथवा मिथ्या उत्तर देवे, ऐसा व्यक्ति किस [दुःख]को प्राप्त होता है, अर्थात् उसे क्या फल मिलता है? इस को मैं जानना चाहता हूँ ।। ३१ ।।

## सुधन्वोवाच—

**यां रात्रिमधिविन्ना स्त्री यां चैवाक्षपराजितः ।**
**यां च भाराभितप्ताङ्गो दुर्विवक्ता स्म तां वसेत् ।। ३२ ।।**

## पदार्थ—

**सुधन्वा बोला—**

याम्—जिस
रात्रिम्—रात्रि को
अधिविन्ना—कृतसपत्नीका
स्त्री—स्त्री
याम्—जिसको
च—और
एव—ही
अक्षपराजितः—जुवे में हारा हुआ
याम्—जिसको
च—और
भाराभितप्ताङ्ग—भार उठाने से पीड़ित अंग वाला
दुर्विवक्ता—दुष्ट विवेचन कर्त्ता
स्म—(वाक्य पूरण में)
ताम्—उसको
वसेत्—प्राप्त होवे ।

## व्याख्या—

सुधन्वा बोला—हे प्रह्लाद ! कृतसपत्नीका (जिस की सपत्नी लाई गई हो वैसी) स्त्री, जुए में हारा हुआ व्यक्ति, एवं भार ढोने से पीड़ित अंग वाला व्यक्ति जिस रात्रि को प्राप्त होवे, उसको प्रश्न का अयथार्थ उत्तर देने वाला प्राप्त होता है ।

भाव:—इसका भाव यह है कि जैसे कृतसपत्नीका स्त्री, जुए में हारा हुआ, भार ढोने से पीड़ित अंग वाला पुरुष रात में निद्रा को प्राप्त न होकर जागता रहता है, एवं मानसिक अथवा शारीरिक दुःख को अनुभव करता है, उसी दुःख को अयथार्थ उत्तर देने वाला भी प्राप्त होता है, अर्थात् उसे भी रात्रि में मानसिक बेचैनी होती है ॥ ३२ ॥

**नगरे प्रतिरुद्धः सन् वहिर्द्वारे वुभुक्षितः ।**
**अमित्रान् भूयसः पश्येद् यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ३३ ॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| नगरे—नगर में [प्रवेश से] | भूयस:—बहुतों को |
| प्रतिरुद्धः—रोका | पश्येत्—देखे |
| सन्—हुआ | यः—जो |
| वहिर्द्वारे=द्वार के वाहर | साक्ष्यम्—साक्षी को |
| वुभुक्षितः—भूखा | अनृतम्—अनृत को |
| अमित्रान्—शत्रुओं को | वदेत्—बोले । |

## व्याख्या—

नगर में प्रवेश से रोका हुआ, नगर द्वार के बाहर भूखा, अपने बहुत से शत्रुओं को देखे अर्थात् शत्रुओं से घिरा हुआ व्यक्ति जिस दुःख को अनुभव करता है, उसी को झूठी साक्षी देने वाला प्राप्त होता है ।

भाव:—इसका भाव यह है कि मिथ्या साक्षी देने वाले व्यक्ति का कोई विश्वास नहीं करता । वह अपने को एकाकी अनुभव करता है, और उस सूनेपन से उसे मन में बहुत दुःख होता है ॥३३॥

**पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।**
**शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ३४ ॥**

### पदार्थ—

पञ्च—पांच [पीढ़ियों] को
पश्वनृते—साधारण पशु के लिये झूठ बोलने में
हन्ति—मारता है, नष्ट करता है
दश—दस को
हन्ति—मारता है
गवानृते—गौ के लिये झूठ बोलने में
शतम्—सौ को
अश्वानृते—अश्व के लिये झूठ बोलने में
हन्ति—मारता है
सहस्रम्—सहस्र को
पुरुषानृते—पुरुष के लिये झूठ बोलने में।

### व्याख्या—

साधारण बकरी आदि पशु की प्राप्ति के लिये झूठ बोलने में झूठ बोलने वाला अपने पांच पूर्वजों को नष्ट करता है, परलोक से गिराता है। इसी प्रकार गाय के लिये झूठ बोलने में दस पूर्वजों को, अश्व के लिये सौ पूर्वजों को, एवं पुरुष के लिए सहस्र पूर्वजों को परलोक से गिराता है।

**भावः**—भाव यह है कि लोक में पशु आदि के लिए झूठ बोलने वाले व्यक्ति की उसके पांच दस सौ एवं सहस्र पूर्वजों को स्मरण करके निन्दा की जाती है, अर्थात् कहा जाता है कि तेरी पाच दस सौ एक हजार पीढ़ियां झूठ बोलती रही हैं, तू भला कब सच बोलेगा? इस प्रकार झूठ बोलने वाला अपने पूर्वजों की निन्दा कराने वाला होता है।

अथवा इसका भाव यह समझना चाहिये कि पशु आदि के मारने में क्रमशः पांच दस सौ एवं सहस्र प्राणियों के वध में जो पाप होता है, उस पाप को झूठ बोलने वाला प्राप्त होता है।

यह झूठ बोलने के विषय में निन्दा रूप अर्थवाद है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि झूठ बोलना महान् पातक कर्म है ॥३४॥

**हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।**
**सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदेः ॥ ३५ ॥**

### पदार्थ—

हन्ति—मारता है, नष्ट करता है
जातान्—उत्पन्न हुओं को
अजातान्—उत्पन्न न हुओं को
च—और
हिरण्यार्थे—सुवर्ण के लिये

अनृतम्—झूठ को
वदन्-बोलता हुआ
सर्वम्—सब को
भूम्यनृते—भूमि के लिये अनृत में
हन्ति—मारता है
मा—मत
स्म—(वाक्य पूरण में)
भूम्यनृतम्—भूमि के लिये अनृत को
वदेः—बोलो।

## व्याख्या—

सुवर्ण के लिये झूठ बोलने वाला अपने उत्पन्न हुए और उत्पन्न होने वाले जनों को मारता है। भूमि के लिये झूठ बोलने में सब को नष्ट करता है। इसलिये हे प्रह्लाद! भूमि के लिये झूठ मत बोल।

**भावः**—यहां भी उत्पन्न हुए और उत्पन्न होने वाले व्यक्तियों के मारने का अभिप्राय पूर्ववत् समझना चाहिये।

भूमि शब्द से यहां भूमि-तुल्य केशिनी का संकेत है। इसलिये इसका अभिप्राय है—हे प्रह्लाद! भूमि तुल्य केशिनी को पुत्र-भार्या के रूप में प्राप्त करने के लिये झूठ मत बोलो, अन्यथा तुम महान् पातकी होवोगे ॥३५॥

## प्रह्लाद उवाच—

**मत्तः श्रेयान् अङ्गिरा वै सुधन्वा त्वद् विरोचन।**
**माताऽस्य श्रेयसी मातुस्तस्मात्त्वं तेन वै जितः ॥ ३६ ॥**

## पदार्थ—

**प्रह्लाद बोला—**

मत्तः—मुझ से
श्रेयान्—श्रेष्ठ
अङ्गिराः—अङ्गिरा है
वै—निश्चय से
सुधन्वा—सुधन्वा
त्वत्—तुझ से
विरोचन—हे विरोचन!
माता—माता
अस्य—इसकी
श्रेयसी—श्रेष्ठ
मातुः—[तेरी] माता से
तस्मात्—इस कारण
त्वम्—तू
तेन—उस के द्वारा
वै—निश्चय से
जितः—जीत लिया गया है

## व्याख्या—

प्रह्लाद बोला—हे विरोचन ! मुझ से अङ्गिरा (सुधन्वा का पिता) श्रेष्ठ हैं, तुझ से सुधन्वा श्रेष्ठ है, और तुम्हारी माता से इस सुधन्वा की माता श्रेष्ठ है। इस प्रकार तू पण (=शर्त) में सुधन्वा के द्वारा जीत लिया गया है अर्थात् तू सुधन्वा से हार गया है ॥३६॥

**विरोचन सुधन्वाऽयं प्राणानामीश्वरस्तव ।**
**सुधन्वन् पुनरिच्छामि त्वया दत्तं विरोचनम् ॥ ३७ ॥**

## पदार्थ—

विरोचन—हे विरोचन !
सुधन्वा—सुधन्वा
अयम्—यह
प्राणानाम्—प्राणों का
ईश्वरः—स्वामी [है]
तव—तेरे
सुधन्वन्—हे सुधन्वन् !
पुनः—फिर
इच्छामि—चाहता हूं
त्वया—तुझ से
दत्तम्—दिये गये को
विरोचनम्—विरोचन को।

## व्याख्या—

प्रह्लाद बोला—हे विरोचन ! यह सुधन्वा तेरे प्राणों का स्वामी है [क्योंकि तू इससे बाजी में हार गया है]। हे सुधन्वन् ! मैं तेरे द्वारा दिये हुए विरोचन को पुनः चाहता हूँ, अर्थात् प्राणों की बाजी में जीतकर भी इसे प्राण-दान कर ॥३७॥

## सुधन्वोवाच—

**यद्धर्ममवृणीथास्त्वं न कामादनृतं वदीः ।**
**पुनर्ददामि ते पुत्रं तस्मात् प्रह्लाद दुर्लभम् ॥ ३८ ॥**

## पदार्थ—

सुधन्वा बोला—

यत्—जिस कारण
धर्मम्—धर्म को
अवृणीथाः—वरण किया, स्वीकार किया
त्वम्—तूने
न—नहीं
कामात्—काम से, मोह से
अनृतम्—झूठ

वदीः—बोला
पुनः—फिर
ददामि—देता हूं
ते—तुम्हें
पुत्रम्—पुत्र को
तस्मात्—उक्त कारण से
प्रह्लाद—हे प्रह्लाद !
दुर्लभम्—दुःख से प्राप्त को।

## व्याख्या—

सुधन्वा बोला—हे प्रह्लाद ! जिस कारण तुमने धर्म को स्वीकार किया, अर्थात् प्रश्न का यथार्थ उत्तर दिया, और मोहवश झूठ नहीं बोला, इस कारण तुम्हारे दुर्लभ पुत्र को तुम्हें वापस सौंपता हूं, अर्थात् प्राणों की बाजी में हार जाने पर भी इस को जीवन प्रदान करता हूँ ॥३८॥

**एषः प्रह्लाद पुत्रस्ते मया दत्तो विरोचनः ।**
**पादप्रक्षालनं कुर्यात् कुमार्याः सन्निधौ मम ॥ ३९ ॥**

## पदार्थ—

एषः—यह
प्रह्लाद—हे प्रह्लाद !
पुत्रः—पुत्र
ते—तुम्हारा
मया—मेरे द्वारा
दत्तः—दिया गया
विरोचनः—विरोचन
पादप्रक्षालनम्—पैर धोने का कार्य
कुर्यात्—करे
कुर्मायाः—कुमारी (केशिनी) के
सन्निधौ—समीप
मम—मेरे।

## व्याख्या—

हे प्रह्लाद ! मेरे द्वारा दिया गया तुम्रारा यह पुत्र विरोचन कुमारी=केशिनी के समीप अर्थात् उसके सन्मुख मेरे पैर धोवे।

**भावः**—इसका भाव यह है कि विरोचन केशिनी के सन्मुख मेरे पैर धोकर अपनी अपेक्षा मेरी श्रेष्ठता को स्वीकार करे।

**विशेषः**—नीलकण्ठ टीकाकार ने इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है—विवाह में दम्पती (=वरवधू) दोनों एक दूसरे के हलदी [मिश्रित

पानी] से पैर धोते हैं। इसलिये यह तेरा पुत्र विरोचन मेरी समीपता में केशिनी के पैर धोवे अर्थात् केशिनी भी इसी की भार्या हो।

यह व्याख्या सम्भवतः टीकाकार ने किसी देशाचार को लक्ष्य में रखकर की है, किन्तु प्रकरणानुसार हमें यह संगत प्रतीत नहीं होती। प्रकरण के आरम्भ से विदित होता है कि केशिनी को विरोचन और सुधन्वा में कौन श्रेष्ठ है, इसकी जिज्ञासा थी। इसी के लिये दोनों में पणबन्ध हुआ था (शर्त लगी थी)। इस कारण प्रकरण के अन्त में भी यही भाव प्रकट होना चाहिये। इस दृष्टि से 'केशिनी के सन्मुख विरोचन मेरे पैर धोवे' यही व्याख्या युक्त हो सकती है, न कि नीलकण्ठ-कृत ॥ ३९ ॥

## विदुर उवाच—

**तस्माद्राजेन्द्र! भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसि।**
**मा गमः ससुतामात्यो नाशं पुत्रार्थमब्रुवन् ॥ ४० ॥**

## पदार्थ—

**विदुर बोले—**

तस्मात्—इस कारण
राजेन्द्र—हे राजेन्द्र!
भूम्यर्थे—भूमि (=राज्य) केलिये
न—नहीं
अनृतम्—झूठ
वक्तुम्—कहने को
अर्हसि—योग्य हो
मा—मत
गमः—प्राप्त होओ
ससुतामात्यः—पुत्र और मन्त्रियों सहित
नाशम्—नाश को
पुत्रार्थम्—पुत्र के लिये
अब्रुवन्—न बोलते हुए [सत्य]

## व्याख्या—

विदुर बोले—हे राजेन्द्र धृतराष्ट्र! [पूर्वोक्त ऐतिह्य को ध्यान में रखते हुए] उक्त हेतु से भूमि अर्थात् राज्य के लिये तुम्हें झूठ बोलना उचित नहीं है। पुत्र के लिये सत्य को न बोलते हुए (प्रकट न करते हुए) पुत्र और मन्त्रियों के सहित नाश को प्राप्त न होओ, यह हमारी कामना है।

**विशेष**—'मा गमः' यह आशीर्वाद अर्थ में लुङ् का प्रयोग है।

प्राचीन परम्परा के अनुसार इतिहास का मुख्य प्रयोजन धर्म में प्रवृत्ति और अधर्म से निवृत्ति ही होता है। केवल ऐतिह्य ज्ञान इतिहास का प्रयो-

जन नहीं होता। इसीलिए प्राचीन वाल्मीकि एवं व्यास सदृश महर्षियों द्वारा लिखे गये रामायण और महाभारत का यही मुख्य लक्ष्य है। इस के द्वारा जहां पुराने इतिहास का ज्ञान होता है, वहां धर्मानुकूल व्यवहार का लाभ और अधर्माचरण से होने वाली हानियों का परिज्ञान होता है। इसीलिए इन ग्रन्थों में इतिहास के साथ साथ स्तुति-निन्दारूप अर्थवाद (अतिशयोक्ति युक्त कथन) का भी उल्लेख मिलता है, जो कि उक्त दृष्टि से इन ग्रन्थों का भूषण है। आचार्य चाणक्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में इसी दृष्टि से राजाओं के लिये इतिहास श्रवण आवश्यक बताया है। वह राजा की दिनचर्या का विधान करते हुए लिखते हैं—

**पश्चिममितिहाश्रवणे। पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रं चेतिहासः।१।५॥**

अर्थात्—दिन के उत्तरार्ध में इतिहास श्रवण करे। पुराण इतिवृत्त आख्यायिका उदाहरण धर्मशास्त्र ये इतिहास के अन्तर्गत हैं।

अगले अध्याय में आचार्य कौटिल्य ने ऐतिहासिक उदाहरण देकर बताया है कि इन्द्रियजय के अभाव के कारण कौन कौन सम्राट् नष्ट हो गए।

महात्मा विदुर ने भी इसी दृष्टि से धृतराष्ट्र को समझाने के लिये पूर्व इतिवृत्त का उल्लेख किया है, और 'तस्मात्' पद से उस इतिवृत्त की ओर संकेत करके उस का फलितार्थ कहा है कि हे राजन्! पुत्र के लिये झूठ मत बोलो, अन्यथा पुत्र अमात्य सहित नष्ट हो जाओगे ॥४०॥

**न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।**
**यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम् ॥४१॥**

पदार्थ—

न - नहीं
देवाः - देवगण
दण्डम्—दण्डा
आदाय—[हाथ में] लेकर
रक्षन्ति—रक्षा करते है
पशुपालवत्—चरवाहों के समान
यम्—[वे] जिसको
तु—निश्चय से
रक्षितुम्—रक्षा करना
इच्छन्ति—चाहते हैं
बुद्ध्या—बुद्धि से
संविभजन्ति—युक्त करते हैं
तम्- उसको।

## व्याख्या—

देवगण दण्डा हाथ में लेकर चरवाहों के समान पुरुष की रक्षा नहीं करते। अपितु जिस की वे रक्षा करना चाहते हैं, उसे बुद्धि से युक्त कर देते हैं।

**विशेष**—(१) विदुरनीति अ० २ श्लोक ८१ में इसी बात को दूसरे प्रकार से कहा है। वहां कहा है—देवलोग जिस पुरुष को पराभूत करना चाहते हैं, उस की बुद्धि को वे खींच लेते हैं (नष्ट कर देतें हें), और वह सदा नीच कर्मों को ही देखता है—उन्हीं की ओर झुकता है।

(२) विदुरनीति २।८१ तथा इस श्लोक में जिन देवों का वर्णन किया है वह है भाग्य, अर्थात् पूर्वकृत शुभ अशुभ कर्मानुसार उसके फल भुगवाने के लिये भूमि का निर्माण। इसी को दैव अर्थात् देवों का समूह लोक में कहा जाता है। कृत कर्म विविध प्रकार के एवं अनेक हैं, अतः उन्हीं को बहुवचन के रूप में **देवाः** और समूह रूप से **दैव** कहा जाता है।

इसका भाव यह है कि जब मनुष्य के पूर्व कर्मानुसार उत्तम फल को भोगने का अवसर आता है, तो उसकी बुद्धि उसी प्रकार निर्मल हो जाती है; और जब दुःख भोगने का समय आता है, तो मनुष्य की बुद्धि तदनुकूल मलिन होने लगती है।

यह साधारण पुरुषों के सम्बन्ध में कहा गया है। जो विशेष व्यक्ति हैं. जिनकी सम्पत्ति और विपत्ति में एकरूपता रहती है, उनकी बुद्धि में दैवानुसार सुख एवं दुःख के अनुभव के अनुरूप परिवर्तन नहीं होता। ऐसे विरले महापुरुष ही द्वन्द्वातीति होते हैं, वे ही अपने पौरुष से दैव को पराजित करने में समर्थ होते हैं।

दैव और पौरुष दोनों ही अपने-अपने स्थान पर प्रमुख हैं। दैव नाम पूर्वकृत कर्मों के फल भोग के लिये प्राणी का उन्मुख होना है। पूर्वकृत कर्मों का फल तो अवश्य भोगना ही पड़ेगा, वह तो नष्ट नहीं हो सकता। परन्तु उस सुख-दुःख-रूप भोग की अनुभूति को मनुष्य अपने धैर्य-रूप गुण से न्यून कर सकता है। पुरुषार्थ नए कर्म को उत्पन्न करके भावी दैव का निष्पादक होता है, उसके विना अगला दैव बन ही नहीं सकता। अतः इन में परस्पर कोई विरोध नहीं है। दैव के आश्रय कर्म-रहित होकर बैठना मूर्खता है, उसी प्रकार दैव को स्वीकार न करके पुरुषार्थ को ही सब कुछ समझना भी हानिकारक है। इस से मनुष्य में अहंकार की मात्रा बढ़ती है। उसे रोकने

के लिए एवं पुरुषार्थ में सतत प्रवृत्त रखने के लिये निष्काम भाव से कर्म करने अथवा कर्मफल को ब्रह्मार्पण करने का शास्त्रकारों ने विधान किया है। इसी प्रकार आचरण करने से मनुष्य की मनःशक्ति बढ़कर मनुष्य को द्वन्द्वातीत अवस्था में पहुंचा देती है ॥ ४१ ॥

**यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः।**
**तथा तथाऽस्य सर्वार्थाः सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः ॥४२॥**

## पदार्थ —

यथा-यथा—जैसे-जैसे
हि—निश्चय से
पुरुषः—पुरुष
कल्याणे—शुभ कर्मों में
कुरुते—करता है, लगाता है
मनः—मन को
तथा-तथा—उसी प्रकार
अस्य—इस [पुरुष] के
सर्वार्थाः—सब अर्थ अर्थात् प्रयोजन
सिद्ध्यन्ते—सिद्ध हो जाते हैं
न—नहीं
अत्र—यहां (इस विषय में)
संशयः—संदेह है।

## व्याख्या—

जैसे जैसे पुरुष शुभकर्मों में मन को लगाता है, वैसे वैसे उसके सभी अर्थ अर्थात् प्रयोजन=इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥४२॥

**नैनं छन्दांसि वृजनात् तारयन्ति**
**मायाविनं मायया वर्तमानम्।**
**नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाश्**
**छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥४३॥**

## पदार्थ—

न—नहीं
एनम्—इसको
छन्दांसि—वेद
वृजनात्—पापाचरण से
तारयन्ति—पार करते हैं
मायाविनम् मायावी को
मायया—माया से, छल प्रपंच से
वर्तमानम्—व्यवहार करने वाले को।
नीडम्—घोंसले को
शकुन्ताः—पक्षी
इव—जैसे

जातपक्षा:—पंख निकले हुए
छन्दांसि—वेद
एनम्—इस [मायावी को]
प्रजहति—छोड़ देते हैं
अन्तकाले—अन्तकाल में (मृत्यु के समय)।

## व्याख्या—

छल प्रपंच से व्यवहार करने वाले इस मायावी पुरुष को वेद भी पापकर्म के फल भोग से नहीं बचा सकते। अपितु जैसे पंख निकल आने पर पक्षी अपने घोंसलों को छोड़ देते हैं उसी प्रकार वेद भी इस मायावी पुरुष को अन्तकाल में छोड़ देते हैं।

**आशय**—इसका आशय यह है कि वेदाध्ययन, पापाचरण एवं पापकर्म के फल से बचाता है। परन्तु जो मायावी है, जानबूझ कर पापाचरण करता है, ऐसे भावदुष्ट को वेदाध्ययन से भी कुछ लाभ नहीं होता। यही मन्तव्य भगवान् मनु ने इस प्रकार प्रकट किया है—

**वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।**
**न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥२।९७॥**

अर्थात्=वेद=वेदाध्ययन, त्याग यज्ञ. नियम और विविध तप ये सब दुष्टभावनावाले विप्र के कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते, अर्थात् इनका फल उसे प्राप्त नहीं होता ॥ ४३ ॥

**मद्यपानं कलहं पूगवैरं,**
**भार्यापत्योरन्तरं ज्ञातिभेदम्।**
**राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवादं,**
**वर्ज्यान्याहुर्यश्च पन्थाः प्रदुष्टः ॥४४॥**

## पदार्थ—

मद्यपानम्—शराब के पीने को
कलहम्—लड़ाई झगड़े को
पूगवैरम्—समूह के वैर को
भार्यापत्योः—पत्नी और पति में
अन्तरम्—भेद को
ज्ञातिभेदम्—सम्बन्धियों में भेद डालने को
राजद्विष्टम्—राजा से द्वेष (या राजा जिससे द्वेष करता है उस) को
स्त्रीपुंसयोः—स्त्री पुरुषों में
विवादम्—कलह को

वर्ज्यानि—छोडने योग्य
आहुः—कहा है
यः—जो
च—और
पन्थाः—मार्ग
प्रदुष्टः—अधिक दुष्ट हो ।

## व्याख्या—

मद्यपान (शराब पीना), कलह (=झगड़ा बखेड़ा करना), समुदाय से विरोध, भार्या और पति में भेद पैदा करना, सम्बन्धियों में फूट डालना, राजा से द्वेष करना और स्त्री और पुरुषों में विवाद कराना इन सब कर्मों को साधु पुरुषों ने छोड़ने योग्य कहा है, अर्थात् इन कार्यों में पुरुष को प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार बुरा मार्ग भी त्याज्य माना गया है।

**विशेष**—पूग शब्द सामान्य रूप से समूह अर्थ का वाचक है। पाणिनि के **बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक्** (अष्टा० ५।२।५२) सूत्र में पूग शब्द गण या समूह का वाचक है, परन्तु **पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्** (अष्टा० ५।३।११२) में पूगशब्द नाना जातीय अनियतवृत्ति अर्थ-काम-प्रधान कुत्सित संघ का वाचक है। विदुरनीति के इस श्लोक में पूग शब्द संघसामान्य का वाचक समझना चाहिये।

टीकाकार ने इस श्लोक में यह संकेतित किया है कि हे धृतराष्ट्र! ज्ञाति-भेद एवं कलहरूपी कर्म यह वर्जनीय हैं, अतः इनमें तुम्हारी प्रवृत्ति ठीक नहीं है॥ ४४॥

**सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं**
**शलाकधूर्तं च चिकित्सकं च**
**अरिं च मित्रं च कुशीलवं च**
**नैतान् साक्ष्ये त्वधिकुर्वीत सप्त ॥४५॥**

## पदार्थ—

सामुद्रिकम्—हस्तादि की रेखा के परीक्षक को
वणिजम्—बनिए को
चोरपूर्वम्—पूर्वचोर को
शलाकधूर्तम्—जुवारी को
च—और
चिकित्सकम्—चिकित्सक को
च—और
अरिम्—शत्रु को
च—और
मित्रम्—मित्र को
च—और

कुशीलवम्—नाचने गाने वाले को
च—और
न—नहीं
एतान्—इनको
साक्ष्ये—साक्षी-कर्म में
तु—तो
अधिकुर्वीत—अधिकृत करे, प्रमाण माने
सप्त—सात को।

### व्याख्या—

हस्त आदि की रेखा देखने वाले, जो पहले चोर हो पीछे बनिया बन गया हो, जुवारी, चिकित्सक, शत्रु, मित्र और नाचने गाने वाले, इन सात को कभी साक्ष्य में ग्रहण न करे, [क्योंकि ये विभिन्न कारणों से असत्य साक्षी दे देते हैं]।

**विशेष**—नीलकण्ठ ने शलाकधूर्त का अर्थ कूट तुलावाला (जिसकी तराजू की डण्डी का छिद्र ठीक न हो, अथवा उसके भीतर एक ओर जिसने भारी पदार्थ भरा हो) तथा शलाका पाशादि से पक्षियों को छोड़ कर दूसरों को ठगता हो; किया है। हमारे विचार में इनकी अपेक्षा शलाका=जुआ खेलने का साधन=पासे फेंकने में धूर्त अर्थात् धूर्त जुवारी अधिक अच्छा है॥ ४५॥

मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीमुत मानयज्ञः ।
एतानि चत्वार्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि ॥४६॥

यह श्लोक अत्यन्त स्वल्प भेद एवं पूर्वार्ध उत्तरार्ध के परिवर्तन से पूर्व अ० १ श्लो० सं० ७९ पर आ चुका है। शब्द एवं शब्दार्थ तथा भाव पूर्ववत् ही है, अतः इसका पदार्थ एवं व्याख्या पूर्वत्र पृष्ठ ५३ पर देखें॥ ४६॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
पर्वकारश्च सूची च मित्रध्रुक् पारदारिकः ॥४७॥
भ्रूणहा गुरुतल्पी च यश्च स्यात् पानपो द्विजः ।
अतितीक्ष्णश्च काकश्च नास्तिको वेदनिन्दकः ॥४८॥
स्रुवप्रग्रहणो व्रात्यः कीनाशश्चात्मवानपि ।
रक्षेत्युक्तश्च यो हिंस्यात् सर्वे ब्रह्महभिः समाः ॥४९॥

## पदार्थ—

अगारदाही—घर जलाने वाला
गरदः—विष देने वाला
कुण्डाशी—कुण्ड से भक्षण करने वाला
सोमविक्रयी—सोम रस बेचने वाला
पर्वकारः—वाण आदि बनाने वाला
च—और
सूची—चुगलखोर
च—और
मित्रध्रुक्—मित्र से द्रोह करने वाला
पारदारिकः—परदारा में रमण करने वाला
भ्रूणहा—गर्भघाती
गुरुतल्पी—गुरुपत्नी-गामी
च—और
स्यात्—होवे
पानपः—शराब पीने वाला
द्विजः—ब्राह्मण
अतितीक्ष्णः—अत्यन्त कठोर
च—और
काकः—काकवत् मर्मतुद्
च—और
नास्तिकः—परलोक आदि न मानने वाला
वेदनिन्दकः—वेद की निन्दा करने वाला
स्रुवप्रग्रहणः—स्रुवा हाथ में लेकर घूमने वाला
व्रात्यः—पतित
कीनाशः—क्रूर
च—और
आत्मवान्—समर्थ
अपि—भी
रक्षः—रक्षा करो
इति—इस प्रकार
उक्तः—कहा हुआ
च—और
यः—जो
हिंस्यात्—मारे
सर्वे—सब
ब्रह्महभिः—ब्रह्मघातकों के
समाः—समान [हैं]।

## व्याख्या—

विना अपराध दूसरों के घर जलाने वाला, विष देने वाला, कुण्ड से खाने वाला=सर्वभक्षी, सोम रस बेचनेवाला, अस्त्र-शस्त्र बनाने वाला, चुगलखोर, मित्रद्रोही, परस्त्रीगामी, गर्भ गिराने वाला, गुरुपत्नीगामी, मद्य पीने वाला ब्राह्मण, अति-तीक्ष्ण=महाक्रोधी, काकवृत्ति=मर्मतुद्, नास्तिक, वेदनिन्दक, स्रुवा लेकर घूमने वाला (अयाज्ययाजी), व्रात्य=पतित, क्रूर और

समर्थं होते हुए 'मेरी रक्षा करो' ऐसा कहने पर भी हिंसा करने वाला, ये सब ब्रह्महा के समान हैं।

**विशेष—कुण्डाशी** शब्द का अर्थं कुण्डे में खाने वाला है। लक्षणार्थं है—भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करके सब कुछ खाने वाला सर्वभक्षी=अघोरी। नीलकण्ठ ने कुण्डाशी का अर्थं 'कुण्ड नामक अपत्य, जो पति के जीते हुए व्यभिचार से उत्पन्न हो, उससे जीने वाला' किया है।

**सोमविक्रयी**—सोम वेचना धर्मशास्त्र में पातक कर्म माना गया है। परन्तु श्रौत यज्ञों में सोमक्रय की विधि मिलती है। व्याख्याकार उसे पापकर्म न कह कर अपूर्व=अदृष्ट का उत्पादक मानते हैं। हमारे विचार में जब सोम साधारणरूप से सुलभ था, तब आदिधर्मसूत्रकारों ने उसका विक्रय अधर्म कहा था, परन्तु जब वह दुर्लभ हो गया तब यज्ञ के लिये सोमक्रय की स्वीकृति दे दी गई। जैसे दूध वेचना धर्मशास्त्र के अनुसार अधर्म माना गया है। भारत के गांवों में आज से ३०-४० वर्ष पूर्व तक दूध वेचना पुत्र वेचने के समान अधर्म माना जाता था। तदनन्तर दूध की कमी होने पर विक्रय आरम्भ हुआ। आरम्भ में दूध वेचना तो समाज ने स्वीकार कर लिया, परन्तु उस में जल मिलाना अधर्म माना गया। उत्तर काल में पांच प्रतिशत तक जल मिलाना स्वीकार कर लिया गया। आज दूध की अत्यन्त कमी हो जाने पर सब कुछ करने में (पर्याप्त पानी मिलाने, मक्खन निकाल लेने) आदि को भी विक्रेता पाप नहीं मानता।

**पर्वकार**— पर्व अणीदार (त्रिशूल जैसे) वाण को कहते हैं, जो शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर निकल न सके। आरम्भ में ऐसे वाणों का प्रयोग करना वर्जित माना गया था। पर्वकार का अर्थं अणीदार वाण बनाने वाला और उसका प्रयोक्ता दोनों हो सकते हैं। हमारें विचार से अणीदार वाण का प्रयोक्ता अर्थं अधिक उचित है। नीलकण्ठ ने आयुधमात्र निर्माता अर्थं किया है।

**सूची**—नीलकण्ठ ने सूची का अर्थ चुगलखोर और फलित ज्योतिषी दोनों किया है।

**नास्तिकः वेदनिन्दकः**—मनु ने वेदनिन्दक को ही नास्तिक कहा है। यहां दोनों का पृथक्-पृथक् ग्रहण होने से नास्तिक का अर्थं परलोक पुनर्जन्म आदि को न मानने वाला व्यक्ति अर्थं होता है।

**स्रुवप्रग्रहणः**— स्रुवा हाथ में लेकर घूमने वाला अर्थात् जो अधिकारी अनधिकारी का विचार विना किये लोभ के वशीभूत हो कर अयाज्यों को भी

याजन करने वाला। टीकाकार नीलकण्ठ ने राजकीय सेवा के बल से बनियों से रिश्वत खानेवाला और पक्षान्तर में ग्रामपुरोहित अर्थ किया है। हमारा अर्थ अधिक उत्तम है।

**व्रात्यः**—व्रात्य का अर्थ धर्मशास्त्रकारों ने पतित-सावित्रिक अर्थात् जिसका नियत समय पर व्रतबन्ध=उपनयन न हुआ हो, ऐसा पुरुष किया है। समाज में ऐसा पुरुष पतित माना गया है। प्राचीन धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक द्विज के बालक के लिये विद्याध्ययन अनिवार्य था। उसके लिए उपनयन संस्कार होता था। जो उचित समय पर उपनीत न होते थे, उन्हें पतित अर्थात् शूद्र माना जाता था। अथर्ववेद का १५वां काण्ड व्रात्य काण्ड कहलाता है। इस काण्ड में व्रात्य शब्द से ब्रह्म का प्रतिपादन है। एक ही शब्द के दो विरोधी अर्थ हैं। प्रथम वाला अर्थ आवरणार्थक 'वृ' धातु से निष्पन्न होता है अतः इस का अर्थ होगा जो अध्ययनादि सत्कर्मों से अपने को ढके=छिपाये=दूर रखता है। दूसरा व्रात्य शब्द वरणार्थक 'वृ' धातु से निष्पन्न होता है। इस का अर्थ होगा—वरण=स्वीकार करने योग्य। दोनों व्रात्य शब्दों में प्राचीन काल में अर्थ-भेद को प्रकट करने के लिए स्वरभेद रहा होगा, परन्तु उत्तर काल में स्वर का लोप हो जाने पर मूलतः दो पृथक् शब्द समान प्रतीत होकर अर्थ-संशय को उत्पन्न करते हैं।

**कीनाशः**—इस शब्द का अर्थ नीलकण्ठ टीकाकार ने 'किसान' किया है जो कि ठीक नहीं है। कृषि कर्म वेद विहित श्रेष्ठ कर्म है। ऋग्वेद (१०।३४।१४) में कहा है—**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व** (जुवा मत खेल, खेती कर)। यहां प्रकरण निन्दित कर्म करने वालों का है अतः किसान अर्थ स्पष्ट ही अयुक्त है। दशपादी उणादि (६।२ में) टीकाकार ने 'कीनाश': का अर्थ 'कदर्यः' अर्थात् निन्दित पुरुष किया है। हेमचन्द्राचार्य ने उणादि की व्याख्या (सूत्र ५३४) में कीनाश के अर्थ वर्णसंकर, कदर्य, लुब्ध (लोभी), कृतघ्न, कच्चा मांस खाने वाला, यम और कृषक लिखे हैं। इन में कृषक को छोड़ कर सभी निन्दितार्थक हैं ॥४६॥

**तृणोल्कया ज्ञायते जातरूपं**
**वृत्तेन भद्रो व्यवहारेण साधुः ।**
**शूरो भयेष्वर्थकृच्छ्रेषु धीरः**
**कृच्छ्रेष्वापत्सु सुहृदश्चारयश्च ॥५०॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| तृणोल्कया—छेदन और तपाने से | अर्थकृच्छ्रेषु=धन संकट उपस्थित होने पर |
| ज्ञायते—पहचाना जाता है | धीरः—धीर, |
| जातरूपम्—सुवर्ण, | कृच्छ्रेषु—घोर |
| वृत्तेन—आचार से | आपत्सु—आपत्तियां आने पर |
| भद्रः— | सुहृदः—मित्र |
| व्यवहारेण—वर्ताव से | च—और |
| साधुः—अच्छा, | अरयः—शत्रु |
| शूरः—शूर-वीर | च—और |
| भयेषु—भयों के प्राप्त होने पर, | |

## व्याख्या—

छेदन और तपाने के सुवर्ण पहचाना जाता है (खरा है वा खोटा)। आचार=शील से भद्र पुरुष पहचाना जाता है। (भद्र है वा अभद्र)। व्यवहार=वर्ताव के साधु पहचाना जाता है (साधु=अच्छा पुरुष है वा असाधु=बुरा)। भय उपस्थित होने पर शूर पहचाना जाता है (शूर है वा कायर)। अर्थसंकट उपस्थित होने पर वीर पहचाना जाता है (धैर्यवान् है अथवा अधैर्यवान्)। घोर आपत्तियों आने पर मित्र और शत्रु पहचाने जाते हैं।

**विशेष**—नीलकण्ठ टीकाकार ने **तृणोल्कया** का अर्थ तिनके की ज्वाला और **जातरूपम्** का अर्थ **रूपवान् पदार्थ** किया है, ये दोनों ठीक नहीं। जातरूप शब्द का अर्थ सुवर्ण प्रसिद्ध है अतः यहां **तृणोल्कया** में तृण का अर्थ छेदन (तृदी छेदने=तर्दन) और उल्का का अर्थ ताप लेना चाहिये। शास्त्रकारों ने कहा है—

**चतुर्भिः प्रकारैः कनकं परीक्ष्यते निर्घर्षणच्छेदनतापताडनैः।**

अर्थात् सुवर्ण की परीक्षा चार प्रकार से होती है—कसौटी पर घिसने से, काटने से, तपाने से और चोट मारने से।

तृण शब्द छेदनार्थक तृद धातु से वनता है। अतः इसका छेदन अर्थ विना खींचातानी के हो सकता है। उल्का का अर्थ भी अग्निज्वाला होता है (द्र० दशपादी उणादिवृत्ति ३।२० तथा हैमोणादिवृत्ति सूत्र २६)। व्याकरण

के सामान्य नियमानुसार 'तृणं च उल्का च=तृणोल्कं' प्रयोग होना चाहिये। प्रकृत श्लोक में **तृणोल्का** पद को आर्ष प्रयोग मानना चाहिए। अर्थात् यहां समाहार द्वन्द्व करने पर नपुंसकत्व का अभाव जानना चाहिये, यथा—**ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः** (अष्टा० १।२।२७) सूत्र में नपुंसकत्व का अभाव देखा जाता है। इसी प्रकार **ह्वावामश्च** (३।२।२) सूत्र में भी 'ह्वा-वा-मा' के समाहारद्वन्द्व में नपुंसकत्व का अभाव होने से 'मा' का पञ्चमी विभक्ति के एक वचन में 'मः' रूप बना है, अन्यथा 'मात्' होना चाहिये ॥५०॥

**जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा**
**मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया।**
**क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा**
**ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ॥५१॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| जरा—बुढ़ापा | क्रोधः—क्रोध |
| रूपम्—रूप को | श्रियम्—धन सम्पत्ति को, |
| हरति—हरण करता है=नष्ट करता है, | शीलम्—उत्तम स्वभाव को |
| हि—निश्चय से | अनार्यसेवा—दुष्ट लोगों की सेवा वा संग, |
| धैर्यम्—धैर्य को | ह्रियम्—लज्जा को |
| आशा—आशा, | कामः—काम (विषय वासना). |
| मृत्युः—मौत | सर्वम्—सब को |
| प्राणान्—प्राणों को, | एव—ही |
| धर्मचर्याम्—धर्म के आचरण को | अभिमानः—अभिमान। |
| असूया—निन्दा (गुणों में दोषारोपण), | |

पूर्व श्लोक में सुवर्ण आदि के भले बुरे की पहचान कैसे होती है, यह कहा है। इस श्लोक में कौन सा दुर्गुण किस का नाशक होता है यह कहते हैं —

बुढ़ापा रूप को नष्ट करता है, आशा धैर्य को समाप्त करती है, मृत्यु प्राणों को नष्ट करता है, असूया=गुणों में दोषारोपण रूप निन्दा धर्माचारण को समाप्त कर देती है, क्रोध सम्पत्ति को नष्ट करता है, दुष्ट लोगों की सेवा वा संग उत्तम स्वभाव को नष्ट कर देता है, काम (विषय-वासना) लज्जा (वह गुण जिस से मनुष्य बुरे कार्यों से बचता है) को नष्ट कर देता है और अभिमान सब को समाप्त कर देता है।

**विशेष**—भर्तृहरि ने भी ऐसा ही एक सुन्दर निर्देश किया है—

**लोभश्चेदगुणेन किं पिशुना यद्यस्ति किं पातकैः।** नीति० ४४॥

अर्थात् यदि लोभ हो तो अन्य अवगुणों की क्या आवश्यकता अर्थात् लोभी पुरुष में अन्य सभी अवगुण स्वयं उपस्थित हो जाते हैं। यदि पिशुनता (=झूठी चुगली खाना) का किसी में दोष हो तो अन्य पातक कर्मों की क्या आवश्यकता अर्थात् चुगल खोर सभी बुरे कर्म कर सकता है।

अभिमान से मनुष्य सभी सद्गुणों एवं सुखों से रहित हो जाता है। अभिमान पराजय का मुखरूप प्रधान द्वार है। शतपथ में भगवान् याज्ञवल्क्य का उपदेश है—

**असुरा......अतिमानेनैव पराबभूवुः, तस्मान्नावमन्येत, पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः** ॥ शत० ११।१।८।१॥

अर्थात्—असुर लोग अतिमान=अभिमान के कारण ही पराजित हुए। इसलिये अभिमान नहीं करना चाहिये। निश्चय ही अभिमान पराजय का मुख है अर्थात् यहीं से पराजय=गिरावट का आरम्भ होता है, जैसे-जैसे से अभिमान बढ़ता जाता है मनुष्य वैसे-वैसे गिरता जाता है ॥५१॥

**श्रीर्मङ्गलात् प्रभवति प्रागल्भ्यात् सम्प्रवर्धते।**
**दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं संयमात् प्रतितिष्ठति ॥५२॥**

## पदार्थ—

श्रीः—लक्ष्मी=धन सम्पत्ति
मङ्गलात्—उत्तम कर्मों से
प्रभवति—उत्पन्न होती है,
प्रागल्भ्यात्—चतुराई से
संप्रवर्धते—बढ़ती है,
दाक्ष्यात्—शीघ्रकारिता (काल क्षेप न करने) से
तु—निश्चय
कुरुते—करती
मूलम्—मूल को,
संयमात्—संयम से
प्रतितिष्ठति—ठहराती है।

## व्याख्या—

लक्ष्मी=धन सम्पत्ति की प्राप्ति उत्तम कर्मों से होती हैं, चतुरता (=कार्य को यथायोग्य रूप से सम्पन्न करने) से वह बढ़ती है, दक्षता=शीघ्र कारिता (समय पर कार्य करना, समय का उल्लङ्घन न करना) से उसकी जड़ जमती है, एवं संयम से=विवेक पूर्वक कार्य करने से यह स्थिर होती है।

**विशेष**—प्राचीन आचार्यों ने विभिन्न वस्तुओं के विभिन्न वाहनों की कल्पना करके अनेक विशेष निर्देश दिये हैं। लक्ष्मी का वाहन उल्लू कहा गया है। इसका भाव यह है कि लक्ष्मी जिसके पास आती है वह व्यक्ति प्रायः धन के मद में उल्लू बन जाता है। जैसे उल्लू को प्रकाश से घृणा एवं अन्धकार से प्रेम होता हैं, इसी प्रकार धनाभिमानी भी सद्बुद्धि रूप प्रकाश से रहित हो जाता है, एवं तमोरूप बुरे व्यसनों से प्रीति होती है। उसकी विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है। इसी भाव को एक हिन्दी भाषा के कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता बौराय।
एक खाय बौरात है दूसर पाय बौराय॥

अर्थात्—कनक=सुवर्ण=धन सम्पत्ति, कनक=धतूरे से मादकता में =पागल बनाने में सौगुना है। एक=कनक=धतूरे को तो खाकर मनुष्य पागल होता है, किन्तु दूसरे=कनक=धन को पाकर हो पागला जाता है।

ऐसे ही धन-मद से पागल हुए मनुष्य के लिए बाइवल में कहा है—

"सूई के छिद्र से (जहां डोरा डालते हैं) ऊंट का गुजरना=निकलना सम्भव है, परन्तु स्वर्ग के द्वार से धनी का गुजरना असम्भव है।"

इसलिये शास्त्रकार उपदेश देते हैं कि लक्ष्मी को पाकर मनुष्य को उसके मद में पागल नहीं होना चाहिये, अपितु संयम से सद्बुद्धि पूर्वक व्यवहार करना चाहिये, तभी लक्ष्मी स्थिर रहती है, अन्यथा अपने 'चञ्चला' नाम के अनुरूप वह उसको छोड़ कर चली जाती है ॥५२॥

**अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च।**
**पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च॥५३॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| अष्टौ—आठ | च—और |
| गुणाः—गुण | पराक्रमः—पराक्रम=शूरता |
| पुरुषम्—पुरुष को | च—और |
| दीपयन्ति—प्रकाशित करते हैं, बढ़ाते हैं। | अबहुभाषिता—कम बोलना |
| | च—और |
| प्रज्ञा—बुद्धि | दानम्—दान=देना |
| च—और | यथाशक्ति—शक्त्यनुसार |
| कौल्यम्—कुलीनता | कृतज्ञता—किये हुए उपकार को स्मरण रखना |
| च—और | |
| दमः—इन्द्रिय दमन | च—और। |
| श्रुतम्—अध्ययन=ज्ञान | |

## व्याख्या—

हे राजन्—प्रज्ञा (=विशेष ज्ञान), कुलीनता, इन्द्रिय-दमन, ज्ञान, पराक्रम, मितभाषी होना, यथाशक्ति दान और कृतज्ञता से आठ गुण पुरुष को प्रकाशित करते हैं, बढ़ाते हैं।

**विशेष**—कुलीनता का सम्बन्ध वैभव-सम्पन्न घराने से नहीं है। इस का सम्बन्ध है अपने कुल की प्रतिष्ठा का ध्यान रखने से, चाहे वह धनवान् हो चाहे निर्धन। जिन कुलों में अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान रखा जाता है उस कुल के पुरुषों में अनेक गुण स्वभावतः प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसे कुलीन घराने के मनुष्य अपने कुल को अप्रतिष्ठा से बचाने के लिए विविध प्रकार के कष्टों को सहन कर लेते हैं, परन्तु कुल की अप्रतिष्ठा नहीं होने देते। इस प्रकार के कुल में उत्पन्न हुए पुरुष कुलीन कहाते हैं।

शास्त्रकारों ने राजपरिषद् और मन्त्रीमण्डल के पुरुषों के चुनाव में एक गुण कुलीनता का भी निर्देश किया हैं, उसका कारण यह है कि ऐसे महनीय गोप्य पदों पर रखे गए व्यक्तियों से यदि कोई राजा दुर्भाग्य वश दुर्व्यवहार कर बैठे तो वे स्वयं राजकीय यातना को सहर्ष सहन कर लेते हैं, पर बदला लेने की भावना से वे राज्य के विशेष रहस्य अन्य जनों को प्रकट नहीं करते। यही बात सेवकों पर भी लागू होती है। ऐसे सेवक कभी नमक-हरामता प्रदर्शित नहीं करते।

कुलीनता=अभिजातता का वैशिष्ट्य सदा रहा है और रहेगा, परन्तु इसका सम्बन्ध धन-सम्पन्नता के साथ नहीं है, यह ध्यान रखना चाहिये। आजकल कुल की महत्ता उसके सद्गुणों से न आंकी जाकर धन से आंकी जा रही है, यह मूर्खता है।

यदि स्वामी और सेवक, राजा और प्रजा, अधिकारी और अधीनस्थ, सभी अपनी अपनी कुलीनता का ध्यान रखें, तो कम्यूनिज्म=वर्तमान तथाकथित साम्यवाद कभी पनप ही नहीं सकता ॥५३॥

**एतान् गुणांस्तात महानुभावानेको गुणः संश्रयते प्रसह्य।**
**राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं सर्वान्गुणानेष गुणो विभाति ॥५४॥**

## पदार्थ—

एतान्—इन
गुणान्=गुणों को
तात—ज्येष्ठ भ्रातः!
महानुभावान्—महत्त्वपूर्णों को
एकः—एक
गुणः—गुण
संश्रयते—आश्रय लेता है
प्रसह्य—दबा कर,
राजा—राजा
यदा—जब
सत्कुरुते—सत्कृत करता है
मनुष्यम्—मनुष्य को
सर्वान्—सब
गुणान्—गुणों को
एष—यह
गुणः—गुण
विभाति—प्रकाशित करता है।

## व्याख्या—

हे तात=भ्रातः! पूर्वोक्त महत्त्वपूर्ण गुणों को दबाकर जब राज-सत्कार रूप एक गुण आश्रय लेता है प्राप्त होता है, तब सब गुणों को यह एक गुण प्रकट कर देता है अर्थात् राज-सत्कृत में सब गुण दिखाई देते है।

**विशेष**—इस श्लोक का भाव यह है कि उपर्युक्त आठ गुण जिस पुरुष में स्वभावतः होते हैं वह इन गुणों से स्वयं लोक में सत्कृत होता है, परन्तु जिस में ये स्वाभाविक गुण न हों, परन्तु उसे राज-सत्कार प्राप्त हो जाये तो उस राजाश्रय के बल से उसमें ये सभी गुण प्रकट हो जाते हैं।

टीकाकार नीलकण्ठ के मतानुसार प्रकृत ५०-५४ तक के श्लोकों में विदुर ने सांकेतिक भाषा के रूप में धृतराष्ट्र को दुर्योधन एवं उसके सहायकों

की हीनता का बोध कराया है। ५०वें श्लोक में उत्तमशील और वर्ताव का निर्देश करके संकेत किया है कि तुम्हारा पुत्र शील और सद्व्यवहार से रहित होने से निन्दित एवं असाधु पुरुष है। ५१वें श्लोक में संकेत किया है कि दुर्योधन आदि में जो अभिमान है वह उनके नाश का कारण होगा। ५२वें श्लोक में लक्ष्मी की स्थिरता संयम से दर्शाकर बताया है कि तुम्हारे पुत्र उच्छृङ्खल हैं अतः इनको प्राप्त हुई लक्ष्मी=राज्य स्थिर न होगा अर्थात् नष्ट हो जायेगा। ५३-५४ श्लोकों से संकेत किया है कि कर्ण आदि में जो विशिष्ट गुण प्रतीत होते हैं, वे राजसत्कार के कारण हैं, स्वाभाविक नहीं हैं। इस कारण उस में प्रतीत होने वाले गुण दुर्योधन को सहारा नहीं दे सकते ॥५४॥

**अष्टौ नृपेमानि मनुष्यलोके स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शनानि।**
**चत्वार्येषामन्ववेतानि सद्भिश्चत्वारि चैषामनुयान्ति सन्तः ॥५५॥**

## पदार्थ—

अष्टौ—आठ
नृप—हे राजन्!
इमानि—ये
मनुष्यलोके—पृथिवी लोक में, मनुष्य समाज में
स्वर्गस्य—स्वर्ग के
लोकस्य—लोक के=परलोक के
निदर्शनानि—ज्ञान कराने वाले [हैं],
चत्वारि—चार
एषाम्—इन में
अन्ववेतानि—नित्यसम्बद्ध
सद्भिः—सत्पुरुषों के साथ,
चत्वारि—चार को
च—और
एषाम्—इनमें
अनुयान्ति—अनुगमन करते हैं, यत्नपूर्वक सेवन करते हैं
सन्तः—सत्पुरुष।

## व्याख्या—

हे राजन्! आगे कहे गए आठ गुण पृथिवी लोक में स्वर्गलोक के निर्देशक=ज्ञान कराने वाले है। इन में चार गुण ऐसे हैं जो सत्पुरुषों के साथ नित्य सम्बद्ध हैं। अर्थात् ये सत्पुरुषों में तो रहते ही है, अन्यत्र भी दिखाई पड़ सकते है। शेष चार गुण ऐसे हैं जिनका सत्पुरुष यत्न पूर्वक सेवन करते हैं अर्थात् असत् पुरुष इन से दूर ही रहते हैं ॥५५॥

यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च चत्वार्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः ।
दमः सत्यमार्जवमानृशंस्यं चत्वार्येतान्यनुयान्ति सन्तः ॥५६॥

पदार्थ—

यज्ञः—यज्ञ करना
दानम्—दान देना
अध्ययनम्—पढ़ना
तपः—तप करना
च—और
चत्वारि—चार
एतानि—ये
अन्ववेतानि—नित्य संबद्ध [हैं]
सद्भिः—सत्पुरुषों के साथ।
दमः—इन्द्रिय दमन
सत्यम्—सत्यभाषण
आर्जवम्—सरलता (कुटिलता का त्याग)
आनृशंस्यम्—कोमलता (कठोरता का अभाव)
चत्वारि—चार
एतानि—इनको
अनुयान्ति—अनुगमन करते हैं
सन्तः—सत्पुरुष।

व्याख्या—

यज्ञ, दान, अध्ययन, तप ये चार गुण ऐसे हैं सो सत्पुरुषों के साथ नित्य संबद्ध हैं अर्थात् सत्पुरुषों में तो ये अवश्य ही रहते हैं। दम, सत्य, आर्जव, आनृशंस्य ये चार गुण ऐसे हैं जिनका सत्पुरुष यत्नपूर्वक सेवन करते हैं ॥५६॥

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥५७॥

पदार्थ—

इज्याध्ययनदानानि—यज्ञ, अध्ययन और दान,
तपः—तप,
सत्यम्—सत्यभाषण,
क्षमा—क्षमा करना,
घृणा—दया
अलोभ—लोभ का त्याग
इति—पूर्व निर्दिष्ट
मार्गः—मार्ग
अयम्—यह
धर्मस्य—धर्म का
अष्टविधः—आठ प्रकार का
स्मृतः—कहा गया है, स्मरण किया गया।

## व्याख्या—

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्यभाषण, क्षमा, दया और लोभ-त्याग यह धर्म का आठ प्रकार का मार्ग कहा गया।

**विशेष**—इस श्लोक में प्रयुक्त **घृणा** शब्द वर्तमान व्यवहार में 'घृणा करना=किसी को बुरा समझ कर उस से दूर रहना' अर्थ में ही प्रयुक्त होता है परन्तु प्रचीन संस्कृतभाषा में इस का प्रयोग **दया** अर्थ में भी होता है। यहां पर 'घृणा' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और इसी से बना हुआ **घृणी** शब्द 'दयालु' के अर्थ में महाभारत में बहुत प्रयुक्त मिलता है। प्रकृत श्लोक में तप सत्य क्षमा आदि के साथ प्रयुक्त 'घृणा' शब्द लोक प्रसिद्ध अर्थ में नहीं लिया जा सकता, यह प्रकरण से ही स्पष्ट है। दया अर्थ वाला घृणा शब्द **घृ क्षरणदीप्त्योः** धातु से 'न' प्रत्यय होकर बनता है इसका अर्थ होगा—दुःखी को देखकर पिघल जाना=दयार्द्र हो जाना। विदुरनीति १।९५ में 'घृणी' शब्द लोक प्रसिद्ध अर्थ 'घृणा करने वाला' अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है ॥५७॥

**तत्र पूर्वचतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते।**
**उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति ॥५८॥**

## पदार्थ—

तत्र—इन में
पूर्वः—पहला
चतुर्वर्गः—चार का वर्ग=यज्ञ अध्ययन दान और तप
दम्भार्थम्—दम्भ के लिए=दिखावे के लिए
अपि—भी
सेव्यते—सेवन किया जाता है।
उत्तमः—अगला
च—और
चतुर्वर्गः—चार का वर्ग=सत्य, क्षमा, दया और लोभ त्याग
न—नहीं
अमहात्मसु—दुर्जनों में
तिष्ठति—रहता है।

## व्याख्या—

उक्त आठ गुणों में से प्रथम चार-यज्ञ, अध्ययन, दान और तप इनको दुर्जन लोग दम्भ के लिए=दिखावे के लिए भी सेवन करते हैं, परन्तु उत्तर

चार गुण—सत्य, क्षमा, दया और लोभ का परित्याग ये दुर्जनों में कभी नहीं रहते ॥५८॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥५९॥

## पदार्थ—

न—नहीं
सा—वह
सभा—सभा [है]
यत्र—जिस में
न—नहीं
सन्ति—है
वृद्धाः—वृद्ध=ज्ञान वयोवृद्ध पुरुष,
न—नहीं
ते—वे
वृद्धाः—वृद्ध=ज्ञान वयोवृद्ध [हैं]
ये—जो
न—नहीं
वदन्ति—कहते हैं
धर्मम्—धर्म को,
न—नहीं
असौ—वह
धर्मः—धर्म [है]
यत्र—जिस में
न—नहीं
सत्यम्—सत्य
अस्ति—है,
न—नहीं
तत्—वह
सत्यम्—सत्य [है]
यत्—जो
छलेन—छल से
अभ्युपेतम्—संयुक्त हो ।

## व्याख्या—

वह सभा=परिषद् ही नहीं है जिस में वृद्ध=ज्ञान और वय से वृद्ध पुरुष न हों, वे वृद्ध=ज्ञान और वय से वृद्ध ही नहीं हैं जो धर्म का कथन न करें, न वह धर्म ही है जिस में सत्य का योग न हो और न वह सत्य ही है जो छल से संयुक्त हो ।

**विशेष**—इस लक्षण के अनुसार जिन भीष्म पितामह एवं आचार्य द्रोण के सन्मुख रजस्वला एकवस्त्रा द्रौपदी को नंगा करने के लिये उसका

वस्त्र खींचा गया और ये महानुभाव टुकर-टुकर देखते रहे, दुर्योधन प्रभृति के अत्याचार का विरोध नहीं किया, वे वृद्ध की परिभाषा में गिने ही नहीं जा सकते। इसी प्रकार युद्ध काल में महाराजा युधिष्ठिर का **अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा** छलयुक्त वचन भी असत्य की परिभाषा में ही परिगणित होता है ॥५६॥

**सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् ।**
**शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः ॥६०॥**

### पदार्थ—

सत्यम्—सत्यभाषण
रूपम्—उत्तम रूप अथवा विनीत मुद्रा=रूप
श्रुतम्—उत्तम अध्ययन
विद्या—ज्ञान
कौल्यम्—कुलीनता
शील—उत्तम स्वभाव
बलम्—बल
वीर्यम्—शूरता
च—और
चित्रभाष्यम्—युक्तियुक्त भाषण शक्ति
च—और
दश—दस
इमे—ये
स्वर्गयोनयः—स्वर्ग की योनियां=साधन हैं।

### व्याख्या—

सत्य, उत्तम अथवा विनीत रूप, श्रेष्ठ अध्ययन, ज्ञान, कुलीनता, शील=उत्तम स्वभाव, बल, धन शूरता और युक्तियुक्त भाषण का सामर्थ्य, ये दस स्वर्ग की योनियां अर्थात् साधन हैं।

**विशेष**—नीलकण्ठ टीकाकार ने **दशेमे स्वर्गयोनयः** के स्थान पर **दश संसर्गजा गुणाः** पाठान्तर दर्शाया है। इसका भाव यह है कि ये दस गुण, संसर्ग से उत्पन्न होने वाले हैं, इसलिये इन गुणों की प्राप्ति के लिये सत्पुरुषों का संग अवश्य करना चाहिये ॥६०॥

**पापं कुर्वन् पापकीर्तिः पापमेवाश्नुते फलम् ।**
**पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यमत्यन्तमश्नुते ॥६१॥**

## पदार्थ—

पापम्—पाप=दुष्कर्म को
कुर्वन्—करता हुआ
पापकीर्तिः—कलङ्कित [होता हुआ]
पापम्—पाप=बुरे को
एव—ही
अश्नुते—भोगता है
फलम्—फल को

पुण्यम्—पुण्य=सत्कर्म को
कुर्वन्—करता हुआ
पुण्यकीर्तिः—उत्तम यश वाला [होता हुआ]
पुण्यम्—पुण्य=श्रेष्ठ [फल को]
अत्यन्तम्—अत्यन्त को
अश्नुते—भोगता है

## व्याख्या—

पापकर्म करता हुआ पुरुष कलङ्कित होकर बुरे फल को ही भोगता है और श्रेष्ठ कर्म करता हुआ पुरुष उत्तम कीर्ति वाला होकर अच्छे फल को भोगता है ॥६१॥

**तस्मात् पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः ।**
**पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥६२॥**

**नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यामारभते नरः ।**
**पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥६३॥**

**वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभते नरः ।**
**पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यं स्थानं स्म गच्छति ।**
**तस्मात् पुण्यं निषेवेत पुरुषः सुसमाहितः ॥६४॥**

## पदार्थ—

तस्मात्—इसलिए
पापम्—बुरे कर्म को
न—नहीं
कुर्वीत—करे

पुरुषः—पुरुष
संशितव्रतः—उत्तम व्रत वाला
पापम्—पाप कर्म
प्रज्ञाम्—बुद्धि को

नाशयति—नष्ट करता है
क्रियमाणम्—किया जाता हुआ
पुनः-पुनः—बार-बार ॥६२॥
नष्टप्रज्ञः—जिसकी बुद्धि नष्ट हो गई है, वह
पापम्—पाप कर्म को
एव—ही
नित्यम्—सदा=बार-बार
आरभते—आरम्भ करता है =अचारण में लाता है
नरः—मनुष्य ।
पुण्यम्—उत्तम कर्म
प्रज्ञाम्—बुद्धि को
वर्धयति—बढ़ाता है
क्रियमाणम्—किया जाता हुआ ।
पुनः पुन—बार बार ॥६३॥
वृद्धप्रज्ञः—बढ़ी हुई बुद्धि वाला
पुण्यम्—उत्तम कर्म को
एव—ही
नित्यम्—सदा
आरभते—आरम्भ करता है=आचरण करता है।
नरः—मनुष्य
पुण्यम्—उत्तम कर्म
कुर्वन्—करता हुआ
पुण्यकीर्तिः—उत्तम यश वाला
पुण्यम्—उत्तम
स्थानम्—स्थान को=योनि को
स्म गच्छति—प्राप्त करता है
तस्मात्—इसलिये
पुण्यम्—उत्तम कर्म को
निषेवेत—सेवन=आचरण करे
पुरुषः—पुरुष
सुसमाहितः—एकाग्रचित्त होकर ॥६४॥

## व्याख्या—

इसलिये (=उपर्युक्त हेतु से) उत्तम व्रत वाला पुरुष कभी पाप कर्म का आचारण न करे, क्योंकि बार-बार पाप कर्म का आचारण किया हुआ [पापाचारी मनुष्य की] बुद्धि को नष्ट कर देता है (६२)। जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह मनुष्य पापकर्म को ही सदा करता है। बार-बार उत्तम कर्म किया हुआ बुद्धि को बढ़ाता है (६३) और बढ़ी हुई बुद्धि वाला पुरुष सदा उत्तम कर्म ही करता है। उत्तम यशवाला मनुष्य उत्तम कर्म करता हुआ उत्तम लोक वा योनि को प्राप्त करता है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह एकग्रचित्त होकर (=संशय को त्याग कर) सदा उत्तम कर्मों का ही आचरण करे ॥ ६४ ॥

**असूयको दन्दशूको निष्ठुरो वैरकृच्छठः ।**
**स कृच्छ्रं महदाप्नोति नचिरात् पापमाचरन् ॥६५॥**

## पदार्थ—

असूयकः—असूया करने वाला, का कुटिल
दन्दशूकः—मर्म स्थान पर चोट करने वाला
निष्ठुरः—कठोर वाणी बोलने वाला
वैरकृत्—विरोध करने वाला
शठः—धूर्त
सः—वह
कृच्छ्रम्—आपत्ति
महत्—बड़ी को
आप्नोति—प्राप्त करता है
नचिरात्—शीघ्र ही
पापम्—पाप को
आचरन्—आचरण करता हुआ।

## व्याख्या—

जो असूया करने वाला, मर्म स्थान पर चोट करने वाला, कठोर वाणी बोलने वाला, विरोध करने वाला और धूर्त पुरुष होता है वह पाप का आचरण करता हुआ शीघ्र ही महती विपत्ति को प्राप्त होता है।

**विशेष**—'दन्दशूक' नाम सर्प का प्रसिद्ध है। यह पद भी 'दश' धातु के यङन्त रूप से अष्टा० ३।२।१६६ से 'ऊक' प्रत्यय होकर बनता है। 'दंश' धातु से यङ् प्रत्यय भावगर्हा=क्रिया की निन्दा अर्थ में (अष्टा० ३।१।२४) होता है। अतः दन्दशूक का मूल अर्थ है निन्दित रूप से दशन=काटना=हिंसा करना आदि क्रिया को करने वाला। इस प्रकार दन्दशूक शब्द का अर्थ होता है मर्मंतुद्।

**नचिरात्** यह एक समस्त पद है नख नक्ष आदि के समान नञ् के 'न्' का लोप नहीं होता ॥६५॥

**अनसूयुः कृतप्रज्ञः शोभनान्याचरन् सदा ।**
**नकृच्छ्रं महदाप्नोति सर्वत्र च विरोचते ॥६६॥**

## पदार्थ—

अनसूयुः—असूया न करने वाला, कुटिलता रहित सरल
कृतप्रज्ञः—बुद्धिमान्
शोभनानि—उत्तम कर्मों को
आचरण—आचरण करता हुआ
सदा—सर्वदा
नकृच्छ्रम्—सुख को
महत्—बड़े को

| | |
|---|---|
| आप्नोति—प्राप्त होता है | विरोचते—प्रकाशित=प्रसिद्ध=यशस्वी होता है। |
| सर्वत्र—सब स्थानों में | |
| च—और | |

## व्याख्या—

जो बुद्धिमान् पुरुष असूया न करता हुआ सदा उत्तम कर्मों का ही आचरण करता है। वह महान् सुख को प्राप्त होता है और वह सर्वत्र प्रकाशित=यशस्वी होता है।

**विशेष—नकृच्छ्रम्** पद भी **नचिरात्** के समान एक समस्त पद है। इसका अर्थ "सुख" है ॥६६॥

**प्रज्ञामेवागमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पण्डितः ।**
**प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम् ॥६७॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| प्रज्ञाम्—बुद्धि=ज्ञान को | प्राज्ञः—विद्वान् |
| एव—ही | हि—निश्चय से |
| आगमयति—प्राप्त करता है | अवाप्य—प्राप्त करके |
| यः—जो | धर्मार्थौ—धर्म और अर्थ को |
| प्राज्ञेभ्यः—बुद्धिमानों से | शक्नोति—समर्थ होता है |
| सः—वह | सुखम्—सुख को |
| पण्डितः—विद्वान् [होता है] | एधितुम्—बढ़ाने के लिये। |

## व्याख्या—

जो पुरुष बुद्धिमानों से बुद्धि=ज्ञान को प्राप्त करता है, वह विद्वान् होता है। विद्वान् पुरुष धर्म एवं अर्थ दोनों को प्राप्त करके [ऐहलौकिक एवं पारलौकिक उभयविध] सुख को बढ़ाने में समर्थ होता है।

**विशेष—प्रज्ञा अस्मिन्नस्ति स प्राज्ञः**=प्रज्ञा जिसमें हो वह प्राज्ञ कहाता है। **प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः** (अष्टा०५।२।१०१) सूत्र से प्रज्ञा शब्द से 'ण' प्रत्यय होकर प्राज्ञ शब्द बनता है।

संसार में समस्त उन्नतियों का मूल प्रज्ञा=बुद्धि ही है। इस लिये मनुष्य को चाहिये कि सब कार्य बुद्धिपूर्वक करे। किन्तु जो पुरुष अपनी बुद्धि

का अभिमान करने लग जाते हैं वह पूर्व (३।५१) श्लोकानुसार समूल नष्ट हो जाते हैं। इस लिये शास्त्रकार कहते हैं **प्रज्ञामूलं विनयः**, विनीत होना ही प्रज्ञा का मूल है। जो विनीत होगा अहंकारी न होगा वही अन्यों से ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। यही भाव विदुरनीति के इस श्लोक के पूर्वार्ध का है ॥६७॥

**दिवसेनैव तत् कुर्याद् येन रात्रौ सुखं वसेत् ।**
**अष्टमासेन तत् कुर्याद् येन वर्षाः सुखं वसेत् ॥६८॥**

## पदार्थ

दिवसेन—दिन से (=दिन में)
एव—ही
तत्—उसको
कुर्यात्—करे
येन—जिससे
रात्रौ—रात्रि में
सुखम्—सुख से
वसेत्—बसे=रहे

अष्टमासेन=आठ महिनों से
तत्—उसको
कुर्यात्—करे
येन—जिससे
वर्षाः—बरसा काल [में]
सुखम्—सुख से
वसेत्—बसे=रहे।

## व्याख्या—

[मनुष्य को चाहिये कि] दिन में ऐसा कार्य करे जिससे रात्रि में सुख पूर्वक रहे, किसी प्रकार की चिन्ता न होवे। इसी प्रकार वर्ष भर के आठ महिनों में ऐसा प्रयत्न करे कि वर्षा काल में सुखपूर्वक रह सके।

**अभिप्राय**—वर्षाकाल में जलप्रधान (अनूप) देश में आवागमन के मार्ग आदि अवरुद्ध हो जाते हैं, इसलिये मनुष्यों को चाहिये कि ८ मास में प्रयत्न पूर्वक उन सभी वस्तुओं का संग्रह कर ले, जिन की प्राप्ति वर्षाकाल में दुर्लभ हो ॥६८॥

**पूर्वे वयसि तत् कुर्याद् येन वृद्धः सुखं वसेत् ।**
**यावज्जीवेन तत् कुर्याद् येन प्रेत्य सुखं वसेत् । ६९॥**

## पदार्थ—

पूर्वे—प्रथम
वयसि—अवस्था में

तत्—उसको
कुर्यात्—करे

येन—जिससे
वृद्ध—वृद्धावस्था में
सुखम्—सुख से
वसेत्—रहे।
यावज्जीवेन—जब तक जीवन है तब तक (=पूर्ण आयु में)
तत्—उसको
कुर्यात्—करे
येन—जिससे
प्रेत्य—मरकर (परलोक में)
सुखम्—सुख से
वसेत्—रहे।

## व्याख्या—

[मनुष्य को चाहिये कि] आयु के पूर्वार्ध में ऐसा कर्म करे जिससे वृद्धावस्था में सुख से रहे, यावज्जीवन ऐसे कार्य करे जिससे मरकर परलोक में सुख से रहे ।।६९।।

**जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति भार्यां च गतयौवनाम्।**
**शूरं विजितसंग्रामं गतपारं तपस्विनम् ।।७०।।**

## पदार्थ—

जीर्णम्—पचे हुए
अन्नम्—अन्न को
प्रशंसन्ति—प्रशंसा करते हैं
भार्याम्—भार्या को
च—और
गतयौवनाम्—यौवनावस्था लांघी हुई को,
शूरम्—शूर को
विजितसंग्रामम्—जीत लिया है संग्राम जिसने, उसको
गतपारम्—पार गए हुए को (=परम तत्त्व जिसने पा लिया है उसको)
तपस्विनम्—तपस्वी को।

## व्याख्या—

खाया हुआ अन्न पच जाये उसकी, यौवनावस्था को पार हुई भार्या की, जीता है संग्राम जिसने ऐसे शूर की, [तपस्या को] पार हुए अर्थात् परमतत्त्व जिसने पा लिया है उस तपस्वी की प्रशंसा करते हैं अर्थात् उक्त अवस्था को प्राप्त हुए ही प्रशंसा योग्य होते हैं ।।७०।।

**धनेनाधर्मलब्धेन यच्छिद्रमपिधीयते।**
**असंवृतं तद् भवति ततोऽन्यदवदीर्यते ।।७१।।**

## पदार्थ—

धनेन—धन से
अधर्मलब्धेन—अधर्म से प्राप्त किये हुए से
यत्—जो
छिद्रम्—छिद्र=कमी
अपिधीयते—ढका जाता है,
असंवृतम्—न ढका हुआ
तत्—वह
भवति—होता है
ततः—उससे
अन्यत्—और
अवदीर्यते—अवदीर्ण हो जाता है, बढ़ जाता है।

## व्याख्या—

जो छिद्र=कमी=बुराई=पापकर्म अधर्म से प्राप्त धन के द्वारा छिपाया जाता है, दानादि द्वारा पापकर्म को यश में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया जाता है, वह छिद्र=पापकर्म असंवृत ही रहता है ढकता नहीं, अपितु समय पाकर वह और बढ़ जाता है=प्रसिद्ध हो जाता है।

इसका भाव यह है कि दुर्योधन प्रभृति सुखोत्पादक कर्म नहीं करते, अन्यायपूर्वक राज्यादि प्राप्त करके सुख की कामना करते हैं, वह उनके लिये दुःख का कारण होगा ॥७१॥

**गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्।**
**अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥७२॥**

## पदार्थ—

गुरुः—आचार्य
आत्मवताम्—जितेन्द्रियों का
शास्ता—शासन करने वाला, मार्ग पर चलाने वाला [होता है],
शास्ता—शासन करने वाला
राजा—राजा
दुरात्मनाम्—दुष्ट पुरुषों का,
अथ—और
प्रच्छन्नपापानाम्—छिपे हुए पाप हैं जिसके, एसों का
शास्ता—शासन करने वाला
वैवस्वतः—विवस्वान् का पुत्र=पूर्ण सर्वज्ञ
यमः—यम है।

## व्याख्या—

जितेन्द्रिय मनुष्यों का शास्ता मार्गदर्शक गुरु होता है, दुरात्मा पापी पुरुषों को सुमार्ग में चलाने वाला राजा होता है। इसी प्रकार प्रच्छन्न पाप करने वालों का शासन करने वाला वैवस्वत यम=परमात्मा होता है ॥७२॥

**ऋषीणां च नदीनां च कुलानां च दुरात्मनाम् ।**
**प्रभवो नाधिगन्तव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च ॥७३॥**

## पदार्थ—

ऋषीणाम्—ऋषियों का
च—और
नदीनाम्—नदियों का
च—और
कुलानाम्—कुलों का
च—और
महात्मनाम्—महात्माओं का
प्रभवः—उत्पत्ति स्थान=आरम्भ
न—नहीं
अधिगन्तव्यः—जानना चाहिये ।
स्त्रीणाम्—स्त्रियों का
दुश्चरितस्य—दुराचारी का
च—और ।

## व्याख्या—

ऋषियों, नदियों, कुलों और महात्माओं का उत्पत्ति स्थान जन्म अथवा आरम्भ जानने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये । इसी प्रकार स्त्रियों का और दुराचारी पुरुष का भी ।

**विशेष**—इसका भाव यह है कि ऋषियों आदि के प्रत्यक्ष प्रभाव वा माहात्म्य से ही लाभ उठाने की चेष्टा करनी चाहिये । इनके मूल स्थान का अनुसन्धान करना व्यर्थ है, उससे कोई लाभ नहीं होता । नदियां आरम्भ में अत्यन्त सूक्ष्म जलधारा मात्र होती है, ऋषि आदि भी अनेक निम्न कुल के हुए और हो सकते हैं । इस कारण उनके मूल तक अनुसन्धान करने का कोई लाभ नहीं होता । इसी प्रकार स्त्रियों के मूल का भी ज्ञान विशेष लाभ-दायक नहीं होता, वे प्रायः पुरुषानुवर्तिनी होती हैं और अनेक वार दुष्कुलों में भी उत्तम रत्न सदृश स्त्रियां उपलब्ध होती हैं । इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है—**स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ।**

इसी प्रकार दुराचारी पुरुषों के मूल का ज्ञान करना भी व्यर्थ है । कई वार उत्तमकुल के व्यक्ति भी संग दोष से अथवा दैवदुर्विपाक से अधम कर्म करने वाले हो जाते हैं ॥७३॥

**द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्जवी ।**
**क्षत्रियः शीलभाग् राजंश्चिरं पालयते महीम् ॥७४॥**

## पदार्थ—

द्विजातिपूजाभिरतः—ब्राह्मणों का सत्कार करने वाला
दाता—दानी
ज्ञातिपु—सम्बन्धियों के प्रति
च—और
आर्जवी—ऋजुता=सरलता का व्यवहार करने वाला
क्षत्रियः—क्षत्रिय=राजा
शीलभाक्—उत्तम स्वभाव वाला
राजन्—हे राजन् !
चिरम्—चिरकाल तक
पालयते—पालन करता है
महीम्—पृथिवी को।

## व्याख्या—

हे राजन् ! जो क्षत्रिय=राजा ब्राह्मणों का आदर सत्कार करने वाला, दानी, अपने सम्बन्धियों के प्रति सरलता का व्यवहार करने वाला और उत्तम स्वभाव वाला होता है वह चिरकाल तक पृथिवी का पालन करता है अर्थात् उसका राज्य नष्ट नहीं होता।

**विशेष**—टीकाकार नीलकण्ठ के मतानुसार 'दुर्योधन अपने सम्बन्धियों के प्रति कुटिल व्यवहार करने वाला है, अतः वह राज्य से भ्रष्ट हो जायेगा' यह इस श्लोक में सूचित किया गया है ॥७४॥

**सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।**
**शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥७५॥**

## पदार्थ—

सुवर्णपुष्पाम्—सोने के पुष्प वाली=सुवर्णमयी को
पृथिवीम्—पृथिवी को
चिन्वन्ति—चुगते हैं=प्राप्त करते हैं=भोगते हैं
पुरुषाः—पुरुष
त्रयः—तीन;
शूरः—शूरवीर
च—और
कृतविद्यः—विद्या पढ़ा और अनुभवी
च—और
यः—जो
च—और
जानाति—जानता है
सेवितुम्—सेवा करना।

## व्याख्या—

तीन ही पुरुष सुवर्णरूपी पुष्पों वाली पृथिवी को भोगने में समर्थ होते हैं जो शूरवीर हो, विद्या पढ़ा तथा अनुभवी हो और जो राजा आदि की यथोचित सेवा करना जानता हो ।

**विशेष**—यहां टीकाकार के मतानुसार 'पाण्डवों के शूर होने एवं कृत-विद्य होने के कारण वे ही राज्य के अधिकारी हैं' यह ध्वनित किया है ।।७५।।

**बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत ।**
**तानि जङ्घाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ।।७६।।**

## पदार्थ—

बुद्धिश्रेष्ठानि—बुद्धि है साधन जिनका वे उत्तम
कर्माणि—कर्म,
बाहुमध्यानि—भुजबल से साध्य मध्यम
भरत—हे भरत कुल के राजन्
तानि—वे
जङ्घाजघन्यानि—जङ्घा के समान गोपनीय साधन से साध्य नीच
भारप्रत्यवराणि—भार=संकट में डालने वाले नीचतर
च—और

## व्याख्या—

वे भरतकुल के राजन् ! चार प्रकार के लोक में कर्म होते हैं । उत्तम कर्म वे होते हैं जो बुद्धिपूर्वक किये जाते हैं, मध्यम कर्म वे होते हैं जो बाहु बल से=शारीरिक बल से किये जाते हैं, अधम कर्म वे होते हैं जो जङ्घा के समान छिपाकर कपट रूप से किये जाते हैं और वे कर्म नीचतर होते हैं जो करने वाले को संकट में डाल देते हैं ।

**विशेष**—दुर्योधन आदि के कर्म अन्तिम दो प्रकार के हैं, एक गुप्त रूप से कपटपूर्वक किये गये अधम और दूसरे उसे संकट में डालने वाले नीचतर कर्म । इसलिये वह संकट को प्राप्त होगा, राज्य से भ्रष्ट होगा, वह ध्वनित किया है ।।७६।।

**दुर्योधनेऽथ शकुनौ मूढे दुःशासने तथा ।**
**कर्णे चैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ।।७७।।**

## पदार्थ—

दुर्योधन—दुर्योधन पर
अथ—और

| | |
|---|---|
| शकुनौ—शकुनि पर | ऐश्वर्यम्—राज्य आदि को |
| मूढे—मूर्ख | आधाय—रखकर |
| दुःशासने—दुःशासन पर | कथम्—कैसे |
| तथा—और | त्वम्—तुम |
| कर्णे—कर्ण पर | भूतिम्—कल्याण को |
| च—और | इच्छसि—चाहते हो ? |

## व्याख्या—

हे राजन् ! धृतराष्ट्र ! [पूर्व श्लोक कथित अधम और अधमतर कर्म करने वाले] दुर्योधन, शकुनि, मूर्ख दुःशासन एवं कर्ण पर राज्यभार छोड़कर कैसे कल्याण की कामना करते हो ? अर्थात् ये अपने दुष्कर्मों के कारण राज्य ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जायेंगे।

**सर्वैर्गुणैरुपेतास्तु पाण्डवा भरतर्षभ ।**
**पितृवत् त्वयि वर्तन्ते तेषु वर्तस्व पुत्रवत् ॥७८॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| सर्वैः—सब | पितृवत्—पिता के समान |
| गुणैः—गुणों से | त्वयि—तुम्हारे प्रति |
| उपेताः—युक्त | वर्तन्ते—व्यवहार करते हैं । |
| तु—और | तेषु—उनके प्रति |
| पाण्डवाः—पाण्डु-पुत्र | वर्तस्व—तुम व्यवहार करो |
| भरतर्षभ—हे भरत कुल श्रेष्ठ, | पुत्रवत्—पुत्र के समान । |

## व्याख्या—

हे भरतकुल श्रेष्ठ ! [यदि तुम वास्तव में कल्याण चाहते हो तो] सब गुणों से युक्त पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर आदि जो तुम्हारे प्रति पितृवत्=पिता के समान सत्कारपूर्वक व्यवहार करते हैं, उनके प्रति तुम पुत्र के समान प्रेम युक्त व्यवहार करो।

**इति महाभारते उद्योगपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥**

इस प्रकार महाभारत के उद्योग पर्व में प्रजागर पर्व नाम के अवान्तर-विभाग में विदुरनीति-वाक्य में पैंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ।

**इति तृतीयोऽध्यायः**

# अथ चतुर्थोऽध्यायः

## विदुर उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
आत्रेयस्य च संवादं साध्यानां चेति नः श्रुतम् ॥१॥

### पदार्थ---

**विदुर बोले—**

अत्र—यहां पर (उक्त प्रसंग के अनुरूप)
एव—ही
उदारहरन्ति—कहते हैं
इतिहासम्—इतिहास को
पुरातनम्—पुराने को ।
आत्रेयस्य—आत्रेय के
च—और
संवादम्—संवाद को
साध्यानाम्—साध्यों के
च—और
इति—इस प्रकार
नः—हमारे द्वारा
श्रुतम्—सुने गए को ।

### व्याख्या—

विदुर बोले—उक्त प्रसङ्ग के अनुरूप हम आत्रेय और साध्यों के संवादरूप पुरातन इतिहास को कहते हैं, जिसे हमने पूर्वजों से सुना है ॥१॥

चरन्तं हंसरूपेण महर्षिं संशितव्रतम् ।
साध्या देवा महाप्राज्ञं पर्यपृच्छन्त वै पुरा ॥२॥

### पदार्थ—

चरन्तम्—विचरते हुए को
हंसरूपेण—हंस=परिव्राजक रूप से
महर्षि—महर्षि को
संशितव्रतम्—व्रतधारी को
साध्याः—साध्य नाम वाले

देवाः—देव=विद्वानों ने
महाप्राज्ञम्—महा बुद्धिमान् को
पर्यपृच्छन्त—पूछा
वै—निश्चय से
पुरा—पुराकाल में ।

### व्याख्या—

हंस=परिव्राजक=संन्यासी रूप से विचरते हुए व्रतधारी महाबुद्धिमान् महर्षि आत्रेय को साध्यनाम वाले देवों ने पुरा काल में पूछा ॥२॥

### साध्या ऊचुः

साध्या देवा वयमेते महर्षे
दृष्ट्वा भवन्तं न शक्नुमोऽनुमातुम् ।
श्रुतेन धीरो बुद्धिमांस्त्वं मतो नः
काव्यां वाचं वक्तुमर्हस्युदाराम् ॥३॥

### पदार्थ—

साध्यगण बोले—

साध्याः—साध्य नाम वाले
देवाः—देव लोग
वयम्—हम
एते—ये
महर्षे—हे महर्षे !
दृष्ट्वा—देखकर
भवन्तम्—आपको
न—नहीं
शक्नुमः—समर्थ हैं
अनुमातुम्—अनुमान लगाने में,
श्रुतेन—ज्ञान से
धीरः—धैर्यवान्
बुद्धिमान्—बुद्धिवाले
त्वम्—तुम (आप)
मतः—प्रतीत होते हो,
नः—हमारे लिये
काव्याम्—कवि=विद्वज्जन योग्य
वाचम्—वाणी को
वक्तुम्—कहने के लिये
अर्हसि—योग्य हो
उदाराम्—उदार=महान् अर्थ वाली को ।

### व्याख्या—

साध्य देवगण बोले—हे महर्षे ! हम साध्य नाम वाले देवगण आपको देखकर आपके विषय में कुछ भी अनुमान लगाने में असमर्थ हैं, आप ज्ञानी

धीर एवं बुद्धिमान् प्रतीत होते हैं, इसलिये आप विद्वज्जनोचित उदार=महार्थंक=वाणी सुनाने का कष्ट करें ॥३॥

### हंस उवाच

एतत् कार्यममरः संश्रुतं मे
धृतिः शमः सत्यधर्मानुवृत्तिः ।
ग्रन्थिं विनीय हृदयस्य सर्वं
प्रियाप्रिये चात्मसमं नयीत ॥४॥

### पदार्थ—

**हंस बोले—**

एतत्—यह
कार्यम्—कर्तव्य रूप
अमराः—हे अमरो=देवो !
संश्रुतम्—सुना हुवा है
मे—मेरा [गुरुजनों से],
धृतिः—धैर्य
शमः—शान्ति
सत्यधर्मानुवृत्तिः—सत्य धर्म का अनुवर्तन=व्यवहार
ग्रन्थिम्—गांठ को
विनीय—दूर करके
हृदयस्य—हृदय की,
सर्वम्—सबको
प्रियाप्रिये—प्रिय और अप्रिय को
च—और
आत्मसमम्—अपने आत्मा के समान
नयीत—प्राप्त कराये ।

### व्याख्या—

हंस बोले—हे देव लोगों ! मैंने अपने गुरुजनों से [निम्नलिखित] कर्तव्य कर्म सुने हैं—धृति=दुःख प्राप्त होने पर भी विचलित न होना, शमः=मन की शान्ति, सत्यधर्म=ब्रह्म प्रापक धर्म=धारणा ध्यान समाधि आदि का निरन्तर अभ्यास, उनके द्वारा हृदय की ग्रन्थि=संशय रूपी गांठ को दूर करके सबको अपने आत्मा के समान प्रिय और अप्रिय समझे ।

**विशेष**—टीकाकार नीलकण्ठ ने यहां **शमः** के स्थान पर **दमः** पाठ माना है, उसका अर्थ होगा 'जितेन्द्रियत्व' ॥४॥

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥५॥

## पदार्थ—

आक्रुश्यमानः—बुरा-भला कहा जाता हुआ
न—नहीं [दूसरे को]
आक्रोशत्—बुरा-भला कहे,
मन्युः—मन्यु=[सहन किया हुआ] क्रोध
एव—ही
तितिक्षितः—सह हुआ,
आक्रोष्टारम्—बुरा-भला कहने वाले को
निर्दहति—जला देता है, नष्ट कर देता है,
सुकृतम्—उत्तम कर्मों को
च—और
अस्य—इसके
विन्दति—प्राप्त करता है।

## व्याख्या—

[मनुष्य को चाहिये कि वह दूसरों के द्वारा] बुराभला कहा जाने पर अथवा पीड़ा देने पर, दूसरों को बुराभला न कहे, पीड़ित न करे। इस प्रकार सहा गया मन्यु (=आन्तरिक क्रोध) आक्रोष्टा=बुराभला कहने वाले अथवा पीड़ा देने वाले को जला डालता है, नष्ट कर देता है और सहनशील पुरुष उस आक्रोष्टा के सुकृत् कर्मों को प्राप्त कर लेता है अर्थात् आक्रोष्टा के सुकृत् कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥५॥

**नाक्रोशी स्यान्नावमानी परस्य**
**मित्रद्रोही नोत नीचोपसेवी ।**
**न चाभिमानी न च हीनवृत्तो**
**रूक्षां वाचं रुषतीं वर्जयीत ॥६॥**

## पदार्थ—

न—नहीं
आक्रोशी—बुराभला कहने वाला
स्यात्—होवे,
न—नहीं
अवमानी—अपमान करने वाला
परस्य—दूसरे का,
मित्रद्रोही—मित्र के साथ द्रोह करने वाला
न—नहीं
उत—और
नीचोपसेवी—नीच की सेवा करने वाला,
न—नहीं
च—और

अभिमानी—अभिमान करने वाला,
न—नहीं
च—और
हीनवृत्तः—नीच व्यवहार वाला,
रूक्षाम्—रूखी=कठोर
वाचम्—वाणी को
रूषतीम्—पीड़ा पहुंचाने वाली, कोप उत्पन्न करने वाली को
वर्जयीत—छोड़ देवे।

## व्याख्या—

दूसरे को बुराभला कहने वाला न होवे, दूसरे का अपमान करने वाला न होवे, मित्रद्रोही न होवे, नीच पुरुष की सेवा करने वाला न होवे, अभिमान करने वाला न होवे, नीच आचरण वाला न होवे और रूखी कठोर, दूसरे को पीड़ा पहुँचाने वाली वाणी को छोड़ देवे।

**विशेष—'रुषतीम्'** के स्थान में **'उषतीम्'** पाठान्तर भी है। उसका अर्थ होगा 'जलाने वाली' अर्थात् रूखी दूसरे के हृदय को जलाने वाली वाणी न बोले यही पाठान्तर अगले श्लोक में भी है ॥६॥

**मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून्**
**रूक्षा वाचो निर्दहन्तीह पुंसाम्।**
**तस्माद् वाचमुषतीमुग्ररूपां**
**धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ॥७॥**

## पदार्थ—

मर्माणि—मर्म स्थानों को
अस्थीनि—हड्डियों को
हृदयम्—हृदय को
तथा—उसी प्रकार
असून्—प्राणों को
रूक्षा—रूखी=कठोर
वाचः—वाणियां
निर्दहन्ति—जला देती हैं
इह—इस लोक में
पुंसाम्—पुरुषों की।
तस्मात्—इसलिये
वाचम्—वाणी को
उषतीम्—जलाने वाली को
उग्ररूपाम्—रूखी कठोर को
धर्मारामः—धर्म में रमण करने वाला=धर्मात्मा
नित्यशः—नित्यप्रति
वर्जयीत—छोड़ देवे।

## व्याख्या—

रूखी कठोर पीड़ा पहुँचाने वाली वाणियां मनुष्य के मर्मस्थान, हड्डियों एवं हृदयों को जला देती हैं। इसलिये धर्मानुरागी मनुष्य को चाहिये कि वह पीड़ा पहुँचाने वाली रूखी कठोर वाणी को सर्वथा छोड़ देवे ॥७॥

अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वै वहन्तम् ॥८॥

## पदार्थ—

अरुन्तुदम्—पीड़ा देने वाले को
परुषम्—कठोर
रूक्षवाचम्—रूखी कठोर वाणी बोलने वाले को
वाक्कण्टकैः—वाणी रूपी कांटों से
वितुदन्तम्—छेदने वाले, पीड़ा पहुंचाने वाले को
मनुष्यान्—मनुष्यों को,
विद्यात्—जाने
अलक्ष्मीकतमम्—अत्यन्त बुरे लक्षणों वाले को, दरिद्री को
जनानाम्—मनुष्यों के मध्य
मुखे—मुख पर
निबद्धाम्—बांधी हुई
निर्ऋतिम्—मृत्यु को
वै—निश्चय से
वहन्तम्—वहन=धारण करते हुए को।

## व्याख्या—

मनुष्यों के मध्य मर्मान्तक पीड़ा देने वाले, कठोर रूक्ष वाणी बोलने वाले वाणीरूपी कांटों से छेदने वाले को मुख पर बांधी हुई मृत्यु को वहन करने वाला अत्यन्त बुरे लक्षणों वाला अथवा महा दरिद्री जाने ॥८॥

परश्चेदेनमभिविध्येत बाणैर्-
भृशं सुतीक्ष्णैरनलार्कदीप्तैः।
स विध्यमानोऽप्यतिदह्यमानो
विद्यात् कविः सुकृतं मे दधाति ॥९॥

## पदार्थ—

परः—दूसरा
चेत्—यदि
एनम्—इसको
अभिविध्येत्—वेधन करे, पीड़ा देवे
वाणैः—बाणों से
भृशम्—अत्यन्त अथवा बार-बार
सुतीक्ष्णैः—अत्यन्त तीखे
अनलार्कदीप्तैः—अग्नि और सूर्य समान जलते हुओं से,
सः—वह
विध्यमानः—बींधा हुआ=पीड़ित हुआ
अपि—और
अतिदह्यमानः—अत्यन्त जलता हुआ
विद्यात्—जाने
कविः—मेधावी
सुकृतम्—पुण्य को
मे—मुझ में
दधाति—धारण करा रहा है।

## व्याख्या—

यदि अन्य पुरुष किसी मेधावी को अत्यन्त तीक्ष्ण और अग्नि वा सूर्य के समान जलते हुए वाणों से अत्यन्त पीड़ित करे तो वह मेधावो पीड़ित होता हुआ=अत्यन्त जलता हुआ भी यह समझे कि यह पीड़ा देने वाला पुरुष मुझ में पुण्य संचय कर रहा है।

**विशेष**—टीकाकार ने इस श्लोकों में वाण शब्द से वाग् रूपी वाणों का निर्देश किया है ॥९॥

**यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं**
**तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव।**
**वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति**
**तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥१०॥**

## पदार्थ—

यदि—यदि
सन्तम्—श्रेष्ठ पुरुष को
सेवति—सेवन करता है,
यदि—यदि
असन्तम्—दुष्ट को,
तपस्विनम्—तपस्वी को
यदि—यदि
वा—अथवा
स्तेनम्—चोर को
एव—ही।

वासः—वस्त्र
यथा—जैसे
रङ्गवशम्—रंग के वश को
प्रयाति—प्राप्त होता है,
तथा—उसी प्रकार
सः—वह
तेषाम्—उनके
वशम्—वश को
अभ्युपैति—प्राप्त होता है।

## व्याख्या—

मनुष्य यदि सत्पुरुष का सेवन=संग करता है अथवा असत् का, इसी प्रकार तपस्वी का सेवन करता है अथवा चोर का। जिस प्रकार वस्त्र रंग के वश में होता है, उस पर जो रंग चाहे अधिकार कर ले, इसी प्रकार वह मनुष्य भी उनके वश में हो जाता है अर्थात् उनकी संगति का प्रभाव उस पर भी अवश्य पड़ता है ॥१०॥

अतिवादं न प्रवदेन्न वादयेद्
योऽनाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत्।
हन्तुं च यो नेच्छति पापकं वै
तस्मै देवाः स्पृहयन्त्यागताय ॥११॥

## पदार्थ---

अतिवादम्—निन्दा को
न—नहीं
प्रवदेत्—बोले (करे)
वादयेत्—करवाये।
यः—जो
अनाहतः—अहिंसित हुआ
न—नहीं
प्रतिहन्यात्—हिंसा करे,
न—नहीं
घातयेत्—हिंसा करावाये,
हन्तुम्—मारने को
च—और
यः—जो
न—नहीं
इच्छति—चाहता है
पापकम्—पापी को
वै—निश्चय से
तस्मै—उसके लिये
देवाः—देव लोग
स्पृहयन्ति—स्पृहा करते हैं
आगताय—आये हुए के लिये।

## व्याख्या—

मनुष्य को चाहिये कि वह किसी की निन्दा न करे और न अन्य से करवाये। अन्य के द्वारा हिंसित=ताड़ित न होता हुआ भी किसी की हिंसा न

करे, न अन्य से करवाये। जो पुरुष हिंसित होता हुआ भी मारने वाले को मारना नहीं चाहता, उस आगत=प्राप्त हुए पुरुष की देव लोग भी स्पृहा करते अर्थात् वह देवों से भी श्रेष्ठ होता है ॥११॥

**अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः**
**सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम् ।**
**प्रियं वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं**
**धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥१२॥**

**पदार्थ—**

अव्याहृतम्—न बोलना=मौन रहना
व्याहृतात्—बोलने से
श्रेयः—अच्छा [है ऐसा]
आहुः—कहते है।
सत्यम्—सत्य
वदेत्—बोले
व्याहृतम्—बोलना
तत्—वह
द्वितीयम्—दूसरा है अर्थात् श्रेष्ठ है,
प्रियम्—प्रिय वचन
वदेत्—बोले
व्याहृतम्—बोलना
तत्—वह
तृतीयम्—तीसरा है अर्थात् श्रेष्ठतर है,
धर्मम्—धर्मानुकूल
वदेत्—बोले
व्याहृतम्—बोलना
तत्—वह
चतुर्थम्—चौथा है अर्थात् श्रेष्ठतम है

**व्याख्या—**

बोलने की अपेक्षा मौन रहना श्रेयस्कर=अच्छा है, उसकी अपेक्षा सत्य बोलना द्वितीय कोटि का अर्थात् श्रेष्ठ है, सत्य के साथ प्रिय भाषण करना तृतीय कोटि का अर्थात् श्रेष्ठतर है सत्य और प्रिय के साथ धर्मयुक्त भाषण करना चतुर्थ कोटि का अर्थात् श्रेष्ठतम है। अर्थात् पूर्व पूर्व के साथ उत्तर उत्तर गुण मिलकर श्रेष्ठतर श्रेष्ठतम कार्य है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह सम्भाषण में उत्तरोत्तर गुणों का योग करे।

**यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चोपसेवते ।**
**यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ॥१३॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| यादृशैः—जैसों के साथ | यादृक्—जैसा |
| सन्निविशते—बैठता है, | इच्छेत्—इच्छा करे |
| यादृशान्—जैसों का | भवितुम्—होने की |
| च—और | तादृक्—वैसा |
| सेवते—सेवन करता है, संग करता है | भवति—हो जाता है |
| | पूरुषः—पुरुष । |

## व्याख्या—

मनुष्य जैसे व्यक्तियों के संग में बैठता है, जैसों का सेवन करता है—संग करता है और जैसा बनना चाहता है वैसा ही बन जाता है।

इस श्लोक में संग के गुण दोषों का उल्लेख किया है। सत्पुरुषों का संग करने से सज्जन बन जाता है और दुर्जनों के संग से दुर्जन हो जाता है। यही भाव पूर्व १०वें श्लोक में भी स्पष्ट किया है। यहां एक अंश विशिष्ट है, वह है कि पुरुष जैसा बनना चाहता है वैसा बन जाता है अर्थात् मनुष्य का ऊंचा उठना और नीचे गिरना, उसके अपने हाथ में है। इस सबका मूल है संकल्प। यदि मनुष्य विषयों का ध्यान करता है तो गिरावट की ओर अग्रसर होता है और यदि अच्छे संकल्प करता तो उन्नति की ओर। दूसरे शब्दों में जो मनुष्य अपनी जीवन-नौका को भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं, वे भूल करते हैं। मनुष्य को पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिये और वह पुरुषार्थ भी इतना प्रबल होना चाहिये कि यदि भाग्यवश उन्नति में कोई रुकावट भी आवे तो उसका भी पार पा सके। भाग्य मात्र के भरोसे बैठना कायर पुरुषों का कार्य है ॥१३॥

**यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।**
**निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥१४॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| यतः-यतः—जहां-जहां से, जिस-जिस विषय से, | सर्वतः—सब ओर से |
| | न—नहीं |
| निवर्तते—निवृत्त होता है, | वेत्ति—जानता है, अनुभव करता है |
| ततः-ततः—उस उससे | दुखम्—दुःख को |
| विमुच्यते—छूट जाता है। | अणु—स्वल्प को |
| निवर्तनात्—निवृत्त होने से | अपि—भी। |
| हि—निश्चय से | |

## व्याख्या—

जब मनुष्य जिस-जिस विषय से निवृत्त होता है उस-उस के संग-दोष से वह छूटता जाता है। क्रमशः सब विषयों से निवृत्त हो जाने पर यह नाम-मात्र भी दुःख का अनुभव नहीं करता।

संसार का क्रम ही ऐसा है कि समस्त विषय-भोग संयोगान्त है अर्थात् अन्त में वे हम से छूट ही जाते हैं। इसलिये जो ज्ञानवान् पुरुष होता है वह स्वय उन विषयों से निवृत्त हो जाता है। स्वयं विषयों का परित्याग करने वाले को विषयों की निवृत्ति से स्वल्प मात्र भी दुःख का अनुभव नहीं होता, किन्तु विषयों को स्वय न छोड़कर यदि विषय स्वयं वृद्धावस्था अथवा मृत्यु आदि के कारण छूटते हैं तो मनुष्य दुःख का अनुभव करता है। अतः सुख का मार्ग यही है कि मनुष्य स्वयं धीरे-धीरे विषयों से उपरत (दूर) होता जाये ।।१४।।

**न जीयते चानुजिगीषतेऽन्यान् न वैरकृच्चाप्रतिघातकश्च।**
**निन्दाप्रशंसासु समस्वभावो न शोचते हृष्यति नैव चायम्॥१५॥**

## पदार्थ—

न—नहीं
जीयते—पराभूत (पराजित) होता है
च—और
अनुजिगीषते—जीतने की अथवा पराजित करने की इच्छा करता है
अन्यान्—दूसरों को,
न—नहीं
वैरकृत्—वैर करने वाला
च—और
अप्रतिघातकः—हिंसा न करने वाला
च—और
निन्दाप्रशंसासु—निन्दा और प्रशंसा में
समस्वभावः—समान स्थितिवाला
न—नहीं
शोचते—शोक करता है, दुःखी होता है
हृष्यति—प्रसन्न होता है
नैव—नहीं
च—और
अयम्—यह।

## व्याख्या—

जो मनुष्य न दूसरे से पराजित होता है=जीता जाता है और न दूसरों को जीतना=पराजित करना चाहता है; न वह वैर करता है और नाही किसी को मारता है, निन्दा और प्रशंसा दोनों में जो समान स्थिति में रहता है. यह निन्दा होने पर न दुःखी होता है और न प्रशंसा होने पर प्रसन्न होता

है। यही द्वन्द्वातीत स्थिति कहाती है। द्वन्द्वातीत पुरुष सुख-दुःख से ऊपर हो जाता है यही निर्वाणावस्था कहाती है। इसे ही शास्त्रों में ब्रह्मभाव की प्राप्ति कहा गया है।

**विशेष**—इस श्लोक में **चानुजिगीषते** के स्थान में **नानुजिगीषते** पाठान्तर भी है। इसका पदच्छेद होगा **ना अनुजिगीजषते**। ना का अर्थ है मनुष्य ॥१५॥

**भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः।**
**सत्यवादो मृदुर्दान्तो यः स उत्तमपूरुषः ॥१६॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| भावम्—सत्ता=स्थिति को | सत्यवादी—सत्यवक्ता |
| इच्छति—चाहता है | मृदुः—कोमल स्वभाव वाला |
| सर्वस्य—सबकी | दान्तः—जितेन्द्रिय |
| न—नहीं | यः—जो |
| अभावे—अभाव में, नाश में, | सः—वह |
| कुरुते—करता है | उत्तमपूरुषः—श्रेष्ठ पुरुष है। |
| मनः—मन को, | |

## व्याख्या—

जो मनुष्य सभी प्राणियों की यथावत् स्थिति चाहता है, किसी के अभाव=नाश में मन को नहीं लगाता, ऐसा जो सत्यवादी कोमल स्वभाव जितेन्द्रिय पुरुष है वह श्रेष्ठ पुरुष कहाता है।

**नानर्थकं सान्त्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च।**
**रन्ध्रं परस्य जानाति यः स मध्यमपूरुषः ॥१७॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| न—नहीं | रन्ध्रम्—छिद्र को |
| अनर्थकम्—विना प्रयोजन झूठ-झूठ में, | परस्य—दूसरे के |
| | जानाति—जानता है |
| सान्त्वयति—सान्त्वना देता है, | यः—जो |
| प्रतिज्ञाय—प्रतिज्ञा करके | सः—वह |
| ददाति—देता है | मध्यमपूरुषः—मध्यम कोटि का पुरुष होता है। |
| च—और | |

## व्याख्या—

जो पुरुष झूठमूठ (मिथ्या) दूसरे को सन्त्वना नहीं देता, मैं तुम्हारे लिए यह करूंगा वह करूंगा, ऐसा नहीं कहता तथा देने की प्रतिज्ञा करके देता है उस की पालना करता है, दूसरों के छिद्र—कमियों को जानता है परन्तु उन को जानकर भी उसे हानि नहीं पहुंचाता, वह पुरुष मध्यम कोटि का होता है ॥१७॥

दुःशासनस्तूपहतोऽभिशस्तो
नावर्तते मन्युवशात् कृतघ्नः ।
न कस्यचिन्मित्रमथो दुरात्मा
कलाश्चैता अधमस्येह पुंसः ॥ १८ ॥

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| दुःशासनः—दुःशासन | कृतघ्नः—कृतघ्न |
| तु—तो | न—नहीं |
| उपहतः—ताड़ित हुआ, मार खाया हुआ | कस्यचित्—किसी का भी |
| | मित्रम्—मित्र [है] |
| अभिशस्तः—सब ओर से [शस्त्रों से] विदीर्ण=घाव को प्राप्त हुआ | अथ—और |
| | दुरात्मा—पापी |
| | कलाः—लक्षण (चित्त की वृत्तियां) |
| न—नहीं | च—और |
| आवर्तते—लौटता है, कुटिलता का त्याग करता है | एताः—ये |
| | अधमस्य—नीचे के |
| मन्युवशात्—क्रोध के वश में होने से | इह—यहां |
| | पुंसः—पुरुष के । |

## व्याख्या—

दुःशासन [घोषयात्रा के समय गन्धर्वों से] ताड़ित=मार खाया हुआ और [शस्त्रों से] सब ओर से विदीर्ण=घाव से भरा हुआ भी क्रोध के वश में होने से कुटिलता का त्याग नहीं करता, [क्योंकि वह] कृतघ्न है [गन्धर्वों से पीड़ित होने पर पाण्डवों द्वारा छुड़ा जाने पर भी उन के उपकार को नहीं

मानता और उनका अपकार करने में ही प्रवृत रहता है] ये लक्षण अथवा चित्त की वृतियां, अधम पुरुष की होती हैं अर्थात् कृतघ्न पुरुष की गणना अधम पुरुषों में होती है ॥१८॥

न श्रद्धधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशङ्कितः ।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः ॥१९॥

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| न—नहीं | निराकरोति—परित्याग करता है |
| श्रत्दधाति—श्रद्धा नहीं रखता | मित्राणि—मित्रों को |
| कल्याणम्—उत्तम कार्यों में | यः—जो |
| परेभ्य.—अन्य श्रेष्ठ जनों से | वै—निश्चय से |
| अपि—भी | सः—वह |
| आत्मशाङ्कितः—स्वभाव से शंका वाला=विश्वास-हीन | अधमपूरुषः—नीच पुरुष [होता है] । |

## व्याख्या—

जो पुरुष उत्तम कर्मों वा पुरुषों में विश्वास नहीं रखता, गुरुजनों से भी स्वभाव से ही शङ्कित रहता है, किसी का विश्वास नहीं करता, और मित्रों का परित्याग करता है, वह निश्चय ही अधम पुरुष होता है ॥१९॥

उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान् ।
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥२०॥

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| उत्तमान्—श्रेष्ठों का | तु—तो |
| एव—ही | न—नहीं |
| सेवेत—सेवन=संग करे, | सेवेत—सेवन=संग करे । |
| प्राप्तकाले—समय पड़ने पर | यः—जो |
| तु—तो | इच्छेत्—चाहे |
| मध्यमान्—मध्यमों का. | भूतिम्—कल्याण को |
| अधमान्—नीचों का | आत्मनः—आत्मा की । |

व्याख्या—

जो पुरुष अपना कल्याण चाहता है उसे चाहिए कि वह सदा उत्तम पुरुषों का ही सेवन=संग करें। समय पड़ने पर=अत्यन्त आवश्यक होने पर मध्यम पुरुषों का संग करे, परन्तु अधम पुरुषों का संग कभी नहीं करे ॥२०॥

प्राप्नोति वै वित्तमसद्बलेन
नित्योत्थानात् प्रज्ञया पौरुषेण ।
न त्वेव सम्यग् लभते प्रशंसां
न वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम् ॥२१॥

पदार्थ—

प्राप्नोति—प्राप्त होता है
वै—निश्चय से
वित्तम्—धन को
असद्बलेन—बुरे उपायों से
नित्योत्थानात्—नित्य उत्थान =निरन्तर उद्योग से
प्रज्ञया—बुद्धि से
पौरुषेण—पुरुषार्थ से,
न—नहीं
तु—तो
एव—ही
सम्यक्—अच्छे प्रकार
लभते—प्राप्त होता है
प्रशंसाम्—प्रशंसा को
न—नहीं
वृत्तम्—व्यवहार को
आप्नोति—प्राप्त होता है
महाकुलानाम्—महाकुलों=श्रेष्ठ कुलों के।

व्याख्या—

मनुष्य बुरे उपायों=चोरी डाका आदि, निरन्तर उद्योग, बुद्धि और पुरुषार्थ से निश्चय ही धन को प्राप्त कर लेता है, परन्तु उस धन से भी उत्तम श्रेष्ठ कुलों की प्रशंसा वा व्यवहार=सम्मान को प्राप्त नहीं कर सकता ॥२१॥

धृतराष्ट्र उवाच—

महाकुलेभ्यः स्पृहयन्ति देवा
धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च ।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं
भवन्ति वै कानि महाकुलानि ॥२२॥

## पदार्थ—

**धृतराष्ट्र बोला—**

| | |
|---|---|
| महाकुलेभ्यः—श्रेष्ठ कुलों से | पृच्छामि—पूछता हूं। |
| स्पृहयन्ति=स्पृहा करते हैं | त्वाम्—तुम को |
| देवाः—देव लोग | विदुर—हे विदुर! |
| धर्मार्थनित्याः—धर्म और अर्थ में निरन्तर लगे हुए | प्रश्नम्—प्रश्न को |
| | एतम्—इस को, |
| च—और | भवन्ति—होते हैं |
| बहुश्रुताः—बहुज्ञानी | वै—निश्चय से |
| च—और। | कानि—कौन से |
| | महाकुलानि—श्रेष्ठ कुल। |

## व्याख्या—

धृतराष्ट्र बोला—हे विदुर! [हम सुनते हैं कि] धर्म और अर्थ में नित्य प्रवृत्त और बहुज्ञानी देवलोग भी महाकुलों=श्रेष्ठ कुलों की स्पृहा=इच्छा करते हैं कि हमारा जन्म अथवा संबन्ध महाकुलों में हो। इसलिये मैं पूछता हूं कि वे महाकुल कौन से होते हैं [जिन की देवगण भी कामना करते हैं] ॥२२॥

## विदुर उवाच—

**तपो दमो ब्रह्मवित्तं वितानाः**
**पुण्या विवाहाः सततान्नदानम्।**
**येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति**
**सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि ॥२३॥**

## पदार्थ—

**विदुर बोले—**

| | |
|---|---|
| तपः—तप, | वितानाः—यज्ञ, |
| दमः—इन्द्रियों का जय, | पुण्याः—उत्तम |
| ब्रह्मवित्तम्—ब्रह्म=ब्राह्मण का वित्त=धन=वेदाध्ययनादि, | विवाहाः—विवाह, |
| | सततान्नदानम्—सदा अन्न का दान, |

येषु—जिन में
एव—ही
एते—ये
सप्त—सात
गुणाः—गुण

वसन्ति—वास करते है
सम्यग्वृत्ताः—उत्तम आचार वाले
तानि—वे
महाकुलानि—महाकुल [होते हैं]।

## व्याख्या—

**विदुर बोले**—जिन कुलों में तप=सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का सहन करना, दम=इन्द्रियजय, ब्रह्मवित्त=ब्राह्मणों का धन=वेदों का अध्ययन, वितान=यज्ञों का फैलाव=यथा समय यज्ञों का करना, श्रेष्ठ विवाह, सदा अन्न का दान और उत्तम आचार ये सात गुण रहते हैं, वे महाकुल=श्रेष्ठ कुल कहाते हैं।

**विशेष**—धर्मशास्त्रों मे ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ये आठ प्रकार के विवाह माने हैं। इन में प्रथम चार, ब्राह्म दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाह श्रेष्ठ माने गये हैं। इन श्रेष्ठों में भी पूर्व-पूर्व श्रेष्ठ श्रेष्ठतर एवं श्रेष्ठतम होते है। अधम विवाहों में भी उत्तर-उत्तर अधम, अधमतर एवं अधमतम होते हैं। इनके लक्षण धर्मशास्त्रों से जानने चाहियें।

मनुष्य में काम क्रोध आदिकी स्वभाविक न्यूनताएं रहती हैं। उनके वशीभूत होकर मनुष्य यदा-कदा असद् व्यवहार में प्रवृत्त होकर किसी कन्या का अपहरण वा बलात्कार कर बैठता है, उसकी इस प्रवृत्ति को भी उसी कार्य तक सीमित रखने की दृष्टि से शास्त्रकारों ने सामाजिक बन्धनों के अन्तर्गत उस की गणना की है अर्थात् उसे भी विवाह मान कर उस से उत्पन्न प्रजा को समाज में यथावत् स्थान प्रदान किया है, उन का बहिष्कार नहीं किया।

उत्तरकाल में इस व्यवस्था का लोप हो जाने से समाज ने ऐसे कर्म करने वालों वा उनसे उत्पन्न सन्तानों का वहिष्कार करके अपना नाश स्वयं किया है। समाज से बहिष्कृत होकर ये व्यक्ति भिन्न मतवाले सम्प्रदायों में चले जाते है और वे ईसाई या मुसलमान होकर आर्यों=हिन्दुओं का नाश करने वाले बन जाते हैं।

उत्तम और अधम विवाहों में भेद इतना ही है कि प्रथम कोटि के विवाहों में विवाह आदि धार्मिक कृत्य करके समाज द्वारा अनुमोदित होकर स्त्री-पुरुष परस्पर संबन्ध करते हैं। अधम कोटि के विवाहों में काम के वशी-

भूत होकर स्त्रीपुरुष पहले सामाजिक नियमों का भंग करके परस्पर संसर्ग कर लेते हैं और पीछे समाज से उसका अनुमोदन चाहते हैं। प्राचीन समाज भी उन के इस कर्य को, जिसे काम के वशीभूत होकर किया और उसका प्रायश्चित्त करना चाहते हैं ऐसा स्वीकार कर क्षमा करके सामाजिक वैवाहिक विधि कराकर उस को स्वीकार कर लेते हैं, बहिष्कृत नहीं करते ॥२३॥

येषां हि वृत्तं व्यथते न योनि-
श्चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम्।
ये कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टां
त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि ॥ २४ ॥

पदार्थ—

येषाम्—जिनका
न—नहीं
वृत्तम्—व्यवहार=आचार
व्यथते—पीड़ित=भंग होता है
न—नहीं
योनिः—जन्म-कारण=माता-पिता
चित्तप्रसादेन—मन की प्रसन्नता से
चरन्ति—आचरण करते हैं
धर्मम्—धर्म को (का),
ये—जो
कीर्तिम्—यश को
इच्छन्ति—चाहते हैं
कुले—कुल में
विशिष्टाम्—विशेष को,
त्यक्तानृताः—छोड़ दिया है झूठ का व्यवहार जिन्होंने,
तानि—वे
महाकुलानि—श्रेष्ठ कुल (माने जाते हैं)।

व्याख्या—

जिन कुलों का वृत्त=व्यवहार=कुल-परम्परागत श्रेष्ठ आचार नष्ट नहीं होता, माता-पिता दुःखी नहीं होते, जो मन की प्रसन्नता के लिये ही धर्म का आचरण करते हैं, कुल के विशिष्ट यश की कामना करते हैं और जिन्होंने अनृत=असद् व्यवहार छोड़ दिया है, ऐसे कुल ही महाकुल कहाते हैं।

**विशेष—'योनिः न व्यथते'** का अर्थ नीलकण्ठ टीकाकार ने इस प्रकार किया है—'जिनके असद् व्यवहार से माता-पिता दुःखी नहीं होते, अपितु साधु आचरण से प्रसन्न रहते हैं।' इसका एक अर्थ यह भी है कि

जिनकी योनि माता-पिता दूषित नहीं हैं अर्थात् माता-पिता सामाजिक नियमानुसार सम्बद्ध होकर प्रजोत्पादन करते हैं, काम के वशीभूत होकर सामाजिक नियमों का भंग नहीं करते।

पूर्व श्लोक में श्रेष्ठ विवाहों को महाकुलता में कारण बताया है। इस श्लोक में **योनिर्न व्यथते** द्वारा अवम विवाहों का परित्याग दर्शाया है। इस प्रकार द्वितीय अर्थ प्रसंग में अधिक संगत प्रतीत होता है ॥२४॥

**अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च।**
**कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च ॥२५॥**

## पदार्थ—

अनिज्यया—यज्ञ न करने से
कुविवाहैः—निन्दित विवाहों से
वेदस्य—वेद के
उत्सादनेन—छोड़ देने से
च—और
कुलानि—[श्रेष्ठ] कुल
अकुलताम्—नीच कुलता को
यान्ति—प्राप्त होते हैं,
धर्मस्य—धर्म के
अतिक्रमेण—अतिक्रम=उल्लङ्घन से
च—और।

## व्याख्या—

पहले दो श्लोकों में जिन गुणों अथवा व्यवहारों से कुल महाकुलों में गिने जाते हैं, उनका वर्णन किया है। अगले श्लोकों में उन कारणों का उल्लेख किया है जिनसे महाकुल भी नीच कुलों में परिणत हो जाते हैं=बदल जाते हैं—

यज्ञों का परित्याग करने से, वेदों के अध्ययन अध्यापन कर्म को छोड़ देने से और धर्म=मर्यादा का उल्लङ्घन करने से उत्तम कुल भी नीच कुल बन जाते हैं ॥२५॥

**देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च।**
**कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ २६ ॥**

## पदार्थ—

देवद्रव्यविनाशेन—देवों के द्रव्य का विनाश करने से
ब्रह्मस्वहरणेन—ब्राह्मणों के धन का हरण करने से

च—और
कुलनि—कुल
अकुताम्—नीच कुलता को
यान्ति—प्राप्त होते हैं,
ब्राह्मणातिक्रमेण—ब्राह्मणों के अनादर से
च—और।

## व्याख्या—

देवों के द्रव्यों का नाश करने, ब्राह्मणों के धन का अपहरण करने और ब्राह्मणों के अतिक्रमण=अनादर या उचित आदर न करने से उत्तम कुल भी नीच कुलों में परिणत हो जाते हैं।

**विशेष**—देव दो प्रकार के हैं चेतन वा जड़। चेतन देव **विद्वांसो हि ब्राह्मणाः** (शत० ३।७।३।१०) वचन के अनुसार अध्यापक और अध्ययन करने वाले कहाते हैं। इनके अर्थात् विद्वानों के धन का नाश करने, अनुचित प्रकार से प्रयोग करने से तथा जड़ देव जल वायु आदि, इनके शोधन आदि के निमित्त किये जाने वाले यज्ञों के द्रव्य का अनुचित प्रकार से नाश करने से कुल नष्ट हो जाते हैं। इसका स्थूल भावार्थ यह है कि जो दान रूप में सार्वजनिक कार्यों के लिये एकत्रित किये धन का दुरुपयोग करते हैं, वे भ्राष्टाचारी होते हैं और उनके इस कर्म से उनका कुल न केवल बदनाम हो जाता है, अपितु समूल नष्ट भी जाता है।

भारतीय आदर्श के अनुसार ब्राह्मण होता ही अकिञ्चन है, उसके पास कुछ भी भौतिक द्रव्य सम्पत्ति नहीं होती। इसलिये यहां ब्राह्मणस्व के अपहरण से अभिप्राय उसके वेद के अध्ययन स्वरूप स्वकर्म में व्याघात डालना है। उत्तरकाल में जब ब्राह्मण भी धनादि का संग्रह करने लग गये, तब इसका अभिप्राय उनके धन के अपहरण से जोड़ दिया गया ॥२६॥

**ब्राह्मणानां परिभवात् परिवादाच्च भारत।**
**कुलान्यकुलतां यान्ति न्यासापहरणेन च ॥ २७ ॥**

## पदार्थ—

ब्राह्मणानाम्—ब्राह्मणों के
परिभवात्—ताडनादि से
परीवादात्—निन्दा करने से
च—और
भारत—हे भरत कुलोत्पन्न!
कुलानि—कुल
अकुलताम्—अकुलता को
यान्ति—प्राप्त होते हैं,
न्यासापहरणेन—अमानत के अपहरण करने से
च—और।

### व्याख्या—

हे भरत कुलोत्पन्न धृतराष्ट्र ! ब्राह्मणों की हिंसा करने, निन्दा करने और अमानत के अपहरण करने=खा जाने से उत्तम कुल भी नीच कुलता को प्राप्त हो जाते हैं ॥२७॥

**कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः ।**
**कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥२८॥**

### पदार्थ—

| | |
|---|---|
| कुलानि—कुल | कुलसंख्याम्—कुल की गणना=श्रेष्ठता को |
| समुपेतानि—अच्छे प्रकार युक्त | न—नहीं |
| गोभिः—गौवों से | गच्छन्ति—प्राप्त होते हैं, |
| पुरुषतः—पुरुषों से | यानि—जो |
| अर्थतः—धन-धान्य से | हीनानि—हीन=रहित हैं |
| | वृत्ततः—आचार-व्यवहार सें । |

### व्याख्या—

गौवों, पुरुषों और धन-धान्य से सम्पन्न वे कुल भी कुल की गणना=श्रेष्ठता को प्राप्त नहीं होते जो आचार-व्यवहार से हीन होते हैं ॥२८॥

**वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।**
**कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः ॥२९॥**

### पदार्थ—

| | |
|---|---|
| वृत्ततः—आचार-व्यवहार से | कुलसंख्याम्—कुल की श्रेष्ठता को |
| तु—तो | च—और |
| अविहीनानि—संयुक्त | गच्छन्ति—प्राप्त होते हैं, |
| कुलानि—कुल | कर्षन्ति—आकृष्ट=प्राप्त करते हैं |
| अल्पधनानि—अल्प सम्पत्ति वाले | च—और |
| अपि—भी | महद्यशः—महती कीर्ति को । |

## व्याख्या—

जो कुल अल्प सम्पत्ति वाले अर्थात् दरिद्र हैं, किन्तु आचार व्यवहार से सम्पन्न हैं वे श्रेष्ठकुलों की गणना और महती कीर्ति को प्राप्त होते हैं ।।२९।।

**वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।**
**अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ।।३०।।**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| वृत्तम्—आचार को | अक्षीणः—सुरक्षित |
| यत्नेन—यत्नपूर्वक | वित्ततः—धन से |
| संरक्षेत्—रक्षा करे, | क्षीणः—क्षीण=रहित हुआ |
| वित्तम्—धन | वृत्ततः—आचार व्यवहार से |
| एति—आता है | तु—तो |
| च—और | हतः—रहित हुआ |
| याति—चला जाता है | हतः—नष्ट हो जाता है । |
| च—और | |

## व्याख्या—

कुलों की गणना में नाम प्राप्त करने में वृत्त=आचार-व्यवहार ही मुख्य कारण है यह पूर्व प्रसङ्ग में कहा है । इसलिये उस वृत्त की रक्षा परम कर्त्तव्य है । इसका निरूपण इस प्रकार किया है—

वृत्त=आचार-व्यवहार की रक्षा विशेष यत्न से करनी चाहिये । धन-सम्पत्ति तो आती और जाती रहती है । इसलिये वित्त से क्षीण-रहित क्षीण=दरिद्री नहीं होता । परन्तु वृत्त से रहित पुरुष मरे हुए के बराबर माना जाता है । इस कारण वित्त से वृत्त श्रेष्ठ है, उसकी रक्षा करना प्रथम कर्त्तव्य है ।।३०।।

**गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया।**
**कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ।।३१।।**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| गोभिः—गौवों से | अश्वैः—घोड़ों से |
| पशुभिः—भेड़-बकरियों | कृष्या—खेती से |
| आदि से | च—और |

सुसमृद्धया—उत्तम से
कुलानि—कुल
न—नहीं
प्ररोहन्ति—बढ़ते हैं
यानि—जो
हीनानि—हीन हैं
वृत्ततः—आचार से

गौ, घोड़े, भेड़-बकरियां आदि पशुओं की अधिकता से अथवा उत्तम खेतों से सम्पन्न भी कुल नहीं बढ़ते=उत्तम नहीं गिने जाते हैं, जो आचार-व्यवहार से हीन होते हैं।

**विशेष**—नीलकण्ठ टीकाकार ने इस श्लोक की व्याख्या में **गोभिः** का अर्थ **विद्याभिः** विद्याओं से किया है। गो का अर्थ विद्या क्यों किया इस पर उसने कुछ भी नहीं लिखा। सम्भव है गौ अर्थ करने पर **पशुभिः** पद से पुनरुक्तता समझी हो। यदि यही कारण हो तो **अश्वैः** का निर्देश करना भी व्यर्थ होगा। उसका भी पशुओं में ही समावेश होता है।

हमारा विचार है कि पशुओं में गौ और अश्व अन्य पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों के लिये अधिक उपयोगी हैं। इसलिये उनकी मुख्यता दर्शाने के लिये पशु सामान्य से उनका पृथक् निर्देश किया है। इसी दृष्टि से वैदिक ग्रन्थों में एक वचन आता है—**अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः** (तै० सं० ५।२।९) अर्थात् गौ और अश्व से भिन्न पशु पशु ही नहीं हैं। यहां गौ और अश्व की अन्य पशुओं से उत्कर्षता=श्रेष्ठता दिखाने के लिये ही अन्य पशुओं को अपशु कहा है (द्रष्टव्य मीमांसाभाष्य १।४।२३) ॥३१॥

**मा नः कुले वैरकृत् कश्चिदस्तु**
**राजाऽमात्यो मा परस्वापहारी ।**
**मित्रद्रोही नैकृतिकोऽनृती वा**
**पूर्वाशी वा पितृदेवातिथिभ्यः ॥ ३२ ॥**

पदार्थ—

मा—नहीं
नः—हमारे
कुले—कुल में
वैरकृत्—वैर करने वाला=द्रोही पुरुष
कश्चित्—कोई
अस्तु—होवे
राजा—राजा
अमात्यः—मन्त्री
मा—नहीं
परस्वापहारी—अन्य की सम्पत्ति का हरण करने वाला

| | |
|---|---|
| मित्रद्रोही—मित्र के साथ वैर करनेवाला | पूर्वाशी—पहले खाने वाला |
| नैकृतिकः—कपट करने वाला | वा—अथवा |
| अनृती—झूठ बोलने वाला | पितृदेवतातिथिभ्यः—पितरों=माता-पिता आदि, देवता=विद्वानों और अतिथियों से। |
| वा—अथवा | |

## व्याख्या—

हमारे कुल में कोई भी परस्पर वैर करने वाला न होवे, कोई मित्र के साथ द्रोह करने वाला, कपटी, झूठ बोलने वाला तथा पितरों देवों एवं अतिथियों से पूर्व भोजन करने वाला न हो ॥३२॥

**यश्च नो ब्राह्मणान् हन्याद्यश्च नो ब्राह्मणान् द्विषेत्।**
**न नः स समितिं गच्छेद्यश्च नो निर्वपेत् कृषिम् ॥३३॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| यः—जो | न—नहीं |
| नः—हमारे | नः—हमारी |
| ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को | समितिम्—सभा को |
| हन्यात्—मारे | गच्छेत्—प्राप्त होवे |
| यः—जो | यः—जो |
| च—और | च—और |
| नः—हमारे | नः—हमारी |
| ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को | निर्वपेत्—काटे=नष्ट करे |
| द्विषेत्—द्वेष करे [वह] | कृषिम्—खेती को। |

## व्याख्या—

जो पुरुष हमारे ब्राह्मणों की हिंसा करे अथवा हमारे ब्राह्मणों से द्वेष करे और हमारी खेती को काट लेवे=नष्ट करे वह हमारी समिति=सभा को प्राप्त न होवे।

**विशेष—न नः सः** के स्थान में **न तस्य** पाठान्तर है। उस अवस्था में अर्थ होगा—"उसकी समिति=सभा को हम प्राप्त न हों, हम ऐसे दुष्टों से दूर रहें। चतुर्थपाद में **यश्च नो निर्वपेत् पितॄन्** पाठान्तर है। उसका अर्थ होगा—"जो पितरों को अन्न वस्त्र आदि नहीं देता है। इस पाठान्तर में नो ओकारान्त निषेधार्थक अव्यय है ॥३३॥

**तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।**
**सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥३४॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| तृणानि—अन्नादि | सताम्—सत्पुरुषों के |
| भूमिः—स्थान | एतानि—ये |
| उदकम्—जल आदि पेय वस्तु | गेहेषु—घरों में |
| वाक्—वाणी | न—नहीं |
| चतुर्थी—चौथी | उच्छिद्यन्ते—नष्ट होते हैं |
| च—और | कदाचन—कभी भी । |
| सूनृता—प्रिय एवं सत्य | |

## व्याख्या—

सत्पुरुषों के घरों में अन्न, भूमि (शयनस्थान), जलादि पेय पदार्थ एवं चौथी प्रिय और सत्य वाणी ये चार पदार्थ कभी समाप्त नहीं होते । अभ्यागतों अतिथियों को ये चार वस्तुएं अवश्य ही प्राप्त होती हैं ।

**विशेष**—इस श्लोक का दो प्रकार का भाव है । एक है—सत्पुरुषों के गृहों पर आए अभ्यागतों को अन्नादि चार वस्तुएं अवश्य मिलती हैं । उन्हें कभी निराश नहीं होना पड़ता । क्योंकि सत्पुरुष स्वयं भूखे-प्यासे रह कर भी अतिथियों का सत्कार करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं । अतः उनके गृहों में जो भी कुछ पदार्थ होगा वह अतिथियों को अवश्य प्राप्त होगा । कुछ भी सेवा योग्य द्रव्य न होने पर प्रिय एवं सत्य वाणी से तो उनका सत्कार होगा ही ।

दूसरा भाव है—जो अभ्यागतों की सच्चे मन से सेवा करते हैं ऐसे सत्पुरुषों के घरों में अन्नादि चार पदार्थों की कभी न्यूनता नहीं होती, ये वस्तुएं सदा विद्यमान रहती हैं । मनुष्य दान से कभी निर्धन अथवा कंगाल नहीं होता, इसके विपरीत उसके सभी कार्य स्वयं सिद्ध हो जाते हैं ।

इसलिये वेद कहता है **शतहस्त समा हर सहस्रहस्त सं किर** (अथर्व ३।२४।५) सौ हाथों वाला होकर अर्थात् अत्यन्त पुरुषार्थी बनकर धन सम्पत्ति का संग्रह कर और सहस्र हाथ वाला होकर उसे बांट दे ।

उपनिषद् में भी कहा है—

**श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम्, भिया देयम्, ह्रिया देयम्, संविदा देयम्** (तै० उ०) ।

श्रद्धा से दे, अश्रद्धा से दे, भय से दे, लज्जा से दे, वचन निभाने के लिये दे। अर्थात् किसी-न-किसी प्रकार स्वयं उपार्जित सम्पत्ति में से दान कर।

बृहदारण्यक में भी प्रजापति द्वारा मानुष प्रजा को द=दान के उपदेश देने की आख्यायिका द्वारा पुरुष के लिये 'दान ही परम धर्म है' यह समझाया है।

सम्पत्ति के ही दो नाम हैं लक्ष्मी और श्री। लक्ष्मी उस सम्पत्ति का नाम है जिससे लक्ष्मी वाला धनी=सेठ कहाता है। अर्थात् जो सम्पत्ति अपने ही पोषण के लिये होती है वह लक्ष्मी, और उससे युक्त पुरुष लक्ष्मी-पति=लक्ष्मीवान्=धनी कहाता है। किन्तु जब वही सम्पत्ति दीन-दुखियों एवं संसार के कल्याण के लिये प्रयुक्त होती है तो वह श्री=यशः स्वरूप बन जाती है, दानी का यश दूर-दूर तक देश और काल की सीमा से बाहर तक पहुंचा देती है। ऐसा पुरुष श्रीपति है=श्रीमान् होता है। दानवीर कर्ण एवं भामाशाहा का नाम तब तक अमर रहेगा जब तक भारत में भारतीय संस्कृति एवं भारतीय वाङ्मय विद्यमान रहेंगे ॥३४॥

**श्रद्धया परया राजन्नुपनीतानि सत्कृतिम्।**
**प्रवृत्तानि महाप्राज्ञ धर्मिणां पुण्यकर्मिणाम् ॥३५॥**

## पदार्थ—

श्रद्धया—श्रद्धा से
परया—अत्यन्त
राजन्—हे राजन्!
उपनीतानि—प्राप्त कराये हुए
सत्कृतिम्—सत्कार को
प्रवृत्तानि—प्रवृत्त हुए
महाप्राज्ञ—अत्यन्त बुद्धिमान्!
धर्मिणाम्—धार्मिकों का
पुण्यकर्मिणाम्—पुण्य कर्म वालों का

## व्याख्या—

हे महाबुद्धिमान् राजन्! (धृतराष्ट्र!) धर्मात्मा पुण्यकर्म करने वाले पुरुषों के यहां तृण=अन्नादि उक्त चार वस्तुएं अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उपस्थित की जाती हैं ॥३५॥

**सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते स्यन्दनो वै**
**शक्तो वोढुं न तथान्ये महीजाः।**
**एवं युक्ता भारसहा भवन्ति**
**महाकुलीना न तथान्ये मनुष्याः ॥ ३६ ॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| सूक्ष्मः—छोटा-सा | महीजाः—वृक्ष आदि के विकारभूत काष्ठ। |
| अपि—भी | एवम्—इसी प्रकार |
| भारम्—भार को | युक्ताः—ठीक प्रकार लगे हुए |
| नृपते—हे राजन्! | भारसहाः—भार को सहने वाले |
| स्यन्दनः—रथ | भवन्ति—होते हैं |
| वै—निश्चय से | महाकुलीनाः—श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न |
| शक्तः—समर्थ होता है | न—नहीं |
| वोढुम्—ढोने के लिये | तथा—उस प्रकार |
| न—नहीं | अन्ये—अन्य साधारण |
| तथा—उस प्रकार से | मनुष्याः—मनुष्यः। |
| अन्ये—अन्य | |

## व्याख्या—

हे राजन्! जैसे छोटा-सा स्यन्दन=रथ वा गाड़ी भार को ढोने में समर्थ होती है उस प्रकार उससे बड़ा काष्ठ=लक्कड़ भी भार नहीं ढो सकता। इसी प्रकार जो श्रेष्ठ कुलीन पुरुष होते हैं वे ही भार वहन कर सकते हैं अपने उत्तरदायित्व=जिम्मेदारी को निभा सकते हैं, साधारण पुरुष उत्तरदायित्व निभाने में असमर्थ होते हैं ॥३६॥

न तन्मित्रं यस्य कोपाद् बिभेति
यद् वा मित्रं शङ्कितेनोपचयम्।
यस्मिन् मित्रे पितरीवाश्वसीत
तद् वै मित्रं सङ्गतानीतराणि ॥ ३७ ॥

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| न—नहीं | यत्—जो |
| तत्—वह | वा—अथवा |
| मित्रम्—मित्र है | मित्रम्—मित्र |
| यस्य—जिसके | शङ्कितेन—शंकित होकर |
| कोपात्—कोप से | उपचर्यम्—सेवनीय हो। |
| बिभेति—डरता है | यस्मिन्—जिसमें |

| | |
|---|---|
| मित्रे—मित्र में | वै—निश्चय से |
| पितरि-इव—पिता के सामान | मित्रम्—मित्र है |
| आश्वसीत—आश्वस्त हो= विश्वास करे, | संगतानि—इकट्ठे हुए |
| | इतराणि—अन्य [हैं]। |
| तत्—वह | |

### व्याख्या—

वह मित्र नहीं है जिसके कोप से डर लगता हो, अथवा जिससे शङ्कित होकर व्यवहार किया जाता हो। मित्र वही होता है जिसमें पिता के समान विश्वास होता है, अन्य तो संगत इकट्ठे हुए अर्थात् "साथी" मात्र कहाते हैं ॥३७॥

> यः कश्चिदप्यसम्बद्धो मित्रभावेन वर्तते।
> स एव बन्धुस्तन्मित्रं सा गतिस्तत् परायणम् ॥३८॥

### पदार्थ—

| | |
|---|---|
| यः—जो | एव—ही |
| कश्चित्—कोई | बन्धुः—बन्धु=संबन्धी |
| अपि—भी | तत्—वह [ही] |
| असंबद्धः—संबन्ध न रखने वाला | मित्रम्—मित्र [है], |
| | सा—वही |
| मित्रभावेन—मित्रपने से | गतिः—आश्रय [है] |
| वर्तते—व्यवहार करता है, | तत्—वही |
| सः—वह | परायणम्—परम गति=सहारा [है]। |

### व्याख्या—

जो व्यक्ति किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखने वाला भी मित्रभाव से व्यवहार करता है वही वास्तव में बन्धु होता है, वही आश्रय रूप होता है, वही परम गति होता अर्थात् ऐसे व्यक्ति से ही आवश्यकता के समय सहयोग प्राप्त हो सकता है।

**विशेष**—दुर्योधन कर्ण आदि को अपना मित्र समझता है, वह न कुल-शील आदि से सम्बद्ध है और नाही मित्रभाव से व्यवहार करता है। वह तो स्वयंवर में द्रौपदी के वचनों से प्रताड़ित उससे बदला लेने के लिये दुर्योधन का आश्रय लिये हुए है ॥३८॥

**चलचितस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः ।**
**पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः ॥ ३९ ॥**

### पदार्थ—

चलचित्तस्य—चंचल चित्त वाले के
वै—निश्चय से
पुंसः—पुरुष के
वृद्धानुपसेवतः—वृद्ध पुरुषों का सेवन न करने वाले के
पारिप्लवमतेः—चंचल बुद्धि वाले के
नित्यम्—नित्य, सदा
अध्रुवः—अस्थायी
मित्रसंग्रहः—मित्रों का संग्रह [होता है] ।

### व्याख्या —

जो पुरुष चंचल चित्त वाला है, वृद्धों का सेवन=संग नहीं करता और अस्थिर मति वाला है, उसका मित्र-संग्रह भी नित्य ही अध्रुव=अस्थिर रहता है अर्थात् ऐसा पुरुष जिनको आज मित्र समझता है कल को शत्रु समझने लग जाता है ।

**चलचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम् ।**
**अर्थाः समभिवर्तन्ते हंसाः शुष्कं सरो यथा ॥४०॥**

### पदार्थ—

चलचित्तम्—चंचल चित्त वाले को
अनात्मानम्—अज्ञानी को
इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों के
वशानुगम्—वश में हुए को
अर्थाः—धन ऐश्वर्य
समभिवर्तन्ते—चारों ओर घेरे रहते हैं,
हंसा—हंस
शुष्कम्—सूखे
सरः—तालाब को
यथा—जैसे ।

### व्याख्या—

चञ्चल चित्तवाले अज्ञानी और इन्द्रियों के वशीभूत पुरुष को धन ऐश्वर्य घेरे तो रहते हैं, परन्तु उसका स्पर्श नहीं करते, प्राप्त नहीं होते, अर्थात् वह उनका भोग नहीं कर पाता, जैसे सूखे तालाब के ऊपर हंस मंडराते तो रहते हैं परन्तु उसमें उतरते नहीं ।

**विशेष**—यहां टीकाकार नीलकण्ठ ने **समतिवर्तन्ते** पाठान्तर दर्शाया है। इसका अर्थ है—उक्त पुरुष को धन ऐश्वर्य छोड़ देते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं जैसे शुष्कतालाब से हंस दूर हट जाते हैं।

**अनात्मानम्** का साधारण अर्थ 'आत्मारहित' होता है, परन्तु यहां लक्षणा से आत्मज्ञान-रहित, मूर्ख, अज्ञानी का निर्देश है ॥३९॥

**अकस्मादेव कुप्यन्ति प्रसीदन्त्यनिमित्तः।**
**शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लवं यथा ॥४१॥**

## पदार्थ—

अकस्मात्—अचानक=विना कारण के
एव—ही
कुप्यन्ति—क्रोध करते हैं,
प्रसीदन्ति—प्रसन्न होते हैं
अनिमित्ततः—विना कारण के,
शीलम्—स्वभाव
एतत्—यह
असाधूनाम्—असत्पुरुषों का [होता हैं]
अभ्रम्—बादल
पारिप्लम्—सब ओर घूमने वाला=चंचल
यथा—जैसे।

## व्याख्या—

जो व्यक्ति विना कारण ही कुपित होते हैं और विना कारण है प्रसन्न होते हैं, यह असत्पुरुषों का लक्षण है। जैसे पारिप्लव=चंचल मेघ कहीं वरस जाता है तो कहीं सूखा डाल देता है। इस प्रकार का चंचल मेघ जैसे व्यर्थ होता है, वैसे ही उक्त पुरुषों का कोप और प्रसन्नता दोनों की व्यर्थ होती हैं ॥४१॥

**सत्कृताश्च कृतार्थश्च मित्राणां न भवन्ति ये।**
**तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥४२॥**

## पदार्थ—

सत्कृताः—सत्कार किये गये
च—और
कृतार्थाः—प्रयोजन सिद्ध किये गये
मित्राणाम्—मित्रों के [हित के लिये]
न—नहीं
भवन्ति—होते हैं

| | |
|---|---|
| ये—जो, | क्रव्यादाः—गीध |
| तान्—उनको | कृतघ्नान्—कृतघ्नों को |
| मृतान्—मरे हुओं को | न—नहीं |
| अपि—भी | उपभुञ्जते—खाते हैं। |

## व्याख्या—

जो व्यक्ति मित्रों से सत्कार पाकर और प्रयोजन सिद्ध करके भी मित्रों के हितकारी नहीं होते, उन मरे हुए कृतघ्नों को गीध भी नहीं खाते।

**विशेष**—यह कृतघ्नों की निन्दा के लिये निन्दा रूप अर्थवाद है। इसका प्रयोजन कृतघ्नों की निन्दा करने मात्र में है, 'गीध भी नहीं खाते' इस अंश के विधान करने में तात्पर्य नहीं है। मीमांसकों का यह मत है कि अर्थ-वादों का केवल निन्दा या स्तुति में ही तात्पर्य होता है, स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता (द्र० मीमांसा अ० १ पाद २ अधि० १)॥४२॥

अर्चयेदेव मित्राणि सति वाऽसति वा धने।
नानर्थयन् प्रजानाति मित्राणां सारफल्गुताम्॥४३॥

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| अर्चयेत्—आदृत करे | न—नहीं |
| एव—ही | अनर्थयन्—प्रयोजन विशेष की कामना या याचना न करता हुआ |
| मित्राणि—मित्रों को | प्रजानाति—जानता है |
| सति—होने पर | मित्राणाम्—मित्रों की |
| वा—अथवा | सारफल्गुताम्—सार-शून्यता को। |
| असति—न होने पर | |
| धने—धन के। | |

## व्याख्या—

मनुष्य को चाहिये कि धन हो या न हो मित्रों का आदर-सत्कार अवश्य ही करे। मित्रों से विशेष प्रयोजन की आकांक्षा न रखता अथवा याचना न करता हुआ मित्रों की सारशून्यता को नहीं समझता अर्थात् मित्रों को लाभ-दायक ही मानता है, अथवा मित्रों से साहाय्य की चाहना न करता हुआ उनके सार-असार की परीक्षा नहीं कर सकता।

**विशेष**—लोभी पुरुष अपने प्रयोजन की सिद्धि करने वाले का ही आदर-सत्कार करते हैं, परन्तु जो लोभी नहीं है वह मित्रों के लाभ को जानता हुआ विना प्रयोजन के भी मित्रों का आदर ही करता है। जो प्रयोजन सिद्धि के लिये ही मित्रों का आदर करता है वह मित्र नहीं है, वह वणिक् तुल्य है। बनियों का स्वाभाव होता है कि घर पर या दुकान पर उसी व्यक्ति को आदर देते हैं, जिससे उन्हें कुछ लाभ की आशा होती है, जिससे लाभ की आशा नहीं होती उससे वे सीधे मुंह बात भी नहीं करते ॥४३॥

संतापाद् भ्रश्यते रूपं संतापाद् भ्रश्यते बलम् ।
संतापाद् भ्रश्यते ज्ञानं संतापाद् व्याधिमृच्छति ॥४४॥

पदार्थ—

| | |
|---|---|
| सन्तापाद्—सन्ताप से | सन्तापाद्—संताप से |
| भ्रश्यते—नष्ट होता है | भ्रश्यते—नष्ट होता है |
| रूपम्—रूप, | ज्ञानम्—ज्ञान; |
| सन्तापाद्—सन्ताप से | सन्तापाद्—सन्ताप से |
| भ्रश्यते—नष्ट होता है | व्याधिम्—व्याधि=रोग को |
| बलम्—बल, | ऋच्छति—प्राप्त होता है। |

व्याख्या—

सन्ताप—इष्ट वस्तु के नाश या प्राप्त न होने से उत्पन्न शोक से रूप, बल और ज्ञान=स्मृति नष्ट हो जाती है और वह सन्तप्त पुरुष रोग को प्राप्त होता है, रोगी हो जाता है ॥४४॥

अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपतप्यते ।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति मा स्म शोके मनः कृथाः ॥४५॥

पदार्थ—

| | |
|---|---|
| अनवाप्यम्—प्राप्त होने के अयोग्य | अमित्राः—शत्रु लोग |
| | प्रहृष्यन्ति—प्रसन्न होते हैं, |
| च—और | मा—मत |
| शोकेन—शोक से | स्म—(पादपूर्त्यर्थ) |
| शरीरम्—शरीर | शोके—शोक में |
| च—और | मनः—मन को |
| उपतप्यते—पीड़ित होता है, | कृथाः—करो, लगाओ। |

### व्याख्या—

शोक से कोई इष्ट वस्तु प्राप्त होने योग्य नहीं होती अर्थात् शोक=चिन्ता करने से इष्ट वस्तु प्राप्त नहीं होती, उलटा शरीर पीड़ित होता है. शत्रु लोग शोक=चिन्ता में डूबा जानकर प्रसन्न होते हैं। इसलिये शोक=चिन्ता में मन को मत लगाओ ॥४५॥

**विशेष**—शोक=चिन्ता चिता से भी अधिक भयङ्कर होती है। चिता तो मृत शरीर को ही जलाती है, परन्तु चिन्ता सजीव को भी जला देती है—**चिता दहति निर्जीवं चिन्ता दहति सजीवकम् ।**

**पुनर्नरो म्रियते जायते च**
**पुनर्नरो हीयते वर्धते च ।**
**पुनर्नरो याचति याच्यते च**
**पुनर्नरः शोचति शोच्यते च ॥४६॥**

### पदार्थ—

पुनः—फिर
नरः—मनुष्य
म्रियते—मरता है
जायते—उत्पन्न होता है
च—और,
पुनः—फिर
नरः—मनुष्य
हीयते—क्षीण होता है
वर्धते—बढ़ता है
च—और,
पुनः—फिर
नरः—मनुष्य
याचति—मांगता है
याच्यते—मांगा जाता है
च—और,
पुनः—फिर
नरः—मनुष्य
शोचति—शोक करता है
शोच्यते—[अन्य से] शोक किया जाता है
च—और ।

### व्याख्या—

मनुष्य पुनः पुनः मरता है उत्पन्न होता है, क्षीण होता है बढ़ता है, याचना करता है अथवा याचना किया जाता है, शोक करता है अथवा शोक किया जाता है अर्थात् मनुष्य कभी भी एक रूप में नहीं रहता, सुख-दुःख लगे ही रहते हैं। अतः शोक करना व्यर्थ है ॥४६॥

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च ।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति
तस्माद् धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ॥४७॥

पदार्थ—

सुखम्—सुख
च—और
दुःखम्—दुःख
च—और
भवाभवौ—होना-न-होना
च—और
लाभालाभौ—लाभ और हानि
मरणम्—मरना
जीवितम्—जीना
च—और
पर्यायशः—बारी-बारी से
सर्वम्—सब [प्राणिमात्र] को
एते—ये
स्पृशन्ति—स्पर्श करते हैं, प्राप्त होते हैं।
तस्मात्—इसलिये
धीरः—धैर्यशाली
न—नहीं
च—और
हृष्येत्—प्रसन्न होवे
न—नहीं
शोचेत्—शोक करे।

व्याख्या—

संसार में सुख-दुःख, भाव-अभाव (होना-न-होना), लाभ-हानि और जीवन-मरण ये सब सभी प्राणिमात्र को बारी-बारी से प्राप्त होते हैं। इसलिये धैर्यवान् पुरुष को चाहिये कि वह न इष्ट को प्राप्त होकर प्रसन्न होवे और न अनिष्ट को प्राप्त होकर शोक करे ॥४७॥

चलानि हीमानि षडिन्द्रियाणि
तेषां यद् यद् वर्धते यत्र यत्र ।
ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य
छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमम्भः ॥४८॥

पदार्थ—

चलानि—चंचल
हि—निश्चय से
इमानि—ये
यद्—जो

इन्द्रियाणि—इन्द्रियां (पांच ज्ञानेन्द्रियां, छठा मन)
तेषाम्—उनमें से
यत्-यत्—जो-जो [इन्द्रिय]
वर्धते—बढ़ती है
यत्र-यत्र—जिस-जिस [विषय] में,
ततस्ततः—उस-उस से
स्रवते—झरती है (=नष्ट होती है)
बुद्धिः—बुद्धि (=ज्ञान)
अस्य—इस [विषय सेवन करने हारे] की
छिद्रोदकुम्भात्—सच्छिद्र जल के घड़े से
इव—जैसे
नित्यम्—सदा
अम्भः—जल ।

### व्याख्या—

मन सहित पांचों ज्ञानेन्द्रियां निश्चय ही अत्यन्त चंचल हैं । इन इन्द्रियों में से जो-जो इन्द्रिय जिस-जिस विषय के सेवन में बढ़ती है, उस-उस इन्द्रिय द्वारा उस-उस विषय के सेवन करने वाले पुरुष की बुद्धि का स्रवण (=झरना =नाश) होता है । जैसे सच्छिद्र घड़े से पानी झरता है ।

विशेष—इन्द्रियों का एक नाम "ख" भी है । ख छिद्र का वाचक भी है । इस प्रकार ख-रूपी इन्द्रियों से जलरूपी बुद्धि के झरने का उपमान उपमेय भाव होने से यहां पूर्णोपमा अलंकार समझना चाहिये ॥४८॥

### धृतराष्ट्र उवाच

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया ।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ॥४९॥

### पदार्थ—

धृतराष्ट्र बोले—

तनुरुद्धः—शरीर=आश्रय स्थान में रुद्ध=अप्रकट
शिखी—अग्नि [के समान]
राजा—[धर्म से बंधा हुआ] राजा (युधिष्ठिर)
मिथ्योपचरितः—अयुक्त व्यवहार किया गया
मया—मेरे द्वारा
मन्दानाम्—मूर्खों का
मम—मेरे
पुत्राणाम्—पुत्रों का
युद्धेन—युद्ध के द्वारा
अन्तम्—अन्त
करिष्यति—कर देगा ।

## व्याख्या—

जैसे काष्ठरूपी शरीर में छिपा हुआ अग्नि घर्षण आदि के द्वारा प्रकट होकर उसको जला डालता है। उसी प्रकार सूक्ष्म धर्म से बंधा हुआ राजा युधिष्ठिर जिसके साथ मैंने असद् (बुरा) व्यवहार किया है, वह मेरे मूर्ख पुत्रों का युद्ध के द्वारा अन्त कर देगा।

**विशेष**—यहां तनुरुद्ध अग्नि उपमान है और धर्मरुद्ध राजा युधिष्ठिर उपमेय है। उपमावाचक शब्द का यहां लोप होने से लुप्तोपमालंकार जानना चाहिये ॥४९॥

नित्योद्विग्नमिदं सर्वं नित्योद्विग्नमिदं मनः।
यत् तत् पदमनुद्विग्नं तन्मे वद महामते ॥५०॥

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| नित्योद्विग्नम्—नित्य भयभीत =पीड़ित | तत्—जो |
| | पदम्—स्थान=स्थिति |
| इदम्—यह | अनुद्विग्नम्—भय रहित=पीड़ा रहित [हैं] |
| सर्वम्—सारा प्राणि-जगत्, | |
| नित्योद्विग्नम्—नित्य भयभीत =पीड़ित | तत्—उसको |
| | मे—मेरे लिये |
| इदम्—यह | वद—कहो |
| मनः—मन [है], | महामते—महामति=महाज्ञान-वाले। |
| यत्—यह | |

## व्याख्या—

यह सारा प्राणि-जगत् नित्य भयभीत एवं पीड़ित=दुःखी है, यह [मेरा] मन भी भयभीत वा पीड़ित है। इसलिये हे महाबुद्धिवाले विदुर! वह स्थान=स्थिति=अवस्था मुझे बताओ जो भय एवं पीड़ा से रहित हो।

**विशेष**—नीलकण्ठ टीकाकार ने प्रकृत प्रसंग से बाहर इस श्लोक की व्याख्या की है। वह लिखता है—सारा संसार भयभीत=गतिशील=नाशवान् है इसलिये मुझे भयरहित कूटस्थ=नाशरहित पद=प्राप्त करने योग्य ब्रह्म का उपदेश करो। इसी प्रकार अगले श्लोकों की भी वह ब्रह्म-प्राप्ति के साधनपरक ही व्याख्या करता है। यह व्याख्या रमणीय होने पर भी प्रसंग से बहिर्भूत होने के कारण अमान्य है ॥५०॥

## विदुर उवाच

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र लोभसंत्यागाच्छान्तिं पश्यामि तेऽनघ ॥५१॥

### पदार्थ—

न—नहीं
अन्यत्र—विना
विद्यातपसोः—विद्या और तप के
न—नहीं
अन्यत्र—विना
इन्द्रियनिग्रहात्—इन्द्रिय जय के
न—नहीं
अन्यत्र—विना
लोभसन्त्यागात्—लोभ के अत्यन्त त्याग के
शान्तिम्—शान्ति को
पश्यामि—देखता हूँ
ते—तुम्हारी
अनघ—पाप रहित !

### व्याख्या—

हे अनघ ! (धृतराष्ट्र !) विना विद्या व तप के, विना इन्द्रिय जय के, विना लोभ के सर्वथा त्याग के तुम्हारी शान्ति नहीं देखता हूँ अर्थात् इन्द्रिय-जय वा लोभ के त्याग से ही तुम्हें शान्ति प्राप्त हो सकती है ॥५१॥

बुद्ध्या भयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत् ।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति ॥५२॥

### पदार्थ—

बुद्ध्या—बुद्धि=ज्ञान से
भयम्—भय को
प्रणुदति—दूर करता है,
तपसा—तप से
विन्दते—प्राप्त करता है
महत्—महत् [ब्रह्म] को,
गुरुशुश्रूषया—गुरु की सेवा से
ज्ञानम्—ज्ञान को
शान्तिम्—शान्ति को
योगेन—योग से
विन्दति—प्राप्त होता है ।

### व्याख्या—

बुद्धि=ज्ञान से भय को दूर करता है, तप से महत् ब्रह्म को प्राप्त होता है, गुरु की सेवा से ज्ञान को प्राप्त होता है और योग=सुख-दुःख आदि

में समभाव (समत्वं योग उच्यते—गीता २।४८) से शान्ति को प्राप्त करता है।

**विशेष**—नीलकण्ठ के मतानुसार इसका अर्थ इस प्रकार है—ज्ञान से भय=भयस्थान=संसार को दूर करता है, तप से सद्गुरु को प्राप्त होता है, गुरु की सेवा से ज्ञान को उपलब्ध करता है तथा योग=चित्तवृत्ति के निरोध से शान्ति को प्राप्त होता है ।।५२।।

**अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः ।**
**रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरन्तीह मोक्षिणः ।।५३।।**

### पदार्थ—

अनाश्रिताः—आश्रय को प्राप्त न हुए
दानपुण्यम्—दान रूपी उत्तम कर्म को,
वेदपुण्यम्—वेद के पुण्य को
अनाश्रितः—आश्रित न हुए
रागद्वेषविनिर्मुक्ताः—रागद्वेष से रहित
विचरन्ति—विचरते हैं, व्यवहार करते हैं
इह—इस लोक में
मोक्षिणः—मोक्ष को प्राप्त=जीवन्-मुक्त।

### व्याख्या—

दानरूपी पुण्य एवं वेदाध्ययनरूपी अथवा ज्ञानरूपी श्रेष्ठ कर्म का आश्रय न लेते हुए रागद्वेष से रहित मोक्ष को प्राप्त अर्थात् जीवन्मुक्त इस लोक में विचरते हैं।

**विशेष**—इस का भाव यह है कि जिसने जीवन्मुक्ताऽऽवस्था प्राप्त कर ली है उसके लिये न कोई ऐसा कर्तव्य कर्म शेष रहता है, जिसका वह आश्रय ले अथवा कोई ज्ञान ज्ञेय रहता है, जिसके लिये वह वेद-शास्त्रादि का अध्ययन करे। इसी अवस्था का निर्देश भगवान् कृष्ण ने गीता (३।२२) में इस प्रकार किया है—

**न मे पार्थाऽस्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन न ।**
**नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।**

अर्थात्—हे अर्जुन मुझे तीनों लोकों में अर्थात् तीनों प्रकार के मित्र-उदासीन-शत्रु लोगों के प्रति कुछ भी कर्तव्य कर्म अवशिष्ट नहीं है और न ही कोई ऐसा अप्राप्य पदार्थ है जिसकी मुझे प्राप्ति करनी है, फिर भी मैं कर्म मे (लिप्त न होता हुआ) लगा हुआ हूँ।

विदुरनीति के उक्त श्लोक से किसी को यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि जीवन्मुक्त पुरुष उत्तम कर्म एवं वेदाध्ययन आदि करे ही नहीं, उसे ये कर्म करने ही चाहियें जिससे साधारण जन, जिनका कि बड़ों का अनुकरण करने का ही स्वभाव होता है, कर्म में लगे रहें। इसीलिये कृष्णजी ने कहा है—

**उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।**
**संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥** गीता ३।२४ ॥

यदि मैं कर्म न करूं तो साधारण जन मेरा अनुकरण करके वे भी कर्म को छोड़ बैठेंगे। सांसारिक जनों द्वारा उत्तम कर्मों के छोड़ देने से यह संसार नष्ट हो जायेगा। इस प्रकार मैं इन साधारण प्रजाओं का नाश करने वाला=दुःखों में डुबने वाला बन जाऊंगा।

अनेक व्यक्ति यह कहते एवं समझते हैं कि मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञान की कोई आश्यकता नहीं है। आधुनिक तथाकथित भक्त लोग कहते हैं—

**पढ़-पढ़ पण्डित पोथियां पण्डित भया न कोय।**
**एको अक्खर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होय ॥**

वस्तुतः यह धारणा अशुद्ध है। वेद कहता है कि इस विराट् जगत् एवं विराट् पुरुष=ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके ही मोक्ष का अधिकारी बनता है। (यजुः ३।१६)—

**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।**
**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥**

अर्थात् इस विराट् जगत् एवं विराट् पुरुष=ब्रह्म को जान कर ही मृत्यु से छूटता है, अन्य कोई गति नहीं है।

इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है—**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**। अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती।

परन्तु जो केवल ज्ञानोपार्जन में ही लगा रहता है, तदनुकूल कर्म नहीं करता, वह निरा कर्म करने वाले की अपेक्षा भी गहरे अन्धकार में गिरता है। वेद कहता है—

**अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।**
**ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥**

यजुः ४० ॥५३॥

**स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः।**
**तपसश्च सुतप्तस्य तस्यान्ते सुखमेधते ॥५४॥**

## पदार्थ—

स्वधीतस्य—अच्छे प्रकार अध्ययन किए हुए के
सुयुद्धस्य—अच्छे प्रकार युद्ध किए हुए के
सुकृतस्य—अच्छे प्रकार कर्म किए हुए के
च—और
कर्मणः—कर्म के
तपसः—तप के
सुतप्तस्य—अच्छे प्रकार तपे हुए के
तस्य—उसके
अन्ते—अन्त में
सुखम्—सुख को
अश्नुते—प्राप्त होता है।

## व्याख्या—

अच्छे प्रकार अध्ययन करने, अच्छे प्रकार युद्ध करने, अच्छे प्रकार कर्म करने एवं अच्छे प्रकार तप तपने (तप का अनुष्ठान करने) के पीछे ही मनुष्य सुख को प्राप्त होता है।

विशेष—इस प्रकरण से विदुर यह बताना चाहते हैं कि जिन कारणों से मनुष्य को सुख की प्राप्ति हो सकती है वे सब पाण्डवों में, विशेषकर के धर्मराज युधिष्ठिर में विद्यमान हैं। वे विद्या एवं तप से युक्त हैं, जितेन्द्रिय हैं, निर्लोभी हैं, गुरु-शुश्रूषु हैं, रागद्वेष से निर्मुक्त हैं, स्वाध्यायी हैं, धर्मानुकूल निर्भय होकर युद्ध करने वाले हैं, श्रेष्ठ कर्म करने वाले हैं एवं महातपस्वी हैं। अतः वे सुख को प्राप्त होंगे। इन गुणों से विपरीत होने से कौरव दुःख के भागी होंगे ॥५४॥

अब कौरवों के नाश के प्रमुख कारण का निर्देश किया जाता है—

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना
न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते।
न स्त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवन्ति
न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ॥५५॥

## पदार्थ—

स्वास्तीर्णानि—उत्तम बिछौनों से युक्त
शयनानि—पलङ्ग आदि को
प्रपन्नाः—प्राप्त हुए
न—नहीं
वै—निश्चय से
भिन्नाः—भेद को प्राप्त हुए
जातु—कभी भी

निद्राम्—नींद को
लभन्ते—प्राप्त होते हैं:
न—नहीं
स्त्रीषु—स्त्रियों में, भार्याओं में
रतिम्—रति को
आप्नुवन्ति—प्राप्त करते हैं,
न—नहीं
मागधैः—चारणों से
स्तूयमानाः—स्तुति किए गये
न—नहीं
सूतैः—भाटों से

## व्याख्या—

भेद को प्राप्त हुए, फूट डालने वाले अथवा आपस में झगड़ने वाले उत्तम नरम-नरम बिच्छौनो पर लेट कर भी निद्रा को प्राप्त नहीं होते, स्त्रियों में रति को प्राप्त नहीं होते तथा न चारणों एवं भाटों से स्तुति किये गये प्रसन्नता को प्राप्त होते हैं। अर्थात् उनका कलुषित हृदय उन्हीं को सताता रहता है, वे कहीं शान्ति को प्राप्त नहीं होते।

**विशेष**--नीलकण्ठ टीकाकार ने इस श्लोक का और अगले श्लोक का नवीन वेदान्त परक अर्थ किया है। वह लिखता है—**'द्वितीयाद्वै भयं भवति'** वचनानुसार ब्रह्म-अद्वैत बुद्धि से रहित ब्रह्म से अतिरिक्त वस्तु की सत्ता स्वीकार करने के कारण जन सदा दुःखी ही रहते हैं। यह अभिप्रायः दो कारणों से अशुद्ध हैं, एक तो प्रकृत प्रसंग से बाहर होने से, दूसरा ब्रह्म-अद्वैत का अभिप्राय न समझने से। ब्रह्म-अद्वैत का भाव इतना ही है कि ब्रह्म एक ही है तत्समान अन्य कोई परम-महत् सत्ता नहीं, 'उससे भिन्न कोई वस्तु ही नहीं', इस निषेध में उसका वचन तात्पर्य नहीं है ॥५५॥

**न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं**
**न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः ।**
**न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति**
**न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥५६॥**

## पदार्थ—

न—नहीं
भिन्नाः—भेद को प्राप्त हुए
जातु—कभी भी
चरन्ति—आचरण करते हैं
धर्मम्—धर्म का
न—नहीं
सुखम्—सुख को
प्राप्नुवन्ति—प्राप्त होते है
इह—इस श्लोक में
भिन्नाः—भेद को प्राप्त हुए,

न—नहीं
वै—निश्चय से
भिन्नाः—भेद को प्राप्त हुए
गौरवम्—गौरव को, उन्नति को
प्राप्नुवन्ति—प्राप्त होते हैं

न—नहीं
वै—निश्चय से
भिन्नाः—भेद को प्राप्त हुए
प्रशमम्—शान्ति को, वैर-शमन को
रोचयन्ति—चाहते हैं।

## व्याख्या—

भेद को प्राप्त हुए मनुष्य न धर्म का आचरण करते हैं, न सुख को प्राप्त होते हैं, न गौरव=उन्नति को प्राप्त होते हैं और नाही शान्ति=पारस्परिक कलह को दूर करना चाहते हैं ॥५६॥

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं
योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम्।
भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं
न विद्यते किंचिदन्यद् विनाशात् ॥५७॥

## पदार्थ—

न—नहीं
वै—निश्चय से
तेषाम्—उनको
स्वदते—अच्छा लगता है,
पथ्यम्—उचित=ठीक
उक्तम्—कहा गया,
योगक्षेमम्—योग-क्षेम
कल्पते—समर्थ होता है, प्राप्त होता है
नैव—नहीं
तेषाम्—उनका,

भिन्नानाम्—भेद को प्राप्त हुओं का
वै—निश्चय से
मनुजेन्द्र—राजन्!
परायणम्—परा=अन्तिम गति
न—नहीं
विद्यते—होता है
किञ्चित्—कुछ भी
अन्यत्—अन्य=भिन्न
विनाशात्—विनाश से।

## व्याख्या—

हे राजन्! जो लोग भेद को प्राप्त हुए हैं उनको कोई ठीक यथार्थ कही हुई बात भी अच्छी नहीं लगती, न उनका योग=अप्राप्त की प्राप्ति

एवं क्षेम=प्राप्त की रक्षा रूपी कर्म फलदायक होता है। भेद को प्राप्त हुओं की विनाश के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं अर्थात् वे अन्त में विनाश को ही प्राप्त होते हैं ॥५७॥

सम्पन्नं गोषु सम्भाव्यं सम्भाव्यं ब्राह्मणे तपः ।
सम्भाव्यं चापलं स्त्रीषु सम्भाव्यं ज्ञातितो भयम् ॥५८॥

## पदार्थ—

सम्पन्नम्—संपत्ति
गोषु—गौवों में
संभाव्यम्—संभावना के योग्य है,
संभाव्यम्—सम्भावना के योग्य है
ब्राह्मणे—ब्राह्मण में
तपः—तप=द्वन्द्व सहन शक्ति,
सम्भाव्यम्—संभावना योग्य है
चापलम्—चपलता
स्त्रीषु—स्त्रियों में,
संभाव्यम्—सम्भावना के योग्य है
ज्ञातितः—सम्बन्धियों से
भयम्—भय।

## व्याख्या—

गौवों में दुग्धादि सम्पत्ति की सम्भावना योग्य=उचित है=की जा सकती है, ब्राह्मण में तप भी सम्भाव्य है, स्त्रियों में चपलता सम्भाव्य है और स्वसंबन्धियों से भय भी संभाव्य है=संभावना योग्य है ॥५८॥

तन्तवो प्यायिता नित्यं तनवो बहुलाः समाः ।
बहून् बहुत्वादायासान् सहन्तीत्युपमा सताम् ॥५९॥

## पदार्थ—

तन्तवः—कुलतन्तु=पाण्डव
आप्यायिताः—बढ़ाये हुए
नित्यम्—नित्य
तनवः—सूक्ष्म=बालक रूप
बहुलाः—बहुत
समाः—वर्ष तक,
बहून्—बहुत
बहुत्वात्—बहुत होने से
आयासान्—दुःखों को
सहन्ति—सहन करते हैं
इति—यह
उपमा—उपमा
सताम्—सत् पुरुषों की।

## व्याख्या—

हे राजन् कुल-तन्तु बालक पाण्डव तुम्हारे द्वारा बढ़ाये हुए बहुत वर्षों तक दुःखों को सहते है=सहन करते रहे, इस कारण वे सत्पुरुषों की उपमा को धारण करते हैं।

**विशेष**—यह श्लोक कुछ कूटता को लिये हुए होने से अस्पष्ट सा है। व्याख्याकारों के मतानुसार **तन्तवो प्यायिता** में "आप्यायिता" पदच्छेद है वही हमने भी दर्शाया है। परन्तु इसमें सन्धि उपपन्न नहीं होती। टीकाकार आर्ष सन्धि बताकर पल्ला छुड़ा लेते हैं। हमारे मतानुसार यहां **तन्तवः अपि आयिताः** सन्धिच्छेद होना चाहिए। 'आयिता' **"अय गतौ"** णिजन्त का रूप है। इस का भाव 'समर्थ किये गये' 'वढ़ाये गये' निकल सकता है ॥५९॥

**धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च।**
**धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥६०॥**

## पदार्थ—

धूमायन्ते=धूंए के समान पीड़ा देनी हैं
व्यपेतानि—पृथक् हुए
ज्वलन्ति—जलने लगते हैं
सहितानि—इकट्ठे हुए
च—और
धृतराष्ट्र—हे धृतराष्ट्र!
उल्मुकानि—जलते हुए ईंधन
इव—के समान
ज्ञातयः—सम्बन्धीजन
भरतर्षभ—हे भरत कुल में श्रेष्ठ!

## व्याख्या—

हे भरतकुल में श्रेष्ठ धृतराष्ट्र! जैसे जलती हुई लकड़ियां अलग अलग होती हैं तो धूंवां देती हैं और जब इकट्ठी हो जाती हैं तो जलने लगती हैं इसी प्रकार ज्ञाति=सम्बन्धी जन भी जब अलग अलग रहते हैं तो धुंएं के समान व्यवहार करते हैं अल्प पीड़ा पहुँचाते हैं परन्तु जब इकट्ठे होते हैं तो जलने लगते हैं और स्वयं जलकर नष्ट हो जाते हैं ॥ ६० ॥

**ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च ।**
**वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥६१॥**

पदार्थ—

ब्राह्मणेषु—ब्राह्मणों में
च—और
ये—जो
शूराः—शूर हैं
स्त्रीषु—स्त्रियों में
ज्ञातिषु—सम्बन्धी जनों में
गोषु—गौवों में
च—और
वृन्तात्—बन्धन स्थान से
इव—जैसे
फलम्—फल
पक्वम्—पका हुआ
धृतराष्ट्र—हे धृतराष्ट्र !
पतन्ति—गिर पड़ते हैं
ते—वे ।

व्याख्या—

हे धृतराष्ट्र ! जैसे पका हुआ फल वृन्त=बन्धन स्थान से अलग होकर गिर पड़ता है उसी प्रकार जो पुरुष ब्राह्मणों स्त्रियों सम्बन्धिजनों एवं गौवों में शूर होते हैं, इन पर ही अपनी शूरता प्रकट करते हैं वे नष्ट हो जाते हैं ।

विशेष—**वृन्त**=उस स्थान को कहते हैं जहां फल डाली से सम्बद्ध होता है ।

**ज्ञाति**=सम्बन्धिजनों से अभिप्राय युद्ध की इच्छा न करने वाले सम्बन्धिजनों से है ।

यहाँ पर विदुर ने यह संकेत किया है कि युद्ध न चाहने वाले सम्बन्धिजन पाण्डवों पर शूरता दिखाने की इच्छा रखने वाले दुर्योधन आदि पके फल के समान राज्य से भ्रष्ट होकर नष्ट हो जायेंगे ॥ ६१ ॥

**महानप्येकजो वृक्षो बलवान्सुप्रतिष्ठितः ।**
**प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ॥६२॥**

**अथ ये सहिता वृक्षाः सङ्घशः सुप्रतिष्ठिताः ।**
**ते हि शीघ्रतमान्वातान् सहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात् ॥६३॥**

## पदार्थ—

महान्—वड़ा
अपि—भी
एकजः—अकेला उत्पन्न हुआ
वृक्षः—वृक्ष
वलवान्—सुदृढ़
सुप्रतिष्ठितः—अच्छे प्रकार ठहरा हुआ
प्रसह्यः—हठात्
एव—ही
वातेन—वायु से
सस्कन्धः—शाखाओं के सहित
मर्दितुम्—मर्दन के लिए
क्षणात्—क्षण भर में।
अथ—और
ये—जो
सहिताः—इकट्ठे
वृक्षाः—वृक्ष
संघशः—समुदाय रूप से
सुप्रतिष्ठिताः=अच्छे प्रकार ठहरे हुए
ते—वे
हि—निश्चय से
शीघ्रतमान्—अत्यन्त शीघ्र गामी
वातान्–हवाओं=आंधियो को
सहन्ते—सहन कर लेते हैं
अन्योन्यसंश्रयात्=एक दूसरे के सहारे से।

## व्याख्या—

अकेला वड़ा वलशाली सुदृढ़ अच्छे प्रकार स्थिर वृक्ष भी वायु के द्वारा क्षण भर में शाखा पत्रादि सहित मर्दन=गिराने के योग्य होता है अर्थात् उखाड़ दिया जाता है किन्तु जो पेड़ इकट्ठे समूह रूप में सुदृढ़ खड़े होते हैं वे अत्यन्त तीव्र आंधियों को भी एक दूसरे की सहायता से सहन कर लेते हैं ॥ ६२,६३, ॥

एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम्‌ ।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम ॥६४॥
अन्योन्यसमुपष्टम्भादन्योन्यापाश्रयेण च ।
ज्ञातयः संप्रवर्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत ॥६५॥

## पदार्थ—

एवम्—उसी तरह
मनुष्यम्—मनुष्य को
अपि—भी
एकम्—अकेले को
गुणैः—गुणों से
अपि—भी

समन्वितम्—युक्त को
शक्यम्—नष्ट करने योग्य
द्विषन्तः—शत्रु लोग
मन्यन्ते—मानते हैं
वायुः—वायु=आंधी
द्रुमम्—पेड़ को
इव—जैसे
एकजम्—अकेले उगे हुए को
अन्योन्यसमुपष्टम्भात्—एक दूसरे के सहारे से
अन्योन्यापाश्रयेण—एक दूसरे के सहयोग से
च—और
ज्ञातयः—सम्बन्धीजन
संप्रवर्धन्ते—बढ़ते हैं
सरसि—तालाब में
इव—जैसे
उत्पलानि—कमल
उत—और।

## व्याख्या—

अनेक गुणों से युक्त [बलवान्] मनुष्य को भी शत्रु लोग उसी प्रकार नष्ट कर सकने योग्य मानते हैं जैसे अकेले सुदृढ़ वृक्ष को भी तीव्र वायु=(आंधी) नष्ट कर देता है। परन्तु एक दूसरे के सहारे और एक दूसरे के सहयोग से सम्बन्धीजन उसी प्रकार बढ़ते हैं जैसे बड़े तालाब में कमल बढ़ते हैं।

विशेष—पूर्व ६३वें श्लोक में अकेले वृक्ष की अपेक्षा समूह रूप में उत्पन्न हुए वृक्षों का परस्पर सहयोग से तीव्र आन्धी से भी सुरक्षित रहने का उल्लेख किया था। यहा ६५वें श्लोकों में वृक्षो की अपेक्षा अत्यन्त दुर्बल कमलों का दृष्टान्त देकर पारस्परिक सहारे एवं सहयोग का अधिक प्रभाव पूर्ण शब्दों में उल्लेख किया है।

**सरसी**—विशालतम तालावों के लिये प्रयुक्त होता है। महाभाष्यकार के १।१।१८ सूत्रभाष्य से **दक्षिणा पथे हि महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते** वचन से दो बातों पर प्रकाश पड़ता हैं। एक सरसी शब्द का प्रयोग बड़े तालावों के लिए दक्षिण भारत में ही होता था। दूसरा बड़े बड़े तालाब जो नदी नालों के बांध से बनाये जाते थे दक्षिण भारत में ही बनाये जाते थे, उत्तर भारत मे नही। इसका प्रधान कारण यह था कि उत्तर भारत में बड़े भूकम्प प्रायः आते रहते है। हिमालय की शृङ्खला तो भूकम्प पट्टी, जो जापान के पूर्व से अफगानिस्तान के आगे पश्चिम तक चली गई है, पर ही स्थित है। इसलिए प्राचीन वास्तु शास्त्रज्ञों ने उत्तर भारत में भी यदि कहीं उदयसागर राजसमुद्र जैसे बाँध बनाये हैं तो अर्वली की शृखला तक ही

बनाये । दक्षिण भारत में बड़े बड़े भूकम्प प्रायः नहीं आते । अतः वहां ही प्राचीन वास्तु शास्त्रज्ञों ने नागार्जुन सागर जैसे विशाल बांध बनाये। हिमाचल के प्रदेश में कहीं भी विशाल बांध नहीं बनाये । क्योंकि हिमालय की उपत्यका में बनाये बांध यदि दैवात् महाभूकम्प से नष्ट हो जाये तो विशाल भू भाग में जल प्रलय मच सकता है। हमारे शासन कर्त्ताओं को जो प्रत्येक विषय में योरोप और अमेरिका की ओर देखते हैं, इस क्रियात्मक तथ्य की ओर से उदासीन रहे। उन्होंने इतना भी नहीं सोचा की जिन पुराने भारतीयों ने दक्षिण भारत में और उत्तर में अर्वली कि शृखलाओं तक बड़े बड़े बांध बनाये, उन्होंने हिमाचल की उपत्यका में बांध क्यों नहीं बनाये ? यदि इस पर थोड़ा सा भी विचार करते तो उन्हें इस का रहस्य समझ में आ सकता था।

इतना ही नहीं, आजकल जो बाँध बनाये जा रहे हैं, उसमें भी योरोप और अमेरिका का अन्धानुकरण हो रहा है। भारतीय राजसमुद्र जैसे विशालतम बांधों के सुदृढ़ बन्धन प्रकार को किसी ने देखने का भी प्रयत्न नहीं किया। राज समुद्र का बन्धन इतना सुदृढ़ है कि लगभग चार सौ वर्ष के सुदीर्घ काल में एक बार भी उसमें दरार नहीं पड़ी। हमारे आधुनिक बांधों में बाँध कार्य पूर्ण होने से पूर्व ही विघटन प्रारम्भ हो जाता है।। ६४,६५ ।।

**अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः ।**
**येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः ॥६६॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| अवध्याः—हिंसा करने के अयोग्य | च—और |
| | अन्नानि—अन्न |
| ब्राह्मणाः—ब्राह्मण | भुञ्जीत—खाए |
| गावः—गौवें | ये—जो |
| ज्ञातयः—सम्बन्धीजन | च—और |
| शिशवः—बालक | स्युः—होवें |
| स्त्रियः—स्त्रियां हैं, | शरणागताः—शरण में आए हुए। |
| येषाम्—जिनके | |

## व्याख्या—

ब्राह्मण, गौ, सम्बन्धी जन, बालक, स्त्री, जिनका अन्न खाते हैं अर्थात्

जिनके आश्रित हैं और जो शरण में आए हुए हैं, ये सब अवध्य हैं, इन्हें नहीं मारना चाहिए।

**विशेष**—भारतीय युद्धनीति में भी इन सब को अवध्य कहा है। साम्प्रतिक युद्धनीति में कोई भी अवध्य नहीं है। आजकल की युद्धनीति है जिसकी लाठी उसकी भैंस, अथवा समरथ को नहीं दोष गुसाईं। इसी कारण जापान पर परमाणु बम गिराकर लाखों निरीह सामान्य जनों का वध करने वाले अमेरिका की किसी ने निन्दा नहीं की, इसके विपरीत जर्मन राष्ट्र की हार हो जाने पर उसकी निरीह प्रजा से भी बदला लिया गया ॥६६॥

**न मनुष्ये गुणः कश्चिद्राजन् सधनतामृते।**
**अनातुरत्वाद्भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः ॥६७॥**

## पदार्थ—

न—नहीं
मनुष्ये—मनुष्य में
गुणः गुण
कश्चित्—कोई
राजन्—हे राजन्!
सधनताम्—धनिकता के
ऋते—बिना,
अनातुरत्वात्—रोगराहित्य से
भद्रम्—कल्याण
ते—तुम्हारा [हो],
मृतकल्पाः—मरे हुए के समान
हि—निश्चय से
रोगिणः—रोगी [होते हैं]।

## व्याख्या—

हे राजन्! मनुष्य में धनिकता (धन से युक्त होना) के अतिरिक्त और रोगी न होना के अतिरिक्त कोई गुण नहीं है। रोगी पुरुष मरे हुए के समान होते हैं।

**विशेष**—यहां सधनता और स्वस्थता दोनों को प्रधान मानुष गुण कहा है, धन होने पर भी यदि स्वस्थता नहीं है, तो धन की गुणवत्ता भी समाप्त हो जाती है। अतः स्वस्थता सबसे प्रधान गुण है। हां, स्वस्थता के लाभ के लिए धन सहायक होता है, निर्धन मनुष्य अपनी चिकित्सा कराने में भी समर्थ नहीं होता।

महात्मा विदुर ने संकेत किया है कि हे धृतराष्ट्र तुम ऐश्वर्य से युक्त हो, स्वस्थ हो। ऐश्वर्य का स्वस्थता पूर्वक भोग करने के लिए आवश्यक है कि तुम पाण्डवों को उनका भाग दो, तभी तुम्हारा कल्याण होगा। यह आशय श्लोकगत भद्रं ते पदों से संकेतित किया है ॥६७॥

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
पापानुबन्धं पुरुषं तीक्ष्णमुष्णम् ।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥६८॥

पदार्थ—

अव्याधिजम्—विना व्याधि के भी उत्पन्न होने वाले को
कटुकम्—अरुचिकर को
शीर्षरोगि—मस्तिष्क को रुग्ण करने वाले (बुद्धि को हरने वाले) को
पापानुबन्धम्—बुरे कामों से सम्बन्ध रखने वाले को
परुषम्—रूक्ष को
तीक्ष्णम्—छेदक को
उष्णम्—गरम (गरमी देने वाले) को
सताम्—सत् पुरुषों के
पेयम्—पीने योग्य=निगलने योग्य को
यत्—जो
न—नहीं
पिबन्ति—पीते हैं=निगलते हैं
असन्तः—असत्पुरुष
मन्युम्—क्रोध या दीनता को
महाराज—हे महाराज !
पिब—पीओ [और]
प्रशाम्य—शान्ति=क्षमा को प्राप्त होवो ।

व्याख्या—

हे महाराज ! जो मनुष्य विना व्याधि के उत्पन्न होने वाले, कड़वे, बुद्धि को हरने वाले, बुरे कर्मों से सम्बन्ध रखने वाले, कठोर, शरीर के छेदक =नाश करने वाले उष्ण स्वभाव वाले मन्यु=क्रोध को, जो सत्पुरुषों से पीने योग्य=निगलने योग्य=शमन करने योग्य है, उसको असत् पुरुष नहीं पीते =नहीं निगलते, ये उसके वश में हो जाते हैं । ऐसे क्रोध को हे राजन् तुम पीवो=निगलो=शमन करो और शान्ति वा क्षमा को प्राप्त होवो । क्रोध अथवा सन्ताप से मनुष्य शारीरिक और मानसिक उभयविध रोगों से पीड़ित हो जाता है ॥६८॥

रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते
न वै लभन्ते विषयेषु तत्त्वम् ।

दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव
न बुध्यन्ते धनभोगान्न सौख्यम् ॥६९॥

पदार्थ—

रोगार्दिताः—रोग से पीड़ित
न—नहीं
फलानि—फलों (पुत्र-पशु आदि) को
आद्रियन्ते—आदर करते है
न—नहीं
वै—निश्चय से
लभन्ते—प्राप्त होते हैं
विषयेषु—विषयों में
तत्त्वम्—तत्त्व को (इष्ट अनिष्ट को)
दुःखोपेताः—दुःख से युक्त
रोगिणः—रोगी
नित्यम्—सदा
एव—ही
न—नहीं
बुध्यन्ते—जानते हैं
धनभोगान्—धनों और भोगों को
न—नहीं
सौख्यम्—सुख को।

व्याख्या—

रोग से पीड़ित मनुष्य [पुत्र पशु आदि] फलों का भी आदर नहीं करते और न ही विषयों के तत्त्व=इष्ट अनिष्ट स्वरूप को समझते हैं। दुःख से युक्त रोगी नित्य ही धन, और भोगों एवं सुखों को नहीं जानते।

**विशेष**—सन्ताप से मनुष्य व्याधि (=रोग) को प्राप्त होता है। इस लिए इस में व्याधि की निन्दा की है। इस श्लोक का भाव यह है कि रोगी मनुष्य धनवान् होने पर भी धन और उस से प्राप्त होने वाले सुख को नहीं भोग सकता। इसलिए धनवानों के लिए भी आरोग्य=स्वस्थता से बढ़ कर अन्य कोई गुण नहीं है।

धृतराष्ट्र को भी संकेत से कहा है कि तुम भी जागरण और शोक आदि के कारण रोगी हो जाओगे। अतः शोक का तुम्हें परित्याग कर देना चाहिए।

पुरा ह्युक्तं नाकरोस्त्वं वचो मे
द्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्य राजन्।
दुर्योधनं वारयेत्यक्षवत्यां
कितवत्वं पण्डिता वर्जयन्ति ॥७०॥

## पदार्थ—

पुरा—पहले
हि—निश्चय से
उक्तम्—कहा हुआ
न—नहीं
अकरोः—किया
त्वम्—तुमने
वचः—वचन को
मे—मेरे
द्यूते—जुए में
जिताम्—जीती गई
द्रौपदीम्—द्रौपदी को
प्रेक्ष्य—देखकर
राजन्—हे राजन्
दुर्योधनम्—दुर्योधन को
वारय—हटाओ
इति—ऐसा
अक्षवत्याम्—जुए वाली [सभा] में
कितवत्वम्—द्यूत प्रियता को
पण्डिताः—बुद्धिमान्
वर्जयन्ति—छोड़ देते हैं।

## व्याख्या—

हे राजन् ! तुमने जुए वाली सभा में द्यूत में जीती गई द्रौपदी को देख कर मैंने जो वचन कहा था कि "दुर्योधन को [दुष्कर्म से] रोको" उसे नहीं माना। बुद्धिमान् जन द्यूत को छोड़ देते हैं।

**विशेष**----महात्मा विदुर ने कहा है कि तुमने मेरा समय पर कहा युक्त वचन नहीं माना उसी का यह फल है। बुद्धिमान् मनुष्य द्यूत को छोड़ देते हैं, तुमने उसे नहीं छोड़ा=नहीं रोका अतः तुम बुद्धिमान् नहीं हो, यह भी ध्वनित किया है।

न तद् बलं यन्मृदुना विरुध्यते
सूक्ष्मो धर्मस्तरसा सेवितव्यः।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्रीर्
मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥७१॥

## पदार्थ—

न—नहीं
तद्—वह
बलम्—बल है
यत्—जो
मृदुना—मृदु=नरम=सहिष्णु से
विरुध्यते—विरुद्ध होता है।

सूक्ष्मः—गहन
धर्मः—धर्म [का]
तरसा—शीघ्रता से
सेवितव्यः—सेवन किया जाना चाहिए।
प्रध्वंसिनी—नाश करने वाली
क्रूरसमाहिता—क्रूर=दुष्ट के आश्रित
श्रीः—लक्ष्मी=सम्पत्ति
मृदुप्रौढा—सहिष्णु द्वारा बढ़ाई हुई
गच्छति—जाती है
पुत्रपौत्रान्—पुत्र पौत्रों को।

## व्याख्या—

वह बल नहीं होता जो सहिष्णु मृदु=नरम स्वभाव वाले के साथ विरोध करे। गहन धर्म का शीघ्र सेवन करना चाहिए। क्रूर पुरुष के आश्रित हुई लक्ष्मी नाश करने वाली होती है और मृदु=सहिष्णु पुरुष से बढ़ाई गई लक्ष्मी पुत्र पौत्र तक जाती है अर्थात् चिरस्थाई होती है।

**विशेष**—प्रथम चरण में सहिष्णु युधिष्ठिर के साथ विरोध का संकेत है। द्वितीय चरण में धर्म के सेवन में विलम्ब करने का निषेध किया है। तृतीय चरण में दुष्ट-पुरुषाश्रित सम्पत्ति नष्ट हो जाती है, इसका निर्देश है। और चतुर्थ चरण में मृदु पुरुषों द्वारा अर्जित लक्ष्मी चिरस्थायी होती है, इसका कथन है। तात्पर्य यह है कि कौरवों की सम्पत्ति नष्ट हो जाएगी और पाण्डवों की चिरस्थायी रहेगी. यह ध्वनित किया है।

**धार्तराष्ट्राः पाण्डवान् पालयन्तु**
**पाण्डोः सुतास्तव पुत्रांश्च पान्तु।**
**एकारिमित्राः कुरवो ह्येककार्या**
**जीवन्तु राजन् सुखिनः समृद्धाः॥७२॥**

## पदार्थ—

धार्तराष्ट्राः—धृतराष्ट्र के पुत्र [कौरव]
पाण्डवान्—पाण्डु पुत्रों को
पालयन्तु—पालन=रक्षा करें
पाण्डोः—पाण्डु के
सुताः—पुत्र
तव—तुम्हारे
पुत्रान्—पुत्रों को
च—और
पान्तु—रक्षा करें।

एकारिमित्राः—एक=समान ही शत्रु वा मित्र हैं जिनके ऐसे
कुरवः—कुरु कुल के [कौरव और पाण्डव]
हि—निश्चय से
एककार्याः—समान कार्य=प्रयोजन वाले
जीवन्तु—जीवित रहें
राजन्—हे राजन्!
सुखिनः—सुखी
समृद्धाः—बढ़े हुए।

## व्याख्या—

हे राजन्! धार्तराष्ट्र (=तुम्हारे पुत्र) पाण्डवों की पालना करें और पाण्डु के पुत्र तुम्हारे पुत्रों की रक्षा करें। दोनों समान शत्रु एवं समान मित्र और एक प्रयोजन वाले होकर सुखी और समृद्ध होकर चिरकाल तक जीवें।

**विशेष**—कौरव अपने पिता के अधीन होकर पाण्डवों की, जिनके पिता नहीं हैं उनकी पालना करें उनका दायभाग उन्हें देवें और पाण्डव जो शूर वीरता में बढ़े हैं वे कौरवों की रक्षा करें। इस भाव को प्रकट करने के लिए क्रमशः **पालयन्तु** और **पान्तु** क्रियाओं का निर्देश किया है। उत्तरार्ध में मिल कर ही सुख समृद्धि का चिरकाल तक भोग कर सकते हैं, इस का संकेत किया है।

**मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य**
**त्वय्याधीनं कुरुकुलमाजमीढ।**
**पार्थान् बालान् वनवासप्रतप्तान्**
**गोपायस्व स्वं यशस्तात रक्षन्॥७३॥**

## पदार्थ—

मेढीभूतः—निरोध रूप
कौरवाणाम्—कौरवों के
त्वम्—तुम
अद्य—इस समय
त्वयि—तुम्हारे
आधीनं—अधीन
कुरुकुलम्—कुरुओं का कुल
आजमीढ—हे अजमीढ के पुत्र!
पार्थान्—पृथु के पुत्रों को
बालान्—बालकों को
वनवासप्रतप्तान्—वनवास से दुःखी हुओं को

गोपायस्व—रक्षा=पालना करो
त्वम्—अपना
यशः—यश को
तात—भ्रातः !
रक्षन्—रक्षा करते हुए ।

## व्याख्या—

हे अजमीढ के पुत्र भ्रातः धृतराष्ट्र ! तुम इस समय कौरवों के रक्षक हो। कुरुकुल तुम्हारे आधीन है इसलिए तुम अपने यश की रक्षा करते हुए वनवास से दुःखी पृथा=कुन्ती के पुत्रों बालकों की रक्षा=पालना करो।

**विशेष**—जैसे यथेष्ट संचारी पशुओं को मेढ=खेत की मेड़ निरोधक =खेत को बचाने वाली होती है वैसे ही हे धृतराष्ट्र तुम यथेष्ट व्यवहार करने वाले कौरवों—अपने पुत्रों=के लिए निरोधक रूप हो।

**संधत्स्व त्वं कौरव पाण्डुपुत्रैर्**
**मा तेऽन्तरं रिपवः प्रार्थयन्तु ।**
**सत्ये स्थितास्ते नरदेव सर्वे**
**दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेन्द्र ॥७४॥**

## पदार्थ—

सन्धत्स्व—जुड़कर रहो=सन्धि करो
त्वम्—तुम
कौरव—हे कुरुकुल के
पाण्डुपुत्रैः—पाण्डु के पुत्रों के साथ,
मा—मत=नहीं
ते—तुम्हारे
अन्तरम्—भेद को
रिपवः—शत्रु
प्रार्थयन्तु—प्रार्थना करें=चाहें।
सत्ये—सत्य पर
स्थिताः—स्थित=ठहरे हुए
ते—वे
नरदेव—हे राजन् !
सर्वे—सब
दुर्योधनम्—दुर्योधन को
स्थापय—रोको=वश में रखो
त्वम्—तुम
नरेन्द्र—हे राजन् !

**व्याख्या—**

हे धृतराष्ट्र तुम पाण्डुपुत्रों के साथ सन्धिकरो । शत्रु जन तुम्हारे दोनों के मध्य भेद को उत्पन्न न करें । हे राजन् ! वे पाण्डु के पुत्र सत्य पर स्थित हैं । तुम दुर्योधन को वश में रखो ।

इति महाभारत उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार महाभारत के उद्योगपर्व में प्रजागर पर्व नाम के अवान्तर विभाग में विदुरहित-वाक्य में छत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

इति विदुरनीतौ चतुर्थोऽध्यायः

# अथ पञ्चमोऽध्यायः

## विदुर उवाच

सप्तदशेमान् राजेन्द्र मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।
वैचित्रवीर्य पुरुषान् आकाशं मुष्टिभिर्घ्नतः ॥१॥

### पदार्थ—

**विदुर बोले—**

सप्तदश—सत्रह को
इमान्—इन को
राजेन्द्र—राजाओं में श्रेष्ठ !
मनुः—मनु ने
स्वायम्भुवः—स्वयम्भु के पुत्र ने
अब्रवीत्—कहा है—
वैचित्रवीर्य—विचित्रवीर्य के पुत्र !
पुरुषान्—पुरुषों को
आकाशम्—आकाश को
मुष्टिभिः—मुट्ठियों से
घ्नतः—मारते हुओं को

### व्याख्या—

विदुर बोले— हे विचित्रवीर्य के पुत्र राजाओं में श्रेष्ठ ! स्वयम्भु के पुत्र मनु ने इन सत्रह पुरुषों को "आकाश को मुट्ठियों से मारने वाला" अर्थात् मूर्ख कहा है ।

दानवेन्द्रस्य च धनुरनाम्यं नमतोऽब्रवीत् ।
अथो मरीचिनः पादान् अग्राह्यान् गृह्णतस्तथा ॥२॥

### पदार्थ—

दानवेन्द्रस्य—मेघ से उत्पन्न
च—और
धनुः—धनुष को
अनाम्यम्—न झुकाए जाने वाले को

नमतः—झुकाते हुए को
अब्रवीत्—कहा
अथ—और
मरीचिनः—सूर्य चन्द्र आदि के
पादान्—रश्मियों को
अग्राह्यान्—ग्रहण=पकड़ी न जा सकने वालियों को
गृह्णतः—पकड़ने वाले को
तथा—और।

## व्याख्या—

१--मेघों से उत्पन्न न झुकाए जा सकने वाले इन्द्रधनुष को झुकाते हुए को और २--सूर्य चन्द्र आदि की पकड़ी न जा सकने वाली किरणों को पकड़-ने वाले को।

**विशेष**—दानव=[जल] देनेवाले मेघों के=विद्युत् इन्द्र के। मरीचिनः=किरणों वाले सूर्य चन्द्र आदि के। पादान्=पैरों=रश्मियों किरणों को ॥२॥

यश्चाशिष्यं शास्ति वै यश्च तुष्येद्
यश्चातिवेलं भजते द्विषन्तम्।
स्त्रियश्च यो रक्षति भद्रमश्नुते
यश्चायाच्यं याचते कत्थते च ॥ ३ ॥

## पदार्थ—

यः—जो
च—और
अशिष्यम्—शासन न किए जा सकने वाले को
शास्ति—शासन करता है,
यः—जो
च—और
तुष्येत्—सन्तुष्ट होवे,
अतिवेलम्—मर्यादा का अतिक्रमण करके
भजते—सेवन करता है
द्विषन्तम्—द्वेष करने वाले को
स्त्रियः—स्त्रियों को
यः—जो
रक्षति—रक्षा करता है
भद्रम्—कल्याण को
अश्नुते—प्राप्त होता है,
यः—जो
च—और
अयाच्यम्—मांगने के अयोग्य को
याचते—मांगता है
कत्थते—प्रशंसा करता है
च—और।

## व्याख्या—

३—जो शासन करने के अयोग्य [दुर्योधनादि] को शासित करना, ४--जो अल्प लाभ से ही सन्तुष्ट होता है, ५--शत्रु का मर्यादा का अतिक्रमण करके भी सेवन करता है और स्त्रियों की रक्षा करता है [इन दोनों कार्यों से] कल्याण चाहता है, ६--जिस मे माँगना नहीं चाहिए उस से मांगता है और उसकी प्रशंसा करता है ॥३॥

यश्चाभिजातः प्रकरोत्यकार्यं
यश्चाबलो बलिना नित्यवैरी ।
अश्रद्दधानाय च यो ब्रवीति
यश्चाकाम्यं कामयते नरेन्द्र ॥ ४ ॥

## पदार्थ—

यः—जो
च—और
अभिजातः—उत्तम कुल में उत्पन्न
प्रकरोति—करता है
अकार्यम्—न करने योग्य कार्य को,
यः—जो
च—और
अबलः—निर्बल
बलिना—बलवान् के साथ
नित्यवैरी—नित्य वैर वाला [होता है],
अश्रद्दधानाय—श्रद्धा न रखने वाले के लिए
च—और
यः—जो
ब्रवीति—कहता=उपदेश करता है,
यः—जो
च—और
अकाम्यम्—कामना करने के अयोग्य को
कामयते—कामना करता है
नरेन्द्र—हे राजन् !

## व्याख्या—

हे राजन् ! ७--जो उत्तम कुल में उत्पन्न होकर भी न करने योग्य कार्य को करता है, और ८--जो निर्बल होकर भी बलवान् के साथ वैर रखता है, और ९--जो श्रद्धा न रखने वाले को उपदेश देता है, और १०--जो कामना करने के अयोग्य वस्तु की कामना करता है ॥४॥

वध्वावहासं श्वशुरो मन्यते यो
वध्वाऽवसन्नभयो मानकामः ।
परक्षेत्रे निर्वपति स्वबीजं
स्त्रियं च यः परिवदतेऽतिवेलम् ॥ ५ ॥

पदार्थ—

वध्वा—पुत्र वधू के साथ
अवहासम्—परिहास=मजाक को
श्वशुरः—श्वसुर
मन्यते—मानता है [करता है],
यः—जो
वध्वा—वधू के निमित से
अवसन्नभयः—नष्ट भय वाला अर्थात् रक्षित होकर
मानकामः—मान की इच्छा करता है,
परक्षेत्रे—दूसरे के खेत वा स्त्री में
निर्वपति—बोता है
यः—जो
च—और
बीजम्—बीज को वा वीर्य को,
स्त्रियम्—स्त्री को
च—और
यः—जो
परिवदते—निन्दा करता है
अतिवेलम्—मर्यादा का अतिक्रमण करके।

व्याख्या—

११--जो श्वसुर होकर भी पुत्र वधू के साथ मजाक करता है, और १२ जो वधू=भार्या के निमित्त से [उसके माता पिता आदि से] नष्ट भय वाला अर्थात् रक्षित होकर भी मान चाहता है, और १३--जो दूसरे के खेत वा स्त्री में बीज वा वीर्य का वपन करता है, और १४--जो स्त्री की मर्यादा का अतिक्रमण करके निन्दा करता है ॥५॥

यश्चापि लब्धा न स्मरामीति वादी
दत्त्वा च यः कत्थति याच्यमानः ।
यश्चासतः सत्त्वमुपानयीत
एतान् नयन्ति निरयं पाशहस्ताः ॥६॥

पदार्थ—

यः—जो
च—और
अपि—भी
लब्धा—प्राप्त करके

न—नहीं
स्मरामि—स्मरण करता हूँ
इति—ऐसा
वादी—कहने वाला,
दत्वा—देकर
च—और
यः—जो
कत्थति—श्लाघा करता है
याच्यमानः—मांगा गया हुआ,
यः—जो
च—और
असतः—असत् पुरुष के अथवा झूठ के
सत्त्वम्—साधुत्व अथवा सत्यत्व को
उपानयीत—प्राप्त करावे, समर्थन करे,
एतान्—इनको
नयन्ति—ले जाते हैं
निरयम्—नरक को
पाशहस्ताः—हाथ में फन्दा लिये हुए।

## व्याख्या—

१५—जो किसी से धनादि को लेकर भी मुझे स्मरण नहीं ऐसा कहता है, और १६—जो देकर=वचन देकर मांगने पर विना दिये ही आत्मप्रशंसा करता है, और १७—जो असत् पुरुष के श्रेष्ठत्व का अथवा झूठ के सत्यत्व का समर्थन करता है इन १७ प्रकार के लोगों को पाशहस्त यमराज के दूत नरक को प्राप्त कराते हैं।

**विशेष**—यमराज न्याय-व्यवस्थाकारी ईश्वर है और उसके पाशहस्त दूत हैं उसकी व्यवस्थाएं। यहां काव्यमयी भाषा में पाशहस्त दूतों का वर्णन किया है ॥६॥

**यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्**
**तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।**
**मायाचारो मायया वर्तितव्यः**
**साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥ ७ ॥**

## पदार्थ—

यस्मिन्—जिस में=जिसके प्रति
यथा—जैसे
वर्तते—व्यवहार करता है
यः—जो
मनुष्यः—मनुष्य,
तस्मिन्—उसमें=उसके प्रति
यथा—उसी प्रकार
वर्तितव्यम्—व्यवहार करना चाहिए,
सः—वह

धर्मः—धर्म=कर्तव्य है।
मायाचारः—माया से आचरण करने वाला=छली कपटी
मायया—माया से
वर्तितव्यः—व्यवहार करने योग्य होता है।
साध्वाचारः—साधु=उत्तम व्यवहार वाला
साधुना—उत्तम व्यवहार से
प्रत्युपेयः—उपस्थित होने योग्य होता है।

## व्याख्या—

जिसके प्रति जो जैसा व्यवहार करता है उसके साथ वैसा ही करना चाहिए यही धर्म है। मायाचारी=छली कपटी के साथ माया से ही व्यवहार करना चाहिए और साधु व्यवहार करने वाले के साथ साधु व्यवहार ही करना चाहिए।

**विशेष**—यहां विदुर ने दो बातें ध्वनित की हैं १—तुम्हारे पुत्र छली कपटी हैं यदि इनके साथ पाण्डव छल कपट का व्यवहार करें तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता पुनरपि वे साधु व्यवहार ही करते हैं। २—साधु व्यवहार करने वालों के साथ तुम्हें भी साधु व्यवहार ही करना चाहिए

यहाँ जो धर्म बताया है वह जन साधारण का है, विशिष्ट व्यक्तियों का नहीं अर्थात् ब्राह्मण=संन्यासी का धर्म यहाँ नहीं बताया गया ॥७॥

**जरा रूपं हरति धैर्यमाशा**
**मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया।**
**कामो ह्रियं वृत्तमनार्यसेवा**
**क्रोधः श्रियं सर्वमेवाभिमानः ॥ ८ ॥**

## पदार्थ—

जरा—वृद्धावस्था
रूपम्—रूप को
हरति—नष्ट करती है
धैर्यम्—धैर्य का
आशा—आशा
मृत्युः—मौत
प्राणान्—प्राणों=जीवन को
धर्मचर्याम्—धर्माचरण को
असूया—निन्दा (गुणों में दोषारोपण)
कामः—काम
ह्रियम्—लज्जा को
वृत्तम्--सद्व्यवहार को

अनार्यसेवा—दुष्ट पुरुषों का संग,
क्रोधः—क्रोध
श्रियम्—सम्पत्ति को
सर्वम्—सब को
एव—ही
अभिमानः—अभिमान।

## व्याख्या—

वृद्धावस्था रूप को नष्ट करती है, आशा धैर्य का नाश करती है, मृत्यु जीवन को नष्ट करता है, निन्दा=गुणों में दोषारोपण धर्माचरण को नष्ट करता है, काम लज्जा का नाश करता है, अनार्यसेवा=दुष्टों का संग सदाचार को नष्ट करता है, क्रोध सम्पति का नाश करता है और अभिमान सब गुणों नाश कर देता है।

**विशेष**—शास्त्रकारों ने अन्यत्र भी कहा है—**पराभवस्यैतन्मुखं यदतिमानः** (शतपथ) अर्थात् यह अभिमान पराभव का मुख है।

यहां विदुर ने संकेत किया है कि हे राजन् तू अभिमान का त्याग करके पाण्डवों के साथ उचित व्यवहार कर ॥८॥

## धृतराष्ट्र उवाच

**शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा।**
**नाप्नोत्यथ च तत् सर्वमायुः केनेह हेतुना ॥९॥**

## पदार्थ—

**धृतराष्ट्र बोले—**
शतायुः—सौ वर्ष की आयु वाला
उक्तः—कहा गया है
पुरुषः—पुरुष
सर्ववेदेषु—सब वेदों में
वै—निश्चय से
यदा—जब,
न—नहीं
आप्नोति—प्राप्त करता है
अथ च—और
तत्—उस
सर्वम्—सबको
आयुः—आयु को
केन—किस
इह—इस संसार में
हेतुना—हेतु से।

## व्याख्या—

**संगति**—पूर्व ८वें श्लोक में अभिमान को धन सम्पत्ति आयु आदि सब को हरण=नष्ट करने वाला कहा है। यदि मेरे अभिमानी पुत्रों की स्वल्प

आयु ही होगी तो अभिमान छोड़ने पर भी दीर्घायु न होंगे। इसलिए धृत-राष्ट्र ने अगला प्रश्न किया है।

धृतराष्ट्र बोला—जब सब वेदों में पुरुष को सौ वर्ष की आयु वाला कहा गया है, तब वह किस कारण से उस पूर्ण आयु को प्राप्त नहीं करता ?

**विशेष**—संस्कृत भाषा में पूर्ण जीवन काल के लिये, जो कृतकर्मों के अनुसार प्राप्त होता है, आयुः शब्द का व्यवहार होता है और उमर=अवस्था के लिये वयः शब्द का। भारत की उड़िया बंगला आदि कई भाषाओं में यह व्यवहार सुरक्षित है, परन्तु हिन्दी में ऊमर=अवस्था के लिए भी आयुः शब्द का व्यवहार चल पड़ा वह चिन्त्य है ॥९॥

## विदुर उवाच—

**अतिमानोऽतिवादश्च तथाऽत्यागो नराधिप ।**
**क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट् ॥१०॥**

## पदार्थ—

विदुर बोले--

अतिमानः—अभिमान
अतिवादः—बहुत बोलना
च—और
तथा—उसी प्रकार
अत्यागः—त्याग का अभाव
नराधिप—हे राजन् !
क्रोधः—क्रोध
आत्मविधित्सा—आत्म पोषण मात्र की इच्छा
च—और
मित्रद्रोहः—मित्रों के साथ द्रोह
च—और
तानि—वे
षट्—छः।

## व्याख्या—

**विदुर बोले**—हे राजन् ! अति अभिमान, बहुत बोलना, त्याग का अभाव, क्रोध, आत्मपोषण की इच्छा और मित्रद्रोह ये छे वे कारण हैं जिन से पुरुष पूर्ण आयु तक जीवित नहीं रहता।

**विशेष**—अत्याग का अभिप्राय है आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह, जिससे समाज में जीवनोपयोगी द्रव्यों का कृत्रिम अभाव उत्पन्न होता है और संग्रह के लिए मनुष्य असद् उपायों से धन संग्रह करता है। उस से संग्रही पुरुष को पीड़ित पुरुषों की दुराशीः प्राप्त होती है। यहां **अत्यागः** के स्थान पर **अत्याशः** पाठ भी है। उसका अर्थ होगा—अतिभोजन।

आत्मविधित्सा-का अभिप्राय है केवल आत्मपोषण की इच्छा। अपने आश्रित जनों के भरण पोषण की चिन्ता न करके अपने खाने पीने में ही मस्त रहने का स्वभाव। इस का दूसरा विस्तृत भाव है शिश्नोदर-परायणता।१०।

एत एवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम्।
एतानि मानवान् घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते।११॥

पदार्थ—

एते—ये
एव—ही
असयः—तलवारें
तीक्ष्णाः—तेज
कृन्तन्ति—काटती हैं
आयूंषि—आयु को
देहिनाम्—शरीरधारियों की।
एतानि—ये
मानवान्—मनुष्यों को
घ्नन्ति—मारते हैं
न—नहीं
मृत्युः—मृत्यु,
भद्रम्—कल्याण
अस्तु—हो
ते—तुम्हारा।

व्याख्या—

ये [पूर्व श्लोक प्रतिपादित छः] तीक्ष्ण तलवारें ही शरीरधारियों के आयु को काटती हैं ये ही मानवों को मारती हैं. मृत्यु नहीं मारती। [इस लिए हे राजन् तुम अभिमान को छोड़ो] तुम्हारा कल्याण हो ॥११॥

विश्वस्तस्यैति यो दारान् यश्चापि गुरुतल्पगः।
वृषलीपतिर्द्विजो यश्च पानपश्चैव भारत ॥१२॥

आदेशकृद् वृत्तिहन्ता द्विजानां प्रेषकश्च यः।
शरणागतहा चैव सर्वे ब्रह्महणः समाः।
एतैः समेत्य कर्तव्यं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः ॥१३॥

पदार्थ—

विश्वस्तस्य—विश्वासी पुरुष की
एति—प्राप्त होता है
यः—जो
दारान्—स्त्रियों को,
यः—जो
च—और
अपि—भी

गुरुतल्पगः—मान्य पुरुषों की स्त्रियों के साथ गमन करता है,
वृषलीपतिः—वृषली=नीच स्त्री का जो पति है
द्विजः—द्विज
यः—जो
च—और
पानपः—मद्य पीने वाला
च—और
एव—ही
भारत—हे भरत कुल श्रेष्ठ
आदेशकृत्—आदेश करने (=देने) वाला
वृत्तिहन्ता—जीविका नष्ट करने वाला
द्विजानाम्—ब्राह्मणों का
प्रेषकः—प्रेषक (दास्य कर्म में लगाने वाला)
च—और
यः—जो
शरणागतहा—शरणमें आए को मारने वाला
च—और
एव—ही
सर्वे—सब
ब्रह्महणः—ब्रह्महा के
समाः—समान [हैं]।
एतैः—इन के साथ
समेत्य—सम्बन्ध करके
कर्तव्यम्—करना चाहिए
प्रायश्चित्तम्—प्रायश्चित्त
इति—यह
श्रुतिः—वेद की आज्ञा है।

## व्याख्या—

हे भरत कुल श्रेष्ठ ! जो विश्वासी पुरुषों की स्त्रियों को प्राप्त होता है, जो मान्य पुरुषों की स्त्रियों के साथ मैथुन करता है, जो द्विज=ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य नीच स्त्री का पति है अर्थात् नीच स्त्री से सम्बन्ध रखता है, जो शराबी है, जो आदेशकृत्=अधिपति ग्रामादि का स्वामी अपने आधीनों की जीविका को नष्ट करने वाला और ब्राह्मणों को आज्ञा देने वाला और जो शरणागतों की हिंसा करने वाला है ये सब ब्रह्महा [=ब्राह्मण को मारने वाले] के समान हैं। इन सब के साथ संबन्ध रखकर प्रायश्चित्त करना चाहिए, यह वेद की आज्ञा है।

**विशेष**—इस में यह ध्वनित किया है यदि तेरे पुत्र अभिमान आदि के वशीभूत होकर पाण्डवों की वृत्ति=राज्य को छीनते हैं तो तुम्हें उनका संग नहीं करना चाहिए, अन्यथा तुम भी पाप के भागी होवोगे ।।१३।।

गृहीतवाक्यो नयविद् वदान्यः
शेषान्नभोक्ता ह्यविहिंसकश्च ।
नानार्थकृत्याकुलितः कृतज्ञः
सत्यो मृदुः स्वर्गमुपैति विद्वान् ।१४॥

पदार्थ—

गृहीतवाक्यः—ग्रहण किया है वाक्य जिसने (=विद्यावान्)
नयविद्—नीतिज्ञ,
वदान्यः—दाता,
शेषान्नभोक्ता—यज्ञ शेष को खाने वाला,
हि—निश्चय से
अविहिंसकः—हिंसा न करने, वाला,
नानार्थकृत्याकुलितः—अनर्थ= बुरा करके जो दुःखी नहीं है अर्थात् बुरा न करने वाला,
कृतज्ञः—कृत उपकार को मानने वाला
सत्यः—सत्यवादी
मृदुः—नरम स्वभाव वाला
स्वर्गम्—स्वर्ग को
उपैति—प्राप्त होता है
विद्वान्—विद्वान् ।

व्याख्या—

जो विद्यावान्, नीतिज्ञ, दाता, यज्ञशेष=आश्रितजनों को खिलाकर खाने वाला, हिंसा न करने वाला, सत्यवादी, नरम या ऋजु स्वभाव वाला विद्वान् होता है वह स्वर्ग को प्राप्त होता है ।

**विशेष**—इस श्लोक में **गृहीतवाक्यः** के स्थान में **गृहीतवाग्यः** पाठान्तर भी है । इसका अर्थ होगा—मितभाषी अथवा गुरुजनों के वचनों को ग्रहण करने वाला ॥१४॥

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥१५॥

पदार्थ—

सुलभाः—सुगमता से प्राप्त होने वाले
पुरुषः—पुरुष
राजन्—हे राजन् !

सततम्—सदा
प्रियवादिनः—प्रिय बोलने वाले,
अप्रियस्य—प्रिय न लगने वाले
तु—तो
पथ्यस्य—पथ्यरूप=हितकारी
वक्ता—कहने वाला
श्रोता—सुनने वाला
च—और
दुर्लभः—कठिनाई से मिलने वाला [होता है]।

## व्याख्या—

हे राजन्! [संसार में] प्रिय बोलने वाले=चाटुकर पुरुष सुलभता से प्राप्त होते हैं परन्तु अप्रिय लगने वाले पथ्यरूप=हितकारी उचित वचन के कहने वाले और सुनने वाले दोनों दुर्लभ होते हैं ॥१५॥

**यो हि धर्मं समाश्रित्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये।**
**अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥१६॥**

## पदार्थ—

यः—जो
हि—निश्चय से
धर्मम्—धर्म को
समाश्रित्य—सम्यक् प्रकार आश्रय कर करके (=धर्मानुकूल)
हित्वा—छोड़ कर
भर्तुः—भर्ता (=राजा) का
प्रियाप्रिये—प्रिय और अप्रिय को
अप्रियाणि—प्रिय न लगने वाले [वचन]
आह—कहता है
पथ्यानि—पथ्यरूप=हितकारी
तेन—उस पुरुष से
राजा—राजा
सहायवान्—मित्रवान् [होता है]।

## व्याख्या—

जो व्यक्ति भर्ता=राजा के प्रिय और अप्रिय लगने की चिन्ता छोड़कर भी प्रिय न लगने वाले हितकारी वचन कहता है उसी पुरुष से राजा मित्रवान् होता है अर्थात् वह पुरुष वास्तव में राजा का मित्र होता है ॥१६॥

**त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।**
**ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥१७॥**

## पदार्थ—

त्यजेत्—छोड़ देवे
कुलार्थे—कुल के लिए
पुरुषम्—[एक] पुरुष को,
ग्रामस्य—ग्राम के
अर्थे=लिए
कुलम्—कुल को
त्यजेत्—छोड़ देवे,
ग्रामम्—ग्राम को
जनपदस्य—जनपद=प्रदेश के
अर्थे—लिए
आत्मार्थे—आत्मा के लिए
पृथिवीम्—पृथिवी [के राज्य] को
त्यजेत्—छोड़ देवे

## व्याख्या—

मनुष्य को चाहिए कि कुल की उन्नति और सुख शान्ति के लिए एक अहितकारी व्यक्ति को छोड़ देवे उसकी उपेक्षा कर दे, ग्राम की उन्नति व सुख समृद्धि के लिए कुल को छोड़ देवे, प्रदेश के कल्याण के लिए ग्राम को छोड़ देवे और अपनी आत्मा की उन्नति वा सुख समृद्धि के लिए पृथिवी के राज्य को भी छोड़ देवे।

**विशेष**—यह नियम है देश जाति और समाज की सुख शान्ति एवं उन्नति का। जो परिवार का नायक वा राजा इस नियम का आश्रयण नहीं करते वह अपनी हानि तो करते ही हैं अपने कुल ग्राम नगर एवं प्रदेश के दुःख के कारण भी बनते हैं ॥१६॥

**आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि।**
**आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥१८॥**

## पदार्थ—

आपदर्थे—आपत्ति के लिए
धनम्—धन को (की)
रक्षेत्—रक्षा करें
दारान्—स्त्रियों को (की)
रक्षेत्—रक्षा करे
धनैः—धन से
अपि—भी,
आत्मानम्—अपने आप को (की)
सततम्—सदा
रक्षेत्—रक्षा करे
दारैः—स्त्रियों से
अपि—और
धनैः—धनों से
अपि—भी।

## व्याख्या—

मनुष्य को चाहिए कि आपत्ति काल के लिए धन बचाकर रखे, स्त्रियों की रक्षा धन से करे अर्थात् उनकी रक्षा के लिए धन व्यय करना पड़े तो

इसकी चिन्तान करे, और अपने आप की रक्षा सदा स्त्रियों और धनों से करे।

द्यूतमेतत् पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम् ।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥१६॥

पदार्थ—

द्यूतम्—जुआ
एतत्—यह
पुराकल्पे—पुराने समय में
दृष्टम्—देखा गया है
वैरकरम्—वैर उत्पन्न करने वाला
नृणाम्—मनुष्यों का।
तस्मात्—इसलिए
द्यूतम्—जुए को
न—नहीं
सेवेत—सेवन करे
हास्यार्थम्—हंसने=प्रसन्नता के लिए
अपि—भी
बुद्धिमान्—बुद्धिमान् पुरुष।



व्याख्या—

जुआ प्राचीन समय में (जब मानवों में वैर बुद्धि स्वल्प थी तब भी) मनुष्यों में वैर उत्पन्न करने वाला देखा गया है [इस समय, जबकि मानवों में वैर बुद्धि बढ़ी हुई है, के लिए क्या कहना]। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि हंसी मजाक=प्रसन्नता के लिए भी द्यूत का सेवन न करे जुवा न खेले [प्रसन्नता के लिए जुवा खेलते हुए भी प्रायः आपस में कलह उत्पन्न हो जाता है] ॥१६॥

उक्तं मया द्यूतकालेऽपि राजन्
नेदं युक्तं वचनं प्रातिपेय ।
तदौषधं पथ्यमिवातुरस्य
न रोचते तव वैचित्रवीर्य ॥२०॥

पदार्थ—

उक्तम्—कहा था
मया—मैंने
द्यूतकाले—जुए के समय में
अपि—भी
राजन्—हे राजन्!
न—नहीं
इदम्—यह
युक्तम्—युक्त=हितकारी

वचनम्—वचन को
प्रातिपेय—हे प्रतीप के कुल के
तत्—वह
औषधम्—औषध
पथ्यम्—हितकारी
इव—समान
आतुरस्य—रोगी के
न—नहीं
रोचते—अच्छा लगा है
तव—तुम को
वैचित्रवीर्य—हे विचित्रवीर्य के युत्र

## व्याख्या—

हे प्रतीप के कुल के विचित्रवीर्य के पुत्र राजन्! मैंने द्यूत काल में भी कहा था कि "जुवा खेलना बुरा है" तब मुझको मेरा वह हितकारी वचन उसी प्रकार अच्छा नहीं लगा जैसे बीमार को कटु औषध अच्छी नहीं लगती।

काकैरिमांश्चित्रबर्हान् मयूरान्
पराजयेथाः पाण्डवान् धार्तराष्ट्रैः।
हित्वा सिंहान् क्रोष्टुकान् गूहमानः
प्राप्ते काले शोचिता त्वं नरेन्द्र ॥२१॥

## पदार्थ—

काकैः—कौवों से
इमान्—इनको
चित्रबर्हान्—चित्रविचित्र पूंछ वाले
मयूरान्—मोरों को
पराजयेथा—पराजित करना चाहते हो
पाण्डवान्—पाण्डवों को
धार्तराष्ट्रैः—धृतराष्ट्र के पुत्रों से,
हित्वा—छोड़ कर
सिंहान्—सिंहों को
क्रोष्टुकान्—सियारों को (की)
गूहमानः—रक्षा करता हुआ
प्राप्ते—प्राप्त होने पर
काले—समय पर
शोचिता—शोक करने वाले [होवोगे]
त्वम्—तुम।
नरेन्द्र—राजन्

## व्याख्या—

कौवों रूपी कौरवों से विचित्र पूछों वाले [सुन्दर] मोर रूपी पाण्डवों को पराजित करना चाहते हो। हे राजन्! सिंहों (=पाण्डवों) का परित्याग करके सियारों (=कौरवों) की रक्षा करते हुए तुम समय आने पर पछताओगे ॥२१॥

यस्तात न क्रुध्यति सर्वकालं
भृत्यस्य भक्तस्य हिते रतस्य ।
तस्मिन् भृत्या भर्तरि विश्वसन्ति
न चैनमापत्सु परित्यजन्ति ॥२२॥

पदार्थ—

यः—जो
तात—हे भ्रातः !
न—नहीं
क्रुध्यति—क्रोध करता है
सर्वकालम्—सर्व काल में (=सर्वदा)
भृत्यस्य—सेवक के
भक्तस्य—भक्त के
हिते—हित में
रतस्य—लगे हुए के [प्रति]
तस्मिन्—उस में
भृत्याः—सेवक
भर्तरि—स्वामी में
विश्वसन्ति—विश्वास करते हैं,
न—नहीं
च—और
एनम्—इस [स्वामी] को
आपत्सु—विपत्तियों में
परित्यजन्ति—छोड़ते हैं ।

व्याख्या—

हे भ्रातः ! जो स्वामी हित में लगे हुए भक्त सेवक के प्रति सर्वदा क्रोध नहीं करता, उस स्वामी के प्रति सेवक विश्वास करते हैं और आपत्तियों के समय उसका परित्याग नहीं करते ॥२२॥

न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन
राज्यं धनं संजिघृक्षेदपूर्वम् ।
त्यजन्ति ह्येनं वंचिता वै विरुद्धाः
स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः ॥२३॥

पदार्थ—

न—नहीं
भृत्यानाम्—सेवकों के
वृत्तिसंरोधेन—निर्वाह के रोकने से
राज्यम्—राज्य को
धनम्—धन को
संजिघृक्षेत्—ग्रहण करने की इच्छा करे

अपूर्वम्—जो पहले नहीं है अर्थात् दूसरों के
त्यजन्ति—छोड़ देते हैं
हि—निश्चय से
एनम्—इस प्रकार के स्वामी को
वञ्चिता:—[वृत्ति से] रहित किये गये
वै—निश्चय से
विरुद्धा:—विरुद्ध हुए
स्निग्धा:—स्नेह करने वाले
हि—निश्चय से
अमात्या:—मन्त्री आदि
परिहीनभोगा:—निर्वाह से रहित हुए।

## व्याख्या—

सेवकों की वृत्ति=निर्वाह साधन को रोकने से (=रोक कर) दूसरे के राज्य वा धन को ग्रहण करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। ऐसा करने से स्नेह रखने वाले मन्त्री आदि भी भोग=वृत्ति=निर्वाह आदि से रहित हुए विरोधी बन कर निश्चय ही ऐसे (=वृत्ति हरण करने वाले) स्वामी को छोड़ देते हैं ॥२३॥

कृत्यानि पूर्वं परिसंख्याय सर्वा-
ण्यायव्यये चानुरूपां च वृत्तिम्।
संगृह्णीयादनुरूपान् सहायान्
सहायसाध्यानि हि दुष्कराणि ॥२४॥

## पदार्थ—

कृत्यानि—कार्यों को
पूर्वम्—पहिले
परिसंख्याय—गिनती करके (=जानकर)
सर्वाणि—सबको
आय-व्यये—आय और व्यय को
च—और
अनुरूपाम्—अनुरूप=अनुकूल
च—और
वृत्तिम्—निर्वाह योग्य धन को,
संगृहणीयात्—संग्रह करे
अनुरूपान्—अनुकूलों को
सहायान्—सहायकों (=मित्रों) को
सहायसाध्यानि—सहायकों से सिद्ध होने वाले
हि—निश्चय से
दुष्कराणि—कठिनाई से सिद्ध होने वाले।

## व्याख्या—

[सेवकों से कराये जाने वाले] सब कार्यों को पहले जानकर तथा उनके

आय व्यय को जानकर उनके अनुरूप (यथायोग्य) वृत्ति का प्रबन्ध करे और [अपने कार्य के] अनुरूप (=उचित) सहायकों को=मित्रों का संग्रह करे [क्योंकि] दुष्कर=कठिनाई से सिद्ध होने वाले [राज्य-प्रबन्ध आदि] सहायकों से ही सिद्ध होते हैं अर्थात् अकेला राजा कुछ नहीं कर सकता ॥२४॥

अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्तुः
सर्वाणि कार्याणि करोत्यतन्द्री ।
वक्ता हितानामनुरक्त आर्यः
शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोऽनुकम्प्यः ॥२५॥

## पदार्थ—

अभिप्रायम्—अभिप्राय को
यः—जो
विदित्वा—जानकर
तु—तो
भर्तुः—स्वामी के
सर्वाणि—सब को
कार्याणि—कार्यों को
करोति—करता है
अतन्द्री—आलस्य प्रमाद रहित ।
वक्ता—कहने वाला
हितानाम्—हितकारी कार्यों का
अनुरक्तः—अनुकूल=भक्त
आर्यः—श्रेष्ठ
शक्तिज्ञः—अपनी शक्ति को जानने वाला
आत्माइव—आत्मा समान
सः—वह
अनुकम्प्यः—अनुकम्पा=दया के योग्य [है] ।

## व्याख्या—

जो प्रमाद से रहित सेवक स्वामी के अभिप्राय को जानकर ही सब कार्यों को करता है, हितकारी वचनों को कहने वाला है, अनुरक्त=अनुकूल है, श्रेष्ठ है और अपनी शक्ति को जानने वाला है, ऐसा भृत्य अपनी आत्मा के समान अनुकम्पा=दया के योग्य होता है अर्थात् उसके साथ आत्मवत् व्यवहार करना चाहिये ।

**विशेष**—इस वचन के द्वारा महात्मा विदुर धृतराष्ट्र से कहते हैं कि मेरे जैसा हितकारी वक्ता अनुकम्पा योग्य है अर्थात् मेरे वचनों को ग्रहण कर के मुझे अनुगृहीत करो । इससे तुम्हारा कल्याण होगा ।

वाक्यं तु यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः
प्रत्याह यश्चापि नियुज्यमानः ।
प्रज्ञाभिमानी प्रतिकूलवादी
त्याज्यः स तादृक् त्वरयैव भृत्यः ॥२६॥

पदार्थ—

वाक्यम्—वचन को
तु—तो
यः—जो
न—नहीं
आद्रियते—आदर करता है
अनुशिष्टः—आदेश दिया हुआ,
प्रत्याह—प्रत्युत्तर=जवाब
यः—जो
च—और
अपि—भी
नियुज्यमानः—[कार्य में]लगाया गया,
प्रज्ञाभिमानी—[अपनी] बुद्धि का घमण्डी
प्रतिकूलवादी—प्रतिकूल कहने वाला
त्याज्यः—छोड़ने योग्य है
सः—वह
तादृक्—उस प्रकार का
त्वरया—शीघ्रता से
एव—ही
भृत्यः—नौकर।

व्याख्या—

जो नौकर आदेश देने पर (स्वामी के) वचन का आदर (=पालन) नहीं करता, और जो कार्य में नियुक्त किया हुआ उलटा जवाब देता है, ऐसा अपनी बुद्धि के अभिमानी और प्रतिकूल बोलने वाला भृत्य शीघ्रता से (=तत्काल) छोड़ने योग्य होता है ॥२६॥

अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं
सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः ।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं
दूतं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम् ॥२७॥

पदार्थ—

अस्तब्धम्—अभिमान से रहित को
अक्लीबम्—समर्थ को
अदीर्घसूत्रम्—शीघ्र करने वाले को

सानुक्रोशम्—दयावान् को
श्लक्ष्णम्—सुयोग्य को
अहार्यम्—अभेद्य (फोड़ा न जा सकने वाले) को
अन्यैः—दूसरों से
अरोगजातीयम्—स्वस्थ को
उदारवाक्यम्—युक्तियुक्त वचन जिसका है, उस को
दूतम्—दूत को
वदन्ति—कहते हैं
अष्टगुणोपपन्नम्—आठ गुणों से युक्त को।

### व्याख्या—

जो व्यक्ति अभिमान से शून्य, समर्थ, शीघ्र कार्य करने वाला, दयावान्, सुयोग्य, दूसरों से अभेद्य, स्वस्थ और युक्ति-युक्त वचन बोलने वाला है, ऐसे आठ गुणों से युक्त को दूत कहते हैं अर्थात् उक्त आठ गुणों से युक्त पुरुष को दूत बनाना चाहिए ॥२७॥

न विश्वासाज्जातु परस्य गेहे
गच्छेन्नरश्चेतयानो विकाले।
न चत्वरे निशि तिष्ठेन्निगूढो
न राजकाम्यां योषितं प्रार्थयीत ॥२८॥

### पदार्थ—

न—नहीं
विश्वासात्—विश्वास से
जातु—कभी भी
परस्य—अन्य के
गेहे—घर में
गच्छेत्—जाये
नरः—पुरुष
अचेतयानः—मूर्ख
विकाले—असमय में,
न—नहीं
चत्वरे—चौराहे पर
निशि—रात में
तिष्ठेत्—ठहरे
निगूढः—छिप कर
न—नहीं
राजकाम्याम्—राजा से इच्छित
योषितम्—स्त्री को
प्रार्थयीत—प्रार्थना करे=चाहे।

### व्याख्या—

मूर्ख बनकर असमय में अन्य के घर में विश्वास पूर्वक न जाए, रात में चौराहे पर छिपकर न ठहरे, और राजा से इच्छित स्त्री को न चाहे ॥२८॥

न निह्नवं मन्त्रगतस्य गच्छेत्
संसृष्टमन्त्रस्य कुसङ्गतस्य ।
न च ब्रूयान्नाश्वसिमि त्वयीति
सकारणं व्यपदेशं तु कुर्यात् ॥२६॥

पदार्थ—

न—नहीं
निह्नवम्—दबने को
मन्त्रगतस्य—विचार को प्राप्त हुए का
गच्छेत्—प्राप्त होवे
संसृष्टमन्त्रस्य—बहुविध विचार वाले का
कुसंगतस्य—बुरी संगत वाले का
न—नहीं,
च—और
ब्रूयात्—कहे
नाश्वसिमि—विश्वास नहीं करता
त्वयि—तुझ में
इति—ऐसा,
सकारणम्—कारण सहित
व्यपदेशम्—कथन=बहाना
तु—तो
कुर्यात्—करे ।

व्याख्या—

बहुत मन्त्रियों से किये गये मिश्रित मन्त्र=विचार को प्राप्त हुए और बुरी संगतिवाले (राजा=धृतराष्ट्र) के निह्नव (=दबना) को प्राप्त न होवे और ना ही 'तुझ में विश्वास नहीं करता' ऐसा कहे, परन्तु [समय पर] सकारण[=मुझे कुछ कार्य है, ऐसा] बहाना करके [उस मन्त्र=विचार से] पृथक् हो जावे ॥२६॥

घृणी राजा पुँश्चली राजभृत्यः
पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा ।
सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव
व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते ॥३०॥

पदार्थ—

घृणी—लज्जावान्
राजा—राजा,
पुंश्चली—वेश्या,
राजभृत्यः—राज सेवक,

पुत्रः—पुत्र,
भ्राता=भाई,
विधवा—विधवा
वालपुत्रा—छोटे बच्चों वाली,
सेनाजीवी—सेना में रह कर जीविका करने वाला (सैनिक)
च—और
उद्धृतभूतिः—सम्पति=ऐश्वर्य से हटाया गया (=निराकृत अधिकारी)
एव—ही
व्यवहारेषु—व्यवहारों में
वर्जनीयाः—छोड़ने योग्य
स्युः—होवें
एते—ये ।

## व्याख्या—

लज्जावान् राजा [जो लोकापवाद से अधर्मियों को दण्ड न दे सके], वैश्या, राजसेवक, पुत्र, भाई, छोटे बच्चों वाली विधवा, सेनाजीवी (=सैनिक) और अधिकार से हटाया गया, ये व्यक्ति राज्य आदि व्यवहारों में छोड़ने योग्य होते हैं ।

**विशेष**—नीलकण्ठ ने घृणी=लज्जावान् को राजा का विशेषण न मान कर स्वतन्त्र रूप से वर्जनीय माना है । व्यवहार का अर्थ लेन-देन रूप धन-दान आदि किया है ।

'घृणी' का अर्थ घृणा=नफरत करने वाला नहीं है । महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में घृणा का अर्थ लज्जा किया जाता है और इसे प्रायः धर्म के लक्षणों में और घृणी लज्जावान् की सत्पुरुषों में गिना जाता है ॥३०॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च श्रुतं दमश्च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥३१॥

यह श्लोक पूर्व अ० १।१०४ तथा ३।५२ में आ चुका है । पूर्वार्ध के अन्त के श्रुतं दमश्च पदों में पूर्वापर क्रम भेद-मात्र है ॥३१॥

एतान् गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं
सर्वान् गुणानेष गुणो बिभर्ति ॥३२॥

यह श्लोक पूर्व अ० ३।५३ में आ चुका है। अर्थ वहीं देखें ॥३२॥

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते
बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च
श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥३३॥

पदार्थ—

गुणाः—गुण
दश—दस
स्नानशीलम्—स्नान के स्वभाव वाले को
भजन्ते—प्राप्त होते हैं
बलम्—बल
रूपम्—रूप
स्वरवर्णप्रशुद्धिः—ध्वनि की मधुरता और अकारादि वर्णों का विस्पष्ट उच्चारण
स्पर्शः—स्पर्श का यथावत् ज्ञान
च—और
गन्धः—गन्ध (=दुर्गन्ध का अभाव)
च—और
विशुद्धता—शुद्धता
च—और
श्रीः—कान्ति
सौकुमार्यम्—कोमलता
प्रवराः—उत्तम
च—और
नार्यः—स्त्रियां।

व्याख्या—

स्नानशील=नित्य स्नान करने वाले को बल, रूप, ध्वनि की मधुरता, वर्णों का विस्पष्ट उच्चारण, स्पर्श का यथार्थ ज्ञान, गन्ध, (=दुर्गन्ध का अभाव), शुद्धता, शरीर की कान्ति, कोमलता और उत्तम स्त्रियां, ये दश गुण प्राप्त होते हैं।

विशेष—इस में नित्य यथोचित रूप से स्नान के गुण बताये हैं। स्नान न करने वाले को इसके विपरीत दुर्गुण प्राप्त होते हैं ॥३३॥

गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजन्ते
आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च।

अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं
न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ॥३४॥

पदार्थ—

गुणाः—गुण
च—और
षट्—छः
मितभुक्तम्—परिमित खाने वाले को
भजन्ते—प्राप्त होते हैं
आरोग्यम्—स्वस्थता
आयुः—दीर्घ जीवन
च—और
वलम्—वल
सुखम्—सुख
च—और
अनाविलम्—दोष रहित=श्रेष्ठ
च—और
अस्य—इसका
भवति—होता है
अपत्यम्—पुत्र
न—नहीं
च—और
एनम्—इसको
आद्यून—पेटू
इति—ऐसा
क्षिपन्ति—निन्दा करते हैं।

व्याख्या—

परिमित भोजन करने वाले को छः गुण प्राप्त होते हैं—आरोग्य=स्वस्थता, दीर्घायु, बल, सुख, उत्तम प्रजा और इसकी आद्यून=पेटू इस प्रकार निन्दा नहीं होती ॥३४॥

अकर्मशीलं च महाशनं च
लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम्।
अदेशकालज्ञमनिष्टवेषम्
एतान् गृहे न प्रतिवासयेत ॥३५॥

पदार्थ—

अकर्मशीलम्—आलसी को
च—और
महाशनम्—अधिक खाने वाले (=पेटू) को,
च—और
लोकद्विष्टम्—लोक से निन्दित को,
बहुमायम्—बहुत माया करने वाले को
नृशंसम्—दुष्ट को

अदेशकालज्ञम्—देश काल को न जानने वाले को
अनिष्टवेषम्—निन्दित वस्त्र धारण करने वाले को,
एतान्—इन को
गृहे—घर में
न—नहीं
प्रतिवासयेत—वसाये ।

## व्याख्या—

आलसी, अधिक खाने वाला (=पेटू), लोक से निन्दित, मायावी=कपटी, दुष्ट, देश काल को न जानने वाला और निन्दित वेषधारी, इन व्यक्तियों को घर में आश्रय न देवे ॥३५॥

**कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च**
**वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम् ।**
**निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्नम्**
**एतान् भृशार्तोऽपि न जातु याचेत् ॥३६॥**

## पदार्थ—

कदर्यम्—कंजूस को
आक्रोशकम्—गाली देने वाले को
अश्रुतम्—मूर्ख को
च—और
वनौकसम्—जंगली को
धूर्तम्—धूर्त (=जुआरी) को
अमान्यमानिनम्—आदर के अयोग्य को आदर देने वाले को
निष्ठूरिणम्—निर्दयी को
कृतवैरम्—जिसने शत्रुता कर रखी है, उस को
कृतघ्नम्—कृतघ्नी को,
एतान्—इन को
भृशार्तः—अत्यधिक दु.खी हुआ
अपि—भी
न—नहीं
जातु—कभी
याचेत्—याचना करे, मांगे

## व्याख्या—

कंजूस, गाली देने वाला, मूर्ख, जंगली, धूर्त=जुआरी, अमान्य को मान देनेवाला, निर्दयी और वैरी, इन व्यक्तियों से अत्यन्त दु:खी हुआ भी कभी कुछ न मांगे ॥३६॥

संक्लिष्टकर्माणमतिप्रमादं
नित्यानृतं चादृढभक्तिकं च ।
विसृष्टरागं पटुमानिनं चा-
प्येतान् न सेवेत नराधमान् षट् ॥३७॥

पदार्थ—

संक्लिष्टकर्माणम्—अत्यन्त कठोर कर्म करने वालों (= आततायी) को
अतिप्रमादम्—सदा प्रमादी को
नित्यानृतम्—सदा झूठ बोलने वाले को
च—और
अदृभक्तिकम्—जिस की भक्ति दृढ़ नहीं है उसको
च—और
निसृष्टरागम्—जिसने स्नेह छोड़ दिया है उस को
पटुमानिनम्—अपने को चतुर मानने वाले को,
च—और
अपि—भी
एतान्—इन को
न—नहीं
सेवेत—सेवन करे (=संग करे)
नराधमान्—नीच पुरुषों को
षट्—छः को ।

व्याख्या—

आततायी, अतिप्रमादी, सदा झूठा, अदृढभक्ति वाला, नष्ट स्नेह वाला और अपने को चतुर मानने वाला, इन छः नीच पुरुषों का संग न करे ।

**विशेष**—संक्लिष्टकर्मा=अत्यन्त कठोर (=निर्दय) कर्म करने वाला अर्थात् आततायी । स्मृतिकारों ने छः आततायी गिनाये हैं—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेत आततायिनः ॥

अग्नि से घर आदि का जलाने वाला, विष देने वाला, मारने के लिए हाथ में शस्त्र लिया हुआ, धन का अपहरण (चुराना—लूटना) करने वाला और खेत तथा भार्या का अपहरण करने वाला, ये छः आततायी होते हैं ।

इन आततायियों के लिए मनु ने कहा है—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥८।३५०॥

अर्थात्—गुरु, बालक वृद्ध, महाविद्वान् ब्राह्मण कोई भी आततायी हो तो उसे विना विचारे मार डाले। अर्थात् आततायी को मारने में कोई दोष नहीं है।

सहायबन्धना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थबन्धनाः ।
अन्योन्यबन्धनावेतौ विनान्योन्यं न सिध्यतः ॥३८॥

पदार्थ—

सहायबन्धनाः—सहाय=मित्र हैं बान्धने वाले जिन के [ऐसे]
हि—निश्चय से
अर्थाः—अर्थ राज्य सम्पत्ति आदि
सहायाः—मित्र
अर्थबन्धनाः—अर्थ हैं बांधने वाले जिन के।
अन्योऽन्यबन्धनौ—एक दूसरे के बांधने वाले [हैं]
एतौ—ये दोनों
विना=विना
अन्योऽन्यम्—एक दूसरे के
न—नहीं
सिध्यतः—सिद्ध होते हैं।

व्याख्या—

मित्रों को बांधने वाले अर्थ होते हैं और अर्थों के बांधने वाले मित्र ये दोनों एक दूसरे के बांधने वाले हैं। इस लिये एक दूसरे के विना ये सिद्ध नहीं होते। अर्थात् मित्रों की सहायता के विना राज्य आदि अर्थ सिद्ध नहीं होते और अर्थ की सहायता के विना मित्रों की उपलब्धि नहीं होती।

विशेष—टीकाकार नील कण्ठ के मतानुसार यहां विदुर का अभिप्राय है कि हे धृतराष्ट्र अपने निर्गुण एवं दुष्ट पुत्रों के पक्षपात से सगुण पाण्डवों का परित्याग मत कर और सब की एकमति से अपने अभ्युदय—राज्य आदि को सिद्ध कर ॥३८॥

उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा ।
वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय कांचित् ।
स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा
अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत् ॥३९॥

## पदार्थ—

उत्पाद्य—उत्पन्न करके
पुत्रान्—पुत्रों को
अनृणान्—ऋण रहित
च—और
कृत्वा—करके
वृत्तिम्—निर्वाह साधन
च—और
तेभ्यः—उन के लिये
अनुविधाय—उत्पन्न करके=व्यवस्था करके
काञ्चित्—किसी
स्थाने—उचित स्थान में (उचित वर को)
कुमारीः—कन्याओं को
प्रतिपाद्य—देकर
सर्वाः—सबको,
अरण्यसंस्थः—वन में रहने वाला [होकर]
अथ—अनन्तर
मुनिः—मुनि—तपस्वी
बुभूषेत्—होने की इच्छा करे।

## व्याख्या—

पुत्रों को उत्पन्न करके, उन्हें अनृणी=ऋण रहित करके और उन के लिये किसी निर्वाह साधन की व्यवस्था करके, कन्याओं को उचित वर को देकर अरण्य में रहने वाला अर्थात् वानप्रस्थी होकर मुनि तपस्वी होने की इच्छा करे।

**विशेष**—इस से विदुर महात्मा ने संकेत किया है कि हे धृतराष्ट्र अब तुम वानप्रस्थी बनने के योग्य हो अतः पुत्रादि का परित्याग करके वन में जाकर मुनि=तपस्वी बनने का प्रयत्न करो ॥३९॥

**हितं यत् सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम्।**
**तत् कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ॥४०॥**

## पदार्थ—

हितम्—हितकारी
यत्—जो
सर्वभूतानाम्—सब भूतों के लिये
आत्मनः—अपने लिये
च—और
सुखावहम्—सुख को प्राप्त कराने वाला [है]
तत्—उस को
कुर्यात्—करे, करना चाहिये
ईश्वरे—[कालान्तर में फल देने में] समर्थ ईश्वर के विषय में
हि—निश्चय से
एतत्—यह

मूलम्—मूल है,

सर्वार्थसिद्धये—सब अर्थों की सिद्धि के लिये।

### व्याख्या—

जो कर्म सब प्राणियों के लिए हितकारी है और जो अपने लिये भी सुख को प्राप्त कराने वाला है उस स्व-पर-हित साधक कर्म का आचरण करना चाहिये। कालान्तर में फल देने वाले परमात्मा के फल देने में भी यही स्व-पर-हिताचरण मूल है और इसी से सब अर्थों=धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूपी चारों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है।

**वृद्धिः प्रभावस्तेजश्च सत्त्वमुत्थानमेव च।**
**व्यवसायश्च यस्य स्यात् तस्यावृत्तिभयं कुतः ॥४१॥**

### पदार्थ—

वृद्धिः—[धन आदि की] वृद्धि
प्रभावः—प्रभाव
तेजः—शूरता
च—और
सत्त्वम्—सात्विकता=धर्म विषयक वृत्ति
उत्थानम्—प्रयत्न
एव—ही
च—और

व्यवसाय—निश्चय
च—और
यस्य—जिसका
स्यात्—होवे
तस्य—उस के लिये
अवृत्तिभयम्—निर्वाह साधन के न होने का भय
कुतः=कहां से [हो]।

### व्याख्या—

जिस पुरुष की वृद्धि=सहायकों की सहायता से धन की प्रचुरता, प्रभाव =अन्यों पर श्रेष्ठत्व की छाप लगाने वाला गुण, तेज=तेजस्विता, सत्त्व धर्मादि विषयक सात्त्विक वृत्ति, उत्थान=उद्यम और व्यवसाय=निश्चय [की दृढ़ता] आदि हों उस को निर्वाह साधन के न होने का भय कहां से हो सकता है। अर्थात् इन गुणों से युक्त व्यक्ति अपनी बुद्धि एवं भुजबल से सर्वत्र सदा निर्वाह करने में समर्थ होता है।

**विशेष**—इस श्लोक में **वृद्धि** के स्थान में **बुद्धि** पाठ भी मिलता है ॥४१॥

पश्य दोषान् पाण्डवैर्विग्रहे त्वं
यत्र व्यथेयुरपि देवाः सशक्राः ।
पुत्रैर्वैरं नित्यमुद्विग्नवासो
यशःप्रणाशो द्विषतां च हर्षः ॥४२॥

पदार्थ—

पश्य—देखो
दोषान्—दोषों को
पाण्डवैः—पाण्डवों के साथ
विग्रहे—कलह (युद्ध) में
त्वम्—तुम,
यत्र—जिस विषय में
व्यथेयुः—पीड़ा को प्राप्त होवें
अपि—भी
देवाः—देव लोग
सशक्राः—इन्द्र से युक्त,
पुत्रैः—पुत्रों के साथ
वैरम्—वैर (झगड़ा युद्ध)
नित्यम्—सर्वदा
उद्विग्नवासः—उद्विग्नता (=मानसिक व्यथा) का वास करने वाला
यशःप्रणाशः—यश का नाश करने वाला
च—और
द्विषतः—शत्रुओं को
हर्षः=प्रसन्नता [कराने वाला होता है]।

व्याख्या—

हे धृतराष्ट्र ! पाण्डवों के साथ कलह युद्ध में जो दोष हैं उन को देखो उन पर विचार करो, [जिन पाण्डवों के साथ] युद्ध में इन्द्र सहित देव गण भी पीड़ित होते हैं। पुत्रों के साथ नित्य का कलह मानसिक व्यथा=पीड़ा को उत्पन्न करने वाला, यश का नाश करने वाला और शत्रुओं को हर्षित करने वाला होता है ॥४२॥

भीष्मस्य कोपस्तव चैवेन्द्रकल्प
द्रोणस्य राज्ञश्च युधिष्ठिरस्य ।
उत्सादयेल्लोकमिमं प्रवृद्धः
श्वेतो ग्रहस्तिर्यगिवापतन् खे ॥४३॥

## पदार्थ—

भीष्मस्य—भीष्म का
कोपः—क्रोध
तव—तुम्हारा
च—और
इन्द्रकल्प—इन्द्र के तुल्य
द्रोणस्य—द्रोण का
राज्ञः—राजा का
च—और
युधिष्ठिरस्य—युधिष्ठिर का
उत्सादयेत्—नष्ट कर दे
लोकम्—संसार को
इमम्—इसको
प्रवृद्धः—वढ़ा हुआ
श्वेतः—श्वेत
ग्रहः—ग्रह (धूम केतु)
तिर्यंग्—तिरछी गति से
इव—जैसे
आपतन्—गिरता हुआ गति करता हुआ
खे—आकाश में ।

## व्याख्या—

हे इन्द्रतुल्य धृतराष्ट्र ! भीष्म, द्रोण राजा युधिष्ठिर और तुम्हारा बढ़ा हुआ कोप इस संसार को उसी प्रकार नष्ट कर सकता है जैसे तिरछी गति से चलने वाला श्वेतग्रह=धूम केतु संसार का नाशक होता हैं ।

**विशेष**—उत्पातविद्या के अनुसार धूमकेतु का उदय संसार के लिये भयप्रद माना गया हैं ।।४३।।

**तव पुत्रशतं चैव कर्णः पञ्च च पाण्डवाः ।**
**पृथिवीमनुशासेयुरखिलां सागराम्बराम् ।।४४।।**

## पदार्थ—

तव—तुम्हारे
पुत्रशतम्—सौ पुत्र
च—और
एव—ही
कर्णः—कर्ण
पञ्च—पांच
च—और
पाण्डवाः—पाण्डु पुत्र
पृथिवीम्—पृथिवी को
अनुशासेयुः—अनुशासित करे
अखिलाम्—सम्पूर्ण को
सागराम्बराम्—सागर और आकाश सहित को ।

## व्याख्या—

हे धृतराष्ट्र ! तुम्हारे १०० पुत्र, कर्ण और पांच पाण्डु के पुत्र मिल कर समुद्र और आकाश सहित सम्पूर्ण पृथिवी का शासन करने में समर्थ हैं ।।४४।।

धार्तराष्ट्रा वनं राजन् व्याघ्राः पाण्डुसुता मताः ।
मा वनं छिन्धि सव्याघ्रं मा व्याघ्रा नीनशन् वनात् ।४५।
न स्याद्वनमृते व्याघ्रान् व्याघ्रा न स्युर्ऋते वनम् ।
वनं हि रक्ष्यते व्याघ्रैर्व्याघ्रान् रक्षति काननम् ॥४६॥

## पदार्थ—

धार्तराष्ट्राः—धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव
वनम्—वन [तुल्य]
राजन्—हे राजन्
व्याघ्राः—व्याघ्र [समान]
पाण्डुसुताः—पाण्डु पुत्र=पाण्डव
मताः—माने गये हैं,
मा—मत
वनम्—वन को
छिन्धि—काटो
सव्याघ्रम्—व्याघ्र सहित को
मा—नहीं
व्याघ्राः—व्याघ्र
नीनशन्—नष्ट होवें
वनात्—वन से ।
न—नहीं
स्यात्—होवे
वनम्—वन
ऋते—विना
व्याघ्रात्—व्याघ्र के,
व्याघ्राः—व्याघ्र
न—नहीं
स्युः—होवें
ऋते—विना
वनम्—वन के,
वनम्—वन
हि—निश्चय से
रक्ष्यते—रक्षित होता है
व्याघ्रैः—व्याघ्रों से
व्याघ्रान्—व्याघ्रों की
रक्षति—रक्षा करता है
काननम्—वन ।

## व्याख्या—

हे राजन्—तुम्हारे पुत्र दुर्योधनादि वन के तुल्य हैं और पाण्डु पुत्र युधिष्ठिरादि व्याघ्र के तुल्य । अतः व्याघ्र सहित वन [रूप कौरवों] को नष्ट मत करो और न वन से व्याघ्र [रूप पाण्डवों] को । क्योंकि व्याघ्रों के विना वन नहीं रहता और वन के विना व्याघ्र नहीं रहते । वन की रक्षा व्याघ्रों से होती है और व्याघ्रों की रक्षा वन से, अर्थात् वन व्याघ्र रूप कौरव तथा पाण्डव मिल कर एक दूसरे की रक्षा करें ॥४५, ४६॥

**न तथेच्छन्ति कल्याणान् परेषां वेदितुं गुणान् ।**
**यथैषां ज्ञातुमिच्छन्ति नैर्गुण्यं पापचेतसः ॥४७॥**

**पदार्थ—**

| | |
|---|---|
| न—नहीं | यथा—जैसे |
| तथा—वैसा | एषाम्—इन का |
| इच्छन्ति—चाहते हैं | ज्ञातुम्—जानने को |
| कल्याणान्—उत्तम | इच्छन्ति—चाहते हैं |
| परेषाम्—दूसरों के | नैर्गुण्यम्—गुण रहितता अथवा दोषों को |
| वेदितुम्—जानने को | पापचेतसः—बुरी वृत्ति वाले । |
| गुणान्—गुंणों को, | |

**व्याख्या—**

दुर्जन लोग दूसरों के उत्तम गुणों को जानने की वैसी इच्छा नहीं करते जैसी उनके दुर्गुणों को जानने की इच्छा करते हैं।

**विशेष**—संस्कृत के अन्य कवि ने भी कहा है—

**सर्वाङ्गसुन्दरे वपुषि व्रणमेवावेक्षयति मक्षिकानिचयः ।**

अर्थात् सर्वाङ्ग सुन्दर शरीर में भी मक्खियां व्रण=घाव=गन्दा स्थान ही ढूंढती हैं ॥४७॥

**अर्थसिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत् ।**
**न हि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम् ॥४८॥**

**पदार्थ—**

| | |
|---|---|
| अर्थसिद्धिम्—अर्थ [पुरुषार्थ चतुष्टय] की सिद्धि को | न—नहीं |
| | हि—निश्चय से |
| पराम्—उत्तम को | धर्मात्—धर्म से |
| इच्छन्—चाहता हुआ | अपैति—दूर होता हैं |
| धर्मम्—धर्म को (का) | अर्थः—अर्थ |
| एव—ही | स्वर्गलोकात्—स्वर्गलोक से |
| आदितः—पहिले | इव—जसे |
| चरेत्—आचरण को, | अमृतम्—अमृत । |

## व्याख्या—

उत्तम अर्थ [=धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय] को चाहता हुआ पहले धर्म का ही आचरण करे, क्योंकि धर्म से अर्थ कभी अलग नहीं होता, जैसे स्वर्ग से अमृत पृथक् नहीं होता।

**विशेष**—आधिदैविक जगत् में स्वर्ग-सूर्यलोक और अमृत नाम सोम का है। सूर्य में अमृत=सोम सदा विद्यमान रहता है। वेद में भी कहा है—**सोमो गौरी अधि श्रितः** (अथर्व काण्ड १४) सोम सूर्य में रहता है। वही सूर्यलोकस्थ अमृत=सोम रश्मियों के द्वारा भूमण्डल तक पहुंच कर प्राणी अप्राणी जगत् को पुष्ट करता है।

**यस्यात्मा विरतः पापात् कल्याणे च निवेशितः।**
**तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ॥४९॥**

## पदार्थ—

यस्य—जिसका
आत्मा—आत्मा (या चित्त)
विरतः—पृथक् है
पापात्—पाप से
कल्याणे—शुभ [कर्म] में
च—और
निवेशितः—लगाया हुआ है।
तेन—उसने
सर्वम्—सब कुछ को
इदम्—इसको
बुद्धम्—जाना है
प्रकृतिः—सत्त्व-रज-तम की साम्यावस्था
विकृतिः—महान् से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त
च—और
या—जो।

## व्याख्या—

जिस पुरुष का आत्मा या चित्त पापकर्म से पृथक् है और शुभकर्म में प्रवृत्त है, उसने प्रकृति और विकृति रूप समस्त संसार को जान लिया है [ऐसा समझना चाहिये] ॥४९॥

**यो धर्ममर्थं कामं च यथाकालं निषेवते।**
**धर्मार्थकामसंयोगं सोऽमुत्रेह च विन्दति ॥५०॥**

## पदार्थ—

यः—जो
धर्मम्—धर्म को
अर्थम्—अर्थ को
कामम्—काम को
च—और
यथाकालम्—समयानुसार
निषेवते—सेवन करता है,
धर्मार्थकामसंयोगम्—धर्म अर्थ और काम के संयोग को
सः—वह
अमुत्र—परलोक (=परजन्म) में
इह—इस लोक (=इस जन्म) में
च—और
विन्दति—प्राप्त करता है।

## व्याख्या—

जो पुरुष धर्म-अर्थ-काम इन तीनों को यथाकाल=समयानुसार सेवन करता है वह इस जन्म और पर जन्म में धर्म-अर्थ-काम के संयोग को प्राप्त होता है।

**विशेष**—इस श्लोक में यह बताया गया है कि धर्म, अर्थ और काम ये तीनों विरोधी नहीं हैं, एक दूसरे के पूरक हैं, परन्तु इनका सेवन यथाकाल नियम से करने से लाभ होता है अन्यथा हानि होती हैं ।।५०।।

**संनियच्छति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः ।**
**स श्रियो भाजनं राजन् यश्चापत्सु न मुह्यति ।।५१।।**

## पदार्थ—

सन्नियच्छति—[ज्ञान पूर्वक] नियमन करता है=रोकता है
यः—जो
वेगम्—वेग को
क्रोधहर्षयोः—क्रोध और हर्ष के,
सः—वह
श्रियः—श्री=सम्पत्ति का
भाजनम्—पात्र [होता है]
राजन्—हे राजन् !
यः—जो
च—और
आपत्सु—विपत्तियों में
न—नहीं
मुह्यति—मोह को प्राप्त होता है।

## व्याख्या—

हे राजन् ! जो पुरुष क्रोध और हर्ष के उठे हुए वेग को ज्ञानपूर्वक रोकता है और आपत्तियां आने पर जो मोह को प्राप्त नहीं होता, घबराता

नहीं है वही पुरुष लक्ष्मी—सम्पत्ति का पात्र होता है अर्थात् ऐसे पुरुष को ही सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥५१॥

**बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे ।**
**यत्तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ॥५२॥**

### पदार्थ—

बलम्—बल
पञ्चविधम्—पांच प्रकार का
नित्यम्—सर्वदा
पुरुषाणाम्—पुरुषों का है,
निबोध—जानो
मे—मुझ से ।
यत्—जो
बाहुबलम्—बाहु का (शारीरीक) बल,
नाम—प्रसिद्ध
कनिष्ठम्—सबसे लघु=हीन
बलम्—बल
उच्यते—कहा जाता है ।

### व्याख्या—

हे राजन् ! पुरुषों का पांच प्रकार का बल होता है उसे मुझ से सुनो । इनमें बाहुबल अर्थात् जो शारीरिक बल है वह सबसे लघु=हीन कहा जाता है ॥५२॥

**विशेष**—इस श्लोक में मे पद मत् के अर्थ में अर्थात् पञ्चमी के अर्थ में चतुर्थी का रूप है ।

**अमात्यलाभो भद्रं ये द्वितीयं बलमुच्यते ।**
**तृतीयं धनलाभं तु बलमाहुर्मनीषिणः ॥५३॥**

### पदार्थ—

अमात्यलाभः—मन्त्री का प्राप्त होना
भद्रम्—कल्याण
ते—तुम्हारा
द्वितीयम्—दूसरा
बलम्—बल
उच्यते—कहा जाता है,
तृतीयम्—तीसरा
धनलाभम्—धन प्राप्ति को
तु—तो
बलम्—बल को
आहुः—कहा है
मनीषिणः—मनीषियों ने ।

### व्याख्या—

दूसरा बल श्रेष्ठ अमात्य की प्राप्ति कहा जाता है और तीसरा बल धन की प्राप्ति को मनीषियों ने बताया है ॥५३॥

**यत्त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम् ।**
**अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ॥५४॥**

### पदार्थ—

यत्—जो
तु—तो
अस्य—इसका
सहजम्—स्वाभाविक
राजन्—हे राजन् !
पितृपैतामहम्—पिता पितामह रूप
बलम्—बल,
अभिजातबलम्—अभिजात=कुल का बल
नाम—नाम
तत्—वह
चतुर्थम्—चौथा
बलम्—बल
स्मृतम्—स्मरण किया गया है, माना गया है ।

### व्याख्या—

हे राजन् ! जो इस पुरुष का पिता पितामह सम्बन्धी स्वाभाविक बल है वह अभिजात=कुल-बल कहाता है । वह चौथा बल है ॥५४॥

**येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत ।**
**यद् बलानां बलं श्रेष्ठं तत् प्रज्ञाबलमुच्यते ॥५५॥**

### पदार्थ—

येन—जिसने
तु—तो
एतानि—ये
सर्वाणि—सब
संगृहीतानि—संगृहीत किये हैं
भारत—हे भरत कुलोत्पन्न
यत्—जो
बलानाम्—बलों में
बलम्—बल
श्रेष्ठम्—श्रेष्ठ है
तत्—वह
प्रज्ञाबलम्—बुद्धि का बल
उच्यते—कहा जाता है ।

### व्याख्या—

हे भरत कुलोत्पन्न राजन् ! जिस बल ने इन सब बलों को संगृहीत किया हुआ है, और जो सब में श्रेष्ठ है, वह प्रज्ञा=बुद्धि का बल कहाता है ॥५५॥

**महते योऽपकाराय नरस्य प्रभवेन्नरः ।**
**तेन वैरं समासज्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ॥५६॥**

### पदार्थ—

महते—बड़े के लिये
यः—जो
अपकाराय—अपकार के लिये
नरस्य—पुरुष के
प्रभवेत्—समर्थ हो जावे
नरः—मनुष्य,
तेन—उससे
वैरम्—वैर को
समासज्य—जोड़ के=उत्पन्न करके
दूरस्थः—दूर ठहरा हुआ
अस्मि—हूं
इति—ऐसा
न—नहीं
आश्वसेत्—आश्वासन को प्राप्त होवे ।

### व्याख्या—

जो पुरुष किसी पुरुष के बड़े अपकार के लिये समर्थ हो जावे—बड़ी हानिकर देवे, उस (=जिस का अपकार किया है) से वैर उत्पन्न करके 'मैं दूर बैठा हूं' इस प्रकार से आश्वस्त न होवे ॥५६॥

**स्त्रीषु राजसु सर्पेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु ।**
**भोगेष्वायुषि विश्वासं कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति ॥५७॥**

### पदार्थ—

स्त्रीषु—स्त्रियों में
राजसु—राजाओं में
सर्पेषु—सर्पों में
स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु—स्वाध्याय के प्रभु=महान् ज्ञानी और शत्रुओं में
भोगेषु—भोगों में
आयुषि—आयु में
विश्वासम्—विश्वास को
कः—कौन
प्राज्ञः—बुद्धिमान्
कर्तुम्—करने को
अर्हति—योग्य होता है ।

## व्याख्या—

स्त्रियों, राजाओं, सर्पों, महान् ज्ञानियों, शत्रुओं, भोगों और आयु के विषय में कौन बुद्धिमान् विश्वास कर सकता है अर्थात् इनके विषय में कोई भी विद्वान् विश्वास नहीं करता।

**विशेष**—स्त्रियां और राजा लोग चंचल चित्त होते हैं, सर्प स्वभाव से ही डसने वाला होता है, महान् ज्ञानी पुरुष बुद्धि से अचिन्त्य होते हैं, भोग नष्ट होने वाले हैं, आयु का कभी भी नाश हो सकता है, अतः इनके विषय में विश्वास करना अपने को धोके में रखना है।

प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जन्तोश्-
चिकित्सकाः सन्ति न चौषधानि।
न होममन्त्रा न च मङ्गलानि
नाथर्वणा नात्यगदाः सुसिद्धाः ॥५८॥

## पदार्थ—

प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य—बुद्धिरूपी शस्त्र से वींधे गये का
जन्तोः—जन्तु का,
चिकित्सकाः—चिकित्सा करने वाले
सन्ति—हैं
न—नहीं
च—और
औषधानि—औषधें
न—नहीं
होममन्त्राः—यज्ञ के मन्त्र
न—नहीं
च—और
मङ्गलानि—स्वस्तिवाचनादि
न—नहीं
आथर्वणाः—अथर्व वेद के मन्त्र
न—नहीं
अपि—भी
अगदाः—पारे से बनी दवाएं
सुसिद्धाः—अच्छे प्रकार बनी हुईं

## व्याख्या—

बुद्धि रूपी बाण से वींधे गये पुरुष की न कोई वैद्य चिकित्सा कर सकता है, न उसकी कोई औषध है, न ही यज्ञों से उसका प्रतीकार हो सकता है, न स्वस्तिवाचन या आशीर्वाद से उस कष्ट को दूर किया जा सकता, न

अथर्ववेद के मन्त्र ही उसको पीड़ा से मुक्त कर सकते हैं और ना ही पारे से अच्छे प्रकार सिद्ध किये रसों से ही उसकी चिकित्सा हो सकती है।

**विशेष**—इस श्लोक में पूर्व श्लोक में उक्त 'महाज्ञानी पर विश्वास नहीं करना चाहिये' का कारण बताया है। अर्थात् बुद्धिमान् मनुष्य अपनी बुद्धि के बल से जिसका नाश करता है उसका प्रतीकार किसी प्रकार नहीं हो सकता।

यही बात महात्मा विदुर ने पूर्व (अ० १ श्लोक ४८ में) भी कही है—**बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्यात् राष्ट्रं सराजकम्** अर्थात् बुद्धिमान् पुरुष से प्रयुक्त की गई बुद्धि राजा सहित सम्पूर्ण राष्ट्र को नष्ट कर देती है। इसीलिये श्लोक ५५ में बुद्धि बल को सबसे महान् कहा है।

भारत के इतिहास में आचार्य चाणक्य का दृष्टान्त अति प्रसिद्ध है। उसने अपनी बुद्धि के बल से एकाकी ही मगध के महान् पराक्रमी नन्द वंश का समूल नाश कर दिया था। इसीलिये कामन्दक—नीतिकार कहता है—

**एकाकी मन्त्रशक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः।**
**आ जहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम्। अ० १ ॥**

अर्थात् आचार्य चाणक्य ने जो शक्ति में इन्द्र के समान था उसने विना किसी की सहायता से मन्त्र=विचार शक्ति के द्वारा ही चन्द्रगुप्त के लिये [नन्द से] पृथिवी का हरण किया। स्वयम् आचार्य चाणक्य ने कहा है—

**येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।**
**अमर्षेणाद्धनान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ॥**

अर्थात् जिसने शास्त्र-शस्त्र और नन्दराज के आधीन हुई पृथिवी को विना विशेष प्रयास के उद्धार किया, उसने इस अर्थशास्त्र को रचा है।

१. **औषधानि**—जड़ीबूटियां=काष्ठौषधियां।

२. **होममन्त्राः**—यज्ञों के द्वारा विविध रोगों की शान्ति शास्त्रकारों ने बताई है। यज्ञीय चिकित्सा दैवी चिकित्सा कहाती है।

३. **मङ्गलानि**—स्वस्तिवाचन से स्वस्ति=कल्याण की कामना करना और आशीर्वाद भी उत्साह को बढ़ाने वाले होते हैं। यह मानसिक चिकित्सा का अंश है।

४. **आथर्वण मन्त्र**—अथर्व के मन्त्रों में, जिन्हें जादू-टोना कहा जाता

है, वस्तुतः मानसिक चिकित्सा है। मन पर प्रभाव डाल कर रोगों को दूर करने का विधान है।

५. **अगदाः**—पारद-सिद्ध रस चिकित्सा की ओर संकेत है।

**सर्पश्चाग्निश्च सिंहश्च कुलपुत्रश्च भारत।**
**नावज्ञेया मनुष्येण सर्वे ह्येतेऽतितेजसः ॥५६॥**

**पदार्थ—**

सर्पाः—सर्प
च—और
अग्निः—अग्नि
च—और
सिंहः—सिंह
च—और
कुलपुत्रः—कुलीन पुरुष
च—और
भारत—हे भरतकुल के पुत्र !
न—नहीं
अवज्ञेयाः—तिरस्कार योग्य
मनुष्येण—मनुष्य द्वारा
सर्वे—सब
हि—निश्चय से
एते—ये
अतितेजसः—अति तेजस्वी [होते हैं]

**व्याख्या—**

हे भरतकुल के धृतराष्ट्र ! सर्प, अग्नि, सिंह, कुलीन व्यक्ति ये तीन मनुष्य के द्वारा तिरस्कार योंग्य नहीं हैं। ये सब अति तेजस्वी होते हैं।

**विशेष**—सर्प तिरस्कृत किया हुआ=पीड़ित किया हुआ कालन्तर में भी बदला लेता है। वह तिरस्कर्ता को भले प्रकार पहचान लेता है। सिंह भी पीड़ित किया गया मनुष्य को मार डालता है। अग्नि की छोटी-सी चिनगारी भी उपेक्षा योग्य नहीं होती है, वह कुछ काल में ही बढ़ कर सब कुछ स्वाहा कर देती है। इसलिये या तो इनको पीड़ित और उपेक्षित न करे या इन्हें तत्काल मार डाले—समाप्त कर दे, तभी अच्छा होता है।

इसी प्रकार कुलीन पुरुष का भी अपमान नहीं करना चाहिये। यद्यपि कुलीन पुरुष बदले की भावना प्रायः नहीं रखते, तथापि यदि वे बदला लेने पर उतारू हो जायें तो सम्पूर्ण राष्ट्र को नष्ट कर सकते हैं। इसमें आचार्य चाणक्य का कार्य इतिहास में प्रसिद्ध है। उसने नन्द से अपमानित होकर सम्पूर्ण नन्द वंश का समूल नाश कर दिया था ऐसी प्रसिद्धि है ॥५६॥

अग्निस्तेजो महल्लोके गूढस्तिष्ठति दारुषु ।
न चोपयुङ्क्ते तद्दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः ॥६०॥
स एव खलु दारुभ्यो यदा निर्मथ्य दीप्यते ।
तद्दारु च वनं चान्यन्निर्दहत्याशु तेजसा ॥६१॥

## पदार्थ—

अग्निः—अग्नि [रूप]
तेजः—तेज
महत्—महान्
लोके—लोक में
गूढ़ः—छिपा हुआ
तिष्ठति—ठहरा हुआ होता है
दारुषु—लकड़ियों में ।
न—नहीं
च—और
उपयुङ्क्ते—उपयोग में लेता है जलाता है
तत्—उस
दारु—लकड़ी को [जिसमें वह विद्यमान है]
यावत्—जब तक
न—नहीं
दीप्यते—प्रज्वलित किया जाता है
परैः—दूसरों से ।
सः—वह
एव—ही
खलु—निश्चय से
दारुभ्यः—लकड़ियों से
यदा—जब
निर्मथ्य—रगड़ खाकर
दीप्यते—प्रज्वलित हो जाता है,
तत्—उस
दारु—लकड़ी को
च—और
वनम्—वन को
च—और
अन्यत्—अन्य को
निर्दहति—निष्ठुरता पूर्वक जला देता है
आशु—शीघ्र ही
तेजसा—तेज से ।

## व्याख्या—

लोक में अग्निरूपी महत्तेज काष्ठों में छिपा हुआ सदा विद्यमान रहता है । वह तब तक उस आश्रय भूत काष्ठ को नहीं जलाता जब तक वह अन्यों के द्वारा प्रदीप्त नहीं किया जाता । वही काष्ठ जब अन्य काष्ठों से [वायु के द्वारा] रगड़ खाकर प्रदीप्त हो जाता है तब वह उस आश्रय भूत काष्ठ को, वन को और [जो भी समीप में होता है उस] अन्य पदार्थ को अपने तेज से शीघ्र जला डालता है ॥६०-६१॥

एवमेव कुले जाता पावकोपमतेजसः ।
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ॥६२॥

### पदार्थ—

एवम्—इस प्रकार
एव—ही
कुले—[श्रेष्ठ] कुल में
जाताः—उत्पन्न हुए
पावकोपमतेजसः—अग्नि सदृश तेजस्वी
क्षमावन्तः—क्षमाशील
निराकाराः—निराकार रूप [छिपे] हुए
काष्ठे—लकड़ी में
अग्निरिव—अग्नि के समान
शेरते—विद्यमान रहते हैं ।

### व्याख्या—

इसी प्रकार कुलीन पुरुष अग्नि के समान तेजस्वी होते हुए भी अप्रकट रहते हैं, जैसे काष्ठ में अग्नि निराकार रूप से छिपा रहता है ॥६२॥

लताधर्मा त्वं सपुत्रः शालाः पाण्डुसुता मताः ।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥६३॥

### पदार्थ—

लताधर्मा—लता-बेल के धर्म वाला
त्वम्—तुम
सपुत्रः—पुत्र सहित [हो]
शालाः—साल वृक्ष के समान
पाण्डुसुताः—पाण्डव
मताः—माने गये हैं ।
न—नहीं
लता—बेल
वर्धते—बढ़ती है
जातु—कभी भी
महाद्रुमम्—बड़े वृक्षा को (का)
अनाश्रिता—आश्रय विना लिये ।

### व्याख्या—

हे राजा तुम पुत्रों सहित लता के समान हो और पाण्डव साल के महा-वृक्ष के समान हैं । लता विना बड़े वृक्ष का आश्रय लिए कभी नहीं बढ़ती ।

**विशेष**—इसमें विदुर ने ध्वनित किया है कि तुम और तुम्हारे पुत्र कितने भी पराक्रमी क्यों न हों वे लता सदृश=दूसरे के सहारे ही बढ़ने वाले हैं । पाण्डव महावृक्ष के समान हैं जो विना किसी की सहायता के पितृविहीन होने पर भी सभी प्रकार बढ़ गये हैं । अतः यदि तुम पाण्डवों का आश्रय लोगे तभी बढ़ सकते हो, अकेले नहीं ॥६३॥

वनं राजंस्तव पुत्रोऽम्बिकेय
सिंहान् वने पाण्डवांस्तात विद्धि ।
सिंहैर्विहीनं हि वनं विनश्येत्
सिंहा विनश्येयुर्ऋते वनेन ॥६४॥

## पदार्थ—

वनम्—वन [के सदृश]
राजन्—हे राजन् !
तव—तुम्हारा
पुत्रः—पुत्र
अम्बिकेय—अम्बिका के पुत्र !
सिंहान्—सिंह [सदृश]
पाण्डवान्—पाण्डवों को
तात—हे भ्रातः !
विद्धि—जानो,
सिंहैः—सिंहों से
विहीनम्—रहित
वनम्—वन
विनश्येत्—नष्ट हो जावे,
सिंहाः—सिंह
विनश्येयुः—नष्ट हो जायें
ह—निश्चय से
ऋते—विना
वनेन—वन से ।

## व्याख्या—

हे अम्बिके के पुत्र राजन् ! तुम्हारे पुत्र वन सदृश हैं और पाण्डवों को सिंह सदृश जानों, सिंहों के विना वन नष्ट हो जाते हैं और वन सिंह के विना अर्थात् जैसे वन और सिंह परस्पर एक दूसरे के रक्षक होते हैं इसी प्रकार कौरव और पाण्डव मिलकर ही अपनी रक्षा कर सकते हैं ।

**विशेष—पुत्रः** जाति में एक वचन है ।

**अम्बिकेयः**—अम्बिका शब्द से **स्त्रीभ्यो ढक्** (पा० ४।१।१२०) से ढक् प्रत्यय होकर आदि वृद्धि होकर आम्बिकेय पद बनता है, परन्तु यहां **संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः** नियम से **अम्बिकेय** पद में वृद्धि का अभाव जानना चाहिए । इस प्रकार वृद्धि का अभाव पौष्करसादि के स्थान में **पुष्करसादि** आदि अनेक पदों में उपलब्ध होता है ।

इति महाभारत उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये
सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार महाभारत के उद्योगपर्व में प्रजागरपर्व नाम के अवान्तर विभाग में विदुर-हित वाक्य में सैंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

इति विदुरनीतौ पञ्चमोऽध्यायः

# अथ षष्ठोऽध्यायः

## विदुर उवाच

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥१॥

### पदार्थ—

**विदुर बोले—**

ऊर्ध्वम्—ऊपर को
प्राणाः—प्राण
हि—निश्चय से
उत्क्रामन्ति—उठते हैं
यूनः—युवा वा कनिष्ठ के
स्थविरे—वृद्ध या ज्येष्ठ [के]
आयति—आने पर,
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्याम्—खड़े होने और अभिवादन से
पुनः—फिर
तान्—उनको
प्रतिपद्यते—प्राप्त होता है ।

### व्याख्या—

महात्मा विदुर कहते हैं कि जब कोई बड़ा व्यक्ति [घर पर] आता है तो छोटे व्यक्ति के प्राण ऊपर को उठते हैं अर्थात् कुछ घबरा सा जाता है । [आये हुए बड़े व्यक्ति के प्रति] उठ कर खड़े हो जाने और अभिवादन करने से वह [अपने] प्राणों को पुनः प्राप्त होता है अर्थात् स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो जाता है ।

**विशेष**—यह वचन मनुस्मृति २।२२० में भी आया है ॥१॥

पीठं दत्त्वा साधवेऽभ्यागताय
अनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ ।
सुखं पृष्ट्वा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां
ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः ॥२॥

## पदार्थ—

पीठम्—आसन को
दत्त्वा—देकर
साधवे—सज्जन पुरुष को
अभ्यागताय—आये हुए को,
आनीय—लाकर
आपः—जल को
परिनिर्णिज्य—धोकर
पादौ—पैरों को
सुखम्—सुख=कल्याण को
पृष्ट्वा—पूछकर
प्रतिवेद्य—निवेदित करके
आत्म-संस्थाम्—आत्म-स्थिति को,
ततः—पश्चात्
अन्नम्—भोजन को
दाद्यत्—देवे
अवेक्ष्य—देखकर
धीरः—धीर पुरुष।

## व्याख्या—

धीर पुरुष [को चाहिये कि वह] घर पर आंये हुए सज्जन पुरुषों को आसन देकर बैठावे, जल लाकर उसके पैर धोए, कुशल क्षेम पूछकर आत्म-स्थिति का निवेदन करे=आत्म परिचय देवे। तत्पश्चात् भोजन करावे ॥२॥

यस्योदकं मधुपर्कं च गां च
न मन्त्रवित् प्रतिगृह्णाति गेहे।
लोभाद् भयादथ कार्पण्यतो वा
तस्यानर्थं जीवितमाहुरार्याः ॥३॥

## पदार्थ—

यस्य—जिसके
उदकम्—जल को
मधुपर्कम्—मधुपर्क को
च—और
गाम्—गौ को
च—और
न—नहीं
मन्त्रवित्—मन्त्रों को जानने वाला ब्रह्मनिष्ठ पुरुष
प्रतिगृह्णाति—ग्रहण करता है
गेहे—घर में (पर)
लोभात्—लोभ से
भयात्—भय से
अथ—और
कार्पण्यात्—कृपणता से
वा—अथवा
तस्य—उसका
अनर्थम्—अनर्थक, व्यर्थ
जीवितम्—जीना
आहुः—कहते हैं
आर्याः—श्रेष्ठ जन।

## व्याख्या—

जिस कृपण पुरुष के घर में [गृह स्वामी के] लोभ से, भय से अथवा कृपणता से [अदीयमान=न दिये गये] जल मधुपर्क गौ आदि को विद्वान् पुरुष ग्रहण नहीं करता अर्थात् जो घर पर आये विद्वान् पुरुष का सत्कार नहीं करता उसका जीना व्यर्थ है, ऐसा श्रेष्ठ जन कहते हैं।

**विशेष**—प्राचीन काल में यह मर्यादा थी कि गृह पर आये हुए ब्राह्मण =ब्रह्म-वेत्ता पुरुष की जल मधुपर्क और गोदान से सत्कार किया जाता था।

**मधुपर्क**—दही में मधु=शहद (जितने से मीठा हो जाये) मिलाने से मधुपर्क बनता है। अभ्यागत व्यक्ति को प्राचीन काल में हाथ-मुंह-पैर धुला कर मधुपर्क भेंट किया जाता था और जाते समय उसको गौ भेंट में दी जाती थी ॥३॥

**चिकित्सकः शल्यकर्ताऽवकीर्णी**
**स्तेनः क्रूरो मद्यपो भ्रूणहा च।**
**सेनाजीवी श्रुतिविक्रायकश्च**
**भृशं प्रियोऽप्यतिथिर्नोदकार्हः ॥४॥**

## पदार्थ—

चिकित्सकः—मूल्य लेकर दवा देने वाला
शल्यकर्त्ता—पीड़ा (घाव) पहुंचाने वाला
अवकीर्णी—नष्ट ब्रह्मचर्य वाला (दुराचारी)
स्तेनः—चोर
क्रूरः—क्रूर
मद्यपः—शराब पीने वाला
भ्रूणहा—गर्भ गिराने वाला
च—और
सेना-जीवी—सेना में रहकर जीने वाला
श्रुतिविक्रायकः—वेद (ज्ञान) को बेचने वाला।
च—और
भृशम्—अत्यन्त
प्रियः—प्रिय (जामाता आदि)
अतिथिः—अतिथि
अपि—भी
न—नहीं
उदकार्हः—उदक (=पूजा) के योग्य [होता है]।

## व्याख्या—

पैसा लेकर चिकित्सा करने वाला, पीड़ा पहुंचाने वाला, नष्ट-ब्रह्मचर्य वाला, चोर, क्रूर, शराबी, गर्भपाती, सेना द्वारा जीविका कमाने वाला, वेद-ज्ञान वेचने वाला अत्यन्त प्रिय अतिथि भी उदकार्ह=पूजा सत्कार योग्य नहीं होता ।

**विशेष—चिकित्सक** का निषेध उन चिकित्सकों के लिये है जो फीस और पैसा लेकर भी ठीक चिकित्सा नहीं करते हैं । ऐसे पुरुष प्रायः रोगी के रोग को अल्प और अधिक करके पैसा बटोरने का यत्न करते हैं । धर्मार्थ चिकित्सा करने वाला श्रेष्ठ और जीविका के लिये चिकित्सा करने वाला मध्यम और चिकित्सा के बहाने जनता को लूटने वाला अधम होता है ।

**सेना-जीवी**—सेना-जीवी पुराने काल में तीन प्रकार के होते थे । एक अपने राष्ट्र में राष्ट्र की रक्षा के लिये जीवन-निर्वाह लेकर जीवन-उत्सर्ग करने वाले और दूसरे पर राष्ट्र में पर राष्ट्र की रक्षा के लिये और तीसरे भाड़े पर लड़ने वाले (इन्हें पाणिनीय अष्टाध्यायी (४।३।९१) में **आयुध-जीवी** वा **संघजीवी** कहा गया है) । इनमें प्रथम कोटि वाले तो सत्कारार्ह होते हैं, परन्तु दूसरी कोटि वालों को शत्रु राष्ट्र के वेतन-भोगी होकर कभी-कभी अपने राष्ट्र के विपरीत भी युद्ध में सम्मिलित होना पड़ता है और तृतीय कोटि के के आयुध-जीवी तो केवल जीविका के लिये जब चाहें किसी से भी संबन्ध कर सकते हैं । अतः यहां द्वितीय और तृतीय कोटि के सेना-जीवियों की निन्दा की है ।

**श्रुतिविक्रायक**—ज्ञान की कीमत लेकर=वेतन लेकर पढ़ाने वाले ज्ञान विक्रायक निन्दित कहे गये हें । केवल निर्वाह-मात्र वृत्ति लेकर स्वभावतः जो दिन रात अध्ययनाध्यापन में प्रवृत्त रहते हैं वे पूजार्ह हैं, उन्हें वृत्ति लेने मात्र से निन्दित नहीं समझना चाहिये ।

द्रष्टव्य —मनुस्मृति ३७।१५०-१६६ ।

टीकाकार ने इस श्लोक में और उत्तर श्लोक में चिकित्सक आदि की जो निन्दा की है उसे निन्दापरक नहीं माना है, अपितु लिखा है कि ये भी जामाता आदि के तुल्य पूजार्ह है जो इन दोषों से रहित गुणवान् है उसकी पूजार्हता का तो क्या कहना । हमारे विचार में टीकाकार की यह व्याख्या धर्मशास्त्रों से विपरीत होने के कारण त्याज्य है ।।४।।

अविक्रयं लवणं पक्वमन्नं
दधि क्षीरं मधु तैलं घृतं च ।
तिला मांसं फलमूलानि शाकं
रक्तं वासः सर्वगन्धा गुडाश्च ॥५॥

पदार्थ—

| | |
|---|---|
| अविक्रयम्—बेचने के अयोग्य | तिलाः—तिल |
| लवणम्—नमक | मांसम्—मांस |
| पक्वम्—पका हुआ | फलमूलानि—फल मूल |
| अन्नम्—अन्न | शाकम्—[पत्ते रूप] शाक |
| दधि—दही | रक्तम्—रंगा हुआ |
| क्षीरम्—दूध | वासः—वस्त्र |
| मधु—शहद | सर्वगन्धाः—सब प्रकार के सुगन्ध |
| तैलम्—तेल | |
| घृतम्—घृत | गुडाः—गुड़ |
| च—और | च—और |

व्याख्या—

नमक, पका हुआ अन्न, दही, दूध, शहद, तैल, घृत, तिल, मांस, फल, मूल (गाजर आदि), शाक, पत्तेरूप शाक बथुआ आदि, रंगा हुआ कपड़ा, सब प्रकार की सुगन्धियां और गुड़ ये पदार्थ बेचने के योग्य नहीं हैं।

**विशेष**—देश काल परिस्थिति भेद से बेचने के अयोग्य पदार्थों की गणना न्यूनाधिक उपलब्ध होती है। सम्प्रति सभी पदार्थ विक्रय योग्य हैं। यदि ये शुद्ध रूप में ही बेचे जायें तब भी जनता को लाभ है, परन्तु आजकल तो कोई भी पदार्थ शुद्ध रूप में बेचा ही नहीं जाता। यह स्थिति हमारी व्यापारिक एवं आत्मिक गिरावट की सूचक है॥५॥

अरोषणो यः समलोष्टाश्मकाञ्चनः
प्रहीणशोको गतसन्धिविग्रहः ।
निन्दाप्रशंसोपरतः प्रियाप्रिये
त्यजन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥६॥

## पदार्थ—

अरोषणः—रोष=क्रोध न करने वाला
यः—जो
समलोष्ठाश्मकाञ्चनः—मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोने के प्रति सम भाव वाला,
प्रहीणशोकः—जिसका शोक नष्ट हो चुका है,
गतसन्धिविग्रहः—स्नेह-वैर से रहित,
निन्दाप्रशंसोपरतः—निन्दा और प्रशंसा से रहित अर्थात् दोनों में समभाव वाला
प्रियाप्रिये—प्रिय और अप्रिय को
त्यजन्—छोड़ता हुआ
उदासीनवत्—उदासी के समान
एषः—यह
भिक्षुकः—भिक्षुक [महान् है]।

## व्याख्या—

जो क्रोध करने वाला नहीं है, मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोने के प्रति समभाव वाला, जिसका शोक नष्ट हो चुका है, स्नेह और वैर से रहित' निन्दा और प्रशंसा दोनों में समभाव वाला, प्रिय और अप्रिय को छोड़ता हुआ उदासीन के समान यह भिक्षुक [महान् पुण्यकृत] है।

**विशेष—समलोष्ठाश्मकाञ्चनः** का अर्थ यह भी हो सकता है—पत्थर का ढेला और सोने के प्रति समान भाव वाला अथवा मिट्टी का ढेला, पत्थर=हीरा, पन्ना आदि मणि और सोने के प्रति समान भाव वाला।

इस श्लोक का अगले श्लोक के साथ संवन्ध होने से अगले श्लोक में प्रयुक्त **धुरन्धरः पुण्यकृत्** शब्दों का यहां संवन्ध जोड़ा है ॥६॥

**नीवारमूलेङ्गुदशाकवृत्तिः**
**सुसंयतात्माग्निकार्येषु चोद्यः।**
**वने वसन्नतिथिष्वप्रमत्तो**
**धुरन्धरः पुण्यकृदेष तापसः ॥७॥**

## पदार्थ—

नीवारमूलेङ्गुदशाकवृत्तिः—नीवार (चावल का एक निकृष्ट भेद), मूल=जड़ वाले भक्ष्य पदार्थ, इंगुद और शाक=पत्रात्मक शाक खाकर जीने वाला,
सुसंयतात्मा—अच्छे प्रकार संयत आत्मा वाला,

अग्निकार्येषु—अग्नि कार्य यज्ञा में
चोद्यः=सावधान,
वने—वन में
वसन्—बसता हुआ
अतिथिषु—अतिथियों के प्रति
अप्रमत्तः—प्रमाद-रहित
धुरन्धरः—धुरा को धारण करने वाला=महान्
पुण्यकृत्—उत्तम कार्य करने वाला
एषः—यह
तापसः—तपस्वी है ।

## व्याख्या—

नीवार, मूल=गाजर सदृश जड़ों वाले पदार्थ, इङ्गुद और पत्ते रूप बथुए-पालक आदि शाक खाकर जीवन-निर्वाह करने वाला, जितेन्द्रिय, यज्ञ कार्यों में सावधान (लगा हुआ), वन में रहता हुआ अतिथियों के प्रति प्रमाद रहित, यह तपस्वी भी महान् उत्तम कर्म करने वाला है ।।७।।

**अपकृत्य बुद्धिमतो दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।**
**दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः ।।८।।**

## पदार्थ—

अपकृत्य—अपकार करके
बुद्धिमतः—बुद्धिमान् पुरुष का
दूरस्थः—दूर वर्तमान
अस्मि—हूं
इति—ऐसा
न—नहीं
आश्वसेत्—विश्वास करे,
दीर्घौ—लम्बी
बुद्धिमतः—बुद्धिमान् व्यक्ति की
बाहू—भुजाएं [होती हैं]
याभ्याम्—जिनके द्वारा
हिंसति—नष्ट कर देता है
हिंसितः—हिंसा= अपकार किया गया ।

## व्याख्या—

बुद्धिमान् पुरुष का अपकार=बुरा करके मैं दूर देश में वर्तमान हूं [यहां मुझे उससे कोई भय नहीं] ऐसा विश्वास न करे, क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष की भुजाएं (=बदला लेने के साधन) लम्बी (=अपरिमित) होती हैं, वह अपकृत हुआ अपकार करने वाले को नष्ट कर देता है ।

**विशेष**—द्रष्टव्य वि. नी. १।४३ श्लोक ।।८।।

**न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।**
**विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ।।९।।**

## पदार्थ—

न— नहीं
विश्वसेत्—विश्वास करे
अविश्वस्ते—अविश्वासी पर,
विश्वस्ते—विश्वासी पर [भी[
न—नहीं
अतिविश्सेत्—अतिविश्वास करे।
विश्वासात्—विश्वास करने से
भयम्—भय
उत्पन्नम्—उत्पन्न हुआ
मूलानि—जड़ों को
अपि—भी
निकृन्तति—काट डालता है।

## व्याख्या—

अविश्वासी पर कभी विश्वास न करे, और विश्वासी पर भी अति-विश्वास न करे। विश्वास करने से उत्पन्न हुआ भय जड़ों को भी काट डालता है अर्थात् समूल नष्ट कर देता है।

**विशेष**—इस श्लोक का भाव यह है कि मित्र पर भी कभी अतिविश्वास न करे, क्योंकि कभी-कभी उससे भी भय उत्पन्न हो जाता है। मित्र से उत्पन्न भय शत्रु से उत्पन्न भय से अधिक भयङ्कर होता है। अतएव अथर्ववेद (१।१५।६) में **'अभयं मित्रादभयमामित्रात्'** (मित्र से हमें भय न हो, शत्रु से हमें भय न हो) मन्त्र में अमित्र=शत्रु से अभय की प्रार्थना से पूर्व मित्र से अभय की प्रार्थना की है।

उदाहरण—भारत और चीन की मित्रता को ध्यान में रखकर हमारे तत्कालीन अधिकारियों ने भारत-चीन सीमा की उपेक्षा की। उसका फल यह हुआ कि चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने धीरे-धीरे भारत की लगभग १५ हजार वर्गमील भूमि पर सन् १९६२ तक अधिकार कर लिया और जब उससे इस अमित्रतापूर्ण कार्य के लिये लिखा तो वह हमारा शत्रु बन गया और १९६२ के अन्त में उसने हमारे ऊपर आक्रमण कर दिया।

राजनीति के आचार्य बृहस्पति का तो कथन ही है—**अविश्वासो राज्यमूलम्** अर्थात् राज्य की स्थिरता रक्षा के लिये किसी पर विश्वास नहीं करना चाहिये। इसी दृष्टि से आचार्य चाणक्य ने भी गुप्तचरों पर भी गुप्तचर रखने का अपने अर्थशास्त्र में विशेष रूप से उल्लेख किया है ॥९॥

**अनीर्षुर्गुप्तदारश्च संविभागी प्रियंवदः।**
**श्लक्ष्णो मधुरवाक् स्त्रीणां न चासां वशगो भवेत् ॥१०॥**

### पदार्थ—

अनीर्षुः—ईर्ष्या न करने वाला
गुप्तदारः—स्त्रियों की रक्षा करने वाला
च—और
संविभागी—बांट कर ऐश्वर्यों का भोग करने वाला
प्रियंवदः—प्रिय बोलने वाला,
श्लक्ष्णः—चिकना-सरल स्वभाव वाला
मधुरवाक्—मीठा बोलने वाला
स्त्रीणाम्—स्त्रियों के प्रति
न—नहीं
च—और
आसाम्—इन [स्त्रियों] के
वशगः—वश में आने वाला
भवेत्—होवे।

### व्याख्या—

मनुष्य ईर्ष्या करने वाला न होवे, स्त्रियों की रक्षा करने वाला होवे, और परस्पर तथा भृत्यों को भी यथोचित रूप में बांटकर ऐश्वर्य का भोग करने वाला होवे, प्रियवादी सरल स्वभाव वाला तथा स्त्रियों के प्रति मधुर वाणी वाला होवे और स्त्रियों के वशीभूत न होवे ॥१०॥

**पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः।**
**स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद्रक्ष्या विशेषतः ॥११॥**

### पदार्थ—

पूजनीयाः—पूजा के योग्य हैं
महाभागाः—महा लक्ष्मी रूप
पुण्याः—पुण्य रूप
च—और
गृहदीप्तयः—गृह को प्रकाशित करने वाली
स्त्रियः—स्त्रियां
श्रियः—शोभा स्वरूप
गृहस्य—घर की
उक्ताः—कही गई हैं
तस्मात्—इसलिये
रक्ष्याः—रक्षा करने योग्य हैं
विशेषतः—विशेष रूप से।

### व्याख्या—

घर की स्त्रियां पूजा के योग्य महालक्ष्मी स्वरूप, पुण्यरूप एवं घर को प्रकाशित करने वाली होती हैं। इसलिये इनकी विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिये।

**विशेष**—किसी कवि ने सत्य लिखा है—

**न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते ।**

घर वस्तुतः घर=आश्रय-स्थान नहीं होते, गृहिणी=भार्या ही गृह=आश्रय स्थान होती है । गृहिणी के विना घर श्मशान तुल्य होता है ।

अतः विदुर ने उन्हें **गृहदीप्तयः** सत्य ही कहा है ॥११॥

**पितुरन्तःपुरं दद्यान्मातुर्दद्यान्महानसम् ।**
**गोषु चात्मसमं दद्यात् स्वयमेव कृषिं व्रजेत् ॥१२॥**
**भृत्यैर्वाणिज्यचारं च पुत्रैः सेवेत च द्विजान् ।**

## पदार्थ—

पितुः—पिता को
अन्तःपुरम्—गृह [की रक्षा का भार],
दद्यात्—देवे
मातुः—माता को
दद्यात्—देवे
महानसम्—रसोई घर [की व्यवस्था का भार]
गोषु—गौवों की रक्षा आदि में
च—और
आत्मसमम्—अपने जैसा (हितैषी),
स्वयम्—स्वयं
एव—ही
कृषिम्—खेती को
व्रजेत्—प्राप्त होवे ।
भृत्यैः—नौकरों के द्वारा
वाणिज्यचारम्—लेन-देन के व्यवहार को
च—और
पुत्रैः—पुत्रों के द्वारा
सेवेत—सेवन करे
च—और
द्विजान्—ब्राह्मणों को ।

## व्याख्या—

गृह-प्रवन्ध का भार पिता को देवें, क्योंकि उसके जैसा अन्य कोई व्यक्ति हितैषी नहीं होता । माता को रसोई घर की व्यवस्था सौंपे, गौवों पर आत्मा के समान प्रिय व्यक्ति को नियत करे और खेत पर स्वयम् उपस्थित हो । खेती दूसरे की देखभाल में नहीं हो सकती । भृत्यों के द्वारा वाणिज्य लेन-देन का व्यवहार कराना चाहिये और पुत्रों के द्वारा ब्राह्मणों की सेवा शुश्रूषा ।

**अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ॥१३॥**
**तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ।**

## पदार्थ—

अद्भ्यः- जलों से
अग्निः—अग्नि,
ब्रह्मतः—ब्रह्म (ब्राह्मण) से
क्षत्रम्—क्षत्रिय
अश्मनः—पाषाणों से
लोहम्—लोहा आदि धातुएं
उत्थितम्—उत्पन्न हुआ है ।
तेषाम्—उन अग्नि आदि का
सर्वत्रगम्—सब में वर्तमान
तेजः—तेज=शक्ति=प्रभाव
स्वासु—अपनी-अपनी
योनिषु—योनियों में=मूल-कारणों में=पूर्व उत्पन्न पदार्थों में
शाम्यति—शान्त होता है ।

## व्याख्या—

जलों से अग्नि, ब्रह्म से क्षत्रिय, पाषाण से लोह आदि धातुएं क्रमशः उत्पन्न हुई हैं, इस कारण उन अग्नि क्षत्रिय और धातुओं में विद्यमान तेज-शक्ति-प्रभाव अपनी-अपनी योनियों=मूल कारणों में शान्त होता है। यथा अग्नि जल को पाकर शान्त हो जाता है।

**नित्यं सन्तः कुले जाताः पावकोपमतेजसः ॥१४॥**
**क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ।**

## पदार्थ—

नित्यम्—नित्य
सन्तः—साधु पुरुष
कुले—श्रेष्ठ कुल में
जाताः—उत्पन्न हुए
पावकोपमतेजसः—अग्नि के समान तेजस्वी
क्षमावन्तः—क्षमाशील
निराकाराः—आकार रहित अर्थात् संयत चेष्टा वाले
काष्ठे—लकड़ी में
अग्निः—अग्नि के
इव—समान
शेरते—विद्यमान रहते हैं ।

## व्याख्या—

श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न अग्नि के समान तेजस्वी साधु-पुरुष नित्य क्षमा-

शील, संयत चेष्टा वाले, साधु-पुरुष उसी प्रकार लोक में छिपे हुए रहते हैं जैसे काष्ठ में अग्नि सुप्त=अप्रकट रहता है।

**यस्य मन्त्रं न जानन्ति बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये ॥१५॥**
**स राजा सर्वतश्चक्षुश्चिरमैश्वर्यमश्नुते।**

### पदार्थ—

| | |
|---|---|
| यस्य—जिसके | ये—जो। |
| मन्त्रम्—विचार को | सः—वह |
| न—नहीं | राजा—राजा |
| जानन्ति—जानते हैं | सर्वतश्चक्षुः—सब ओर दृष्टि रखने वाला |
| बाह्याः—बाहर (=दूर) के लोग | चिरम्—चिरकाल तक |
| च—और | ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य=राज्य को |
| अभ्यन्तराः—समीपवर्ती लोग | अश्नुते—भोगता है। |
| च—और | |

### व्याख्या—

जिसके विचार को दूर रहने वाले (=शत्रु) और समीप रहने वाले (=मित्रादि) नहीं जानते, वही राजा चिरकाल तक राज्य आदि ऐश्वर्य को भोगता है।

**करिष्यन्न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत् ॥१६॥**
**धर्मकामार्थकार्याणि तथा मन्त्रो न भिद्यते।**

### पदार्थ—

| | |
|---|---|
| करिष्यत्—[भविष्य में] किये जाने वाले [कार्य को] | दर्शयेत्—प्रकट करे, |
| न—नहीं | धर्मकामार्थकार्याणि—धर्म काम अर्थ संबन्धी कार्यों को। |
| प्रभाषेत—प्रकट करे | तथा—इस प्रकार |
| कृतानि—किये जा चुके [कार्यों] को | मन्त्रः—विचार |
| एव—ही | न—नहीं |
| तु—निश्चय से | भिद्यते—प्रकट होता है। |

## व्याख्या—

धर्म-काम-अर्थ सम्बन्धी किये जाने वाले कर्मों को कभी प्रकट न करे किये गये कार्यों को ही प्रकट करे कि यह कार्य किया गया है। इस प्रकार विचार सुरक्षित रहता है।

**गिरिपृष्ठमुपारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ॥१७॥**
**अरण्ये निःशलाके वा तत्र मन्त्रो विधीयते।**

## पदार्थ—

गिरिपृष्ठम्—पर्वत शिखर पर
उपारुह्य—जाकर
प्रासादम्—महल को
वा—अथवा
रहोगतः—एकान्त को प्राप्त हुआ
अरण्ये—जङ्गल में
निःशलाके—घास तृण रहित स्थान में,
वा—अथवा
तत्र—वहां
मन्त्रः—विचार
विधीयते—किया जाता है, वा करे

## व्याख्या—

[राजा को चाहिये कि वह] पर्वत पर अथवा महल में एकान्त स्थान में प्राप्त होकर अथवा तृण घास आदि रहित अत्यन्त दुर्गम मरुस्थल में जाकर मन्त्र=विचार करें।

राजा के लिए अपने मन्त्र= विचार को गुप्त रखना अत्यन्त आवश्यक है। मन्त्र के प्रकट हो जाने से राजा और प्रजा पर विविध प्रकार के संकट आते हैं। अतः श्लोक १५ से १९ तक मन्त्र-रक्षा पर विशेष बल दिया है।

**नासुहृत् परमं मन्त्रं भारतार्हति वेदितुम् ॥१८॥**
**अपण्डितो वापि सुहृत् पण्डितो वाप्यनात्मवान्।**
**नापरीक्ष्य महीपालः कुर्यात् सचिवात्मनः ॥१९॥**

## पदार्थ—

न—नहीं
असुहृत्—[जो] मित्र नहीं [है]
परमम्—उत्तम = महत्त्वपूर्ण
मन्त्रम्—मन्त्र को
भारत—हे भरत कुलोत्पन्न राजन् !
अर्हति—योग्य होता है
वेदितुम्—जानने के लिये,
अपण्डितः—मूर्ख
वा—अथवा
अपि—भी
सुहृत्—मित्र [है]
पण्डितः—विद्वान् [है]
वा—अथवा
अनात्मवान्—चंचल है
न—नहीं
अपरीक्ष्य—परीक्षा किये विना
महीपालः—राजा
कुर्यात्—वनावे
सचिवम्—मन्त्री को
आत्मनः—अपना ।

## व्याख्या—

हे भरत कुलोत्पन्न राजन् ! जो मित्र नहीं है वह महत्त्वपूर्ण मन्त्र = विचार को जानने के योग्य नहीं होता। इसी प्रकार जो मित्र तो है परन्तु मूर्ख है, अथवा जो पण्डित तो है परन्तु चञ्चल या लोभादि दोषों से ग्रस्त है वह भी मन्त्र जानने का अधिकारी नहीं है। इसलिये राजा को चाहिये कि विना परीक्षा किये किसी का अपना मन्त्री न वनावें ॥१९॥

**अमात्ये ह्यर्थलिप्सा च मन्त्ररक्षणमेव च ।**
**कृतानि सर्वकार्याणि यस्य पारिषदा विदुः ॥२०॥**
**धर्मे चार्थे च कामे च स राजा राजसत्तमः ।**
**गूढमन्त्रस्य नृपतेस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥२१॥**

## पदार्थ—

अमात्ये—मन्त्री के अधीन
हि—निश्चय से
अर्थलिप्सा—[नये] अर्थ = राज्य आदि के प्राप्त करने की इच्छा,
च—और
मन्त्ररक्षणम्—मन्त्र की रक्षा
एव—ही
च—और
कृतानि—किये गये
सर्वकार्याणि—सब कार्यों को
यस्य—जिसके

पारिषदा:—सभासद
विदु:—जानते हैं,
धर्मे—धर्म-विषयक
च—और
अर्थे—अर्थ विषयक
च—और
कामे—काम-विषयक
च—और
सः—वह
राजा—राजा
राजसत्तम:—श्रेष्ठ राजा [होता है]।
गूढमन्त्रस्य—छिपा हुआ है
मन्त्र—विचार जिसका ऐसे
नृपते:—राजा का,
तस्य—उसकी
सिद्धि:—सफलता
असंशयम्—सन्देह रहित [होती है]।

## व्याख्या—

नये अर्थं=राज्य आदि के प्राप्त करने की इच्छा तथा मन्त्र का रक्षण मन्त्री के आधीन होती है। जिस गूढमन्त्र वाले राजा के धर्म अर्थ और काम विषयक सब कार्यों को कर लेने पर ही सभासद् लोग जानते हैं, उस राजा की सफलता सन्देह रहित होती है अर्थात् ऐसा राजा अवश्य सफल होता है।

**विशेष**—पूर्व १६वें श्लोक की उत्तरार्ध में भी यही संकेत किया है।

**अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति।**
**स तेषां विपरिभ्रंशाद् भ्रंश्यते जीवितादपि ॥२२॥**

## पदार्थ—

अप्रशस्तानि—निन्दित
कार्याणि—कार्यों को (का)
यः—जो
मोहात्—मोह से
अनुतिष्ठति—अनुष्ठान करता है,
सः—वह
तेषाम्—उनके
विपरिभ्रंशात्—दूषित होने के कारण
भ्रश्यते—नष्ट हो जाता है
जीवितात्—जीवन से
अपि—भी।

## व्याख्या—

जो पुरुष निन्दित कर्म करता है वह उन कर्मों के दूषित होने से जीवन से भी नष्ट हो जाता है ॥२२॥

**कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।**
**तेषामेवाननुष्ठानं पश्चात्तापकरं मतम् ॥२३॥**

### पदार्थ—

कर्मणाम्—कर्मों का
तु—तो
प्रशस्तानाम्—उत्तमों का
अनुष्ठानम्—अनुष्ठान करना
सुखावहम्—सुख को प्राप्त कराने वाला होता है ।
तेषाम्—उन [उत्तम कर्मों] का
अननुष्ठानम्—न करना
पश्चात्—पीछे से
तापकरम्—दुःखी करने वाला
मतम्—माना गया है ।

### व्याख्या—

उत्तम कर्मों का अनुष्ठान ही सुख देने वाला होता है और उन का अनुष्ठान न करना=परित्याग करना ही दुःख का कारण बनता है ॥२३॥

**अनधीत्य यथा वेदान् न विप्रः श्राद्धमर्हति ।**
**एवमश्रुतषाड्गुण्यो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥२४॥**

### पदार्थ—

अनधीत्य—विना पढ़े
यथा—जैसे
वेदान्—वेदों को
न—नहीं
विप्रः—ब्राह्मण
श्राद्धम्—श्राद्ध कर्म को (के)
अर्हति—योग्य होता हैं,
एवम्—इसी प्रकार
अश्रुतषाड्गुण्यः—नहीं सुना है (जाना है) छ गुण='सन्धि-विग्रह-यान-आसन-द्वैधीभाव-आश्रय' के समूह को
न—नहीं
मन्त्रम्—मन्त्र=विचार को
श्रोतुम्—सुनने के
अर्हति—योग्य होता है ।

### व्याख्या—

जैसे वेद को विना पढ़े ब्राह्मण श्राद्ध के योग्य नहीं होता, उसी प्रकार राजनीति के छः गुण=सन्धि-विग्रह-यान-आसन-द्वैधीभाव-आश्रय को न जानने वाला मन्त्र=विचार सुनने का भी अधिकारी नहीं होता ।

**विशेष—श्राद्ध** का मूल शब्दार्थ है—श्रद्धा से किया गया कर्म । प्राचीन परिपाटी के अनुसार सर्वोच्च मान का स्वरूप मधुपर्क प्रदान करना

है। मधुपर्क के छः ही अधिकारी माने गये हैं—स्नातक, आचार्य, पुरोहित राजा, जामाता और श्रेष्ठ प्रिय सखा। इस प्रकार ब्राह्मणों में वेदवित् आचार्य अथवा पुरोहित ही अर्घ्य हैं। उत्तर काल में श्राद्ध शब्द मृतकश्राद्ध में व्यवहृत होने लगा। उस काल की स्मृतियों में भी वेदवित् पंक्तिपावन ब्राह्मणों को ही श्राद्ध का अधिकारी माना है। विदुरनीति में श्राद्ध का सामान्य निर्देश है।

षाड्गुण्य—षड्गुणों का कर्म। प्रकृत में मन्त्र=विचार का प्रकरण होने से षड्गुण से राजनीति के षड्गुण अभिप्रेत हैं। वे हैं—१. सन्धि—शत्रु या पड़ोसी राजा से पारस्परिक साहाय्य के लिये वचन लेना-देना, २. विग्रह - शत्रु से या अन्य अधार्मिक प्रजापीडक राजा से पृथक्=दूर हो जाना=सम्बन्ध तोड़ देना, ३. यान—शत्रु पर चढ़ाई करना, ४. आसन—शत्रु द्वारा उत्तेजित करने पर भी अपने पक्ष को निर्बल समझ कर तब तक चुप बैठे रहना जब तक शक्ति संचय न हो जाये, ५. द्वैधीभाव— दो प्रकार का भाव रखना, ऊपर से मित्रता और अन्दर से शत्रुता अथवा अपने बल =सेना को दो भागों में बांट कर चढ़ाई करना, अथवा अपनी सेना के एक भाग को प्रत्यक्ष रूप में अपमानित करके शत्रु के साथ मिलाना, जिस से युद्ध के समय शत्रु के बल को भीतर प्रविष्ट हो कर नष्ट करे, ६. समाश्रय—अपने से श्रेष्ठ बलवान् राजा का आश्रय—शरण लेना।

राजा को समय समय पर इन छ प्रकार के कर्मों का आश्रय लेना पड़ता है। इसलिये मन्त्र=विचार के योग्य वही व्यक्ति समर्थ हो सकता है जो इन छ प्रकार के कर्मों को यथावत् रूप से जानता हो, अन्यथा वह राजनीति में विचार प्रस्तुत करने का भी अधिकारी नहीं है।

हमारी लोकसभा में या विधान सभा में इस योग्यता के कितने व्यक्ति हैं? यह विवेचनीय है। वास्तविक रूप में हमारे वर्तमान प्रजातन्त्र के इतिहास में एक मात्र **सरदार बल्लभ भाई पटेल** ही इस योग्यता के व्यक्ति थे, परन्तु भारत के दुर्भाग्यवश एक तो वे दीर्घजीवी न हुए, दूसरे प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू, जो इस नीति से दूर का भी संबन्ध नहीं रखते थे, ने उन्हें समय पर उचित कार्यवाही न करने दी, अन्यथा काश्मीर की तो क्या अन्य कोई भी ऐसी समस्या उत्पन्न न होती, जिन से आज हम पीड़ित हैं ॥२४॥

**स्थानवृद्धिक्षययज्ञस्य षाड्गुण्यविदितात्मनः ।**
**अनवज्ञातशीलस्य स्वाधीना पृथिवी नृप ॥२५॥**

## पदार्थ—

स्थानवृद्धिक्षययज्ञस्य—स्थिति, वृद्धि और क्षयरूपीयज्ञ=प्रयोग जिसका है उसके
षाड्गुण्यविदितात्मनः—छ [संधि आदि] गुणों के स्वरूप को जिसने जान लिया है उसके
अनवज्ञातशीलस्य—[अन्यों के द्वारा] जिसका शील स्वभाव यथार्थ रूप में नहीं जाना गया है उसके
स्वाधीना—अच्छे प्रकार आधीन
पृथिवी—भूमि [होती है]
नृप—हे राजन् !

## व्याख्या—

हे राजन् जिस का स्थान=यथास्थित अवस्था, वृद्धि=राज्यादि का वर्धन, क्षय= नाश रूपी यज्ञ=प्रयोग चलता रहता है अर्थात् इन के सम्बन्ध में जो जागरूक है, जो छः सन्धि आदि गुणों के स्वरूप को यथावत् जानता हैं और जिसका स्वभाव=मनोगत भाव अन्यों के द्वारा जाना नहीं जा सकता ऐसे व्यक्ति के आधीन ही भूमि रहती है अर्थात् ऐसा व्यक्ति ही राज्य की रक्षा कर सकता है ॥२५॥

**अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्यान्ववेक्षिणः ।**
**आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा ॥२६॥**

## पदार्थ—

अमोघक्रोधहर्षस्य—जिसका क्रोध और प्रसन्नता निष्फल नहीं होती उसकी
स्वयम्—अपने आप
कृत्वा—करके
अन्ववेक्षिणः—पुनः विचार करने वाले की
आत्मप्रत्ययकोशस्य—अपना ज्ञान ही जिसका कोश है=खजाना है उसकी
वसुदा—धन देने वाली
एव—ही
वसुन्धरा—धन ऐश्वर्य को धारण करने वाली पृथिवी [होती है]

## व्याख्या—

जिस व्यक्ति का क्रोध और प्रसन्नता निष्फल नहीं होती अर्थात् दण्ड तथा पुरस्कार देने में समर्थ होता है, जो स्वयं किये गये कार्यों पर पुनः विचार करने वाला होता है, जो अपने ज्ञान के कोश=बल पर ही भरोसा करता है, उसकी पृथिवी राज्य-धन ऐश्वर्य को देने वाली होती है अर्थात् राजा में ये गुण अवश्य होने चाहिये, तभी वह चिर-काल तक पृथिवी का भोग कर सकता है।

**विशेष**—टीकाकार नीलकण्ठ ने **आत्मप्रत्ययकोशस्य** का अर्थ—'स्वयं को ही कोश=खजाने का ज्ञान है उसकी' किया है अर्थात् सम्पूर्ण कोश का यथार्थ परिज्ञान राजा को स्वयं ही होना चाहिये ॥२६॥

**नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः ।**
**भृत्येभ्यो विसृजेदर्थान्नैकः सर्वहरो भवेत् ॥२७॥**

## पदार्थ—

नाममात्रेण—नाम मात्र से
तुष्येत—सन्तुष्ट होवे
छत्रेण—राज-छत्र से
च—और
महीपतिः—राजा,
भृत्येभ्यः—नौकरों-चाकरों के लिये
विसृजेत्—त्याग करे=छोड़ दे
अर्थान्—धन सम्पत्ति ऐश्वर्य को,
न—नहीं
एकः—अकेला
सर्वहरः—सब कुछ हरण=ग्रहण करने वाला।
भवेत्—होवे

## व्याख्या—

राजा को चाहिये कि वह राजा-नाम मात्र से अथवा राजछत्र मात्र से सन्तुष्ट रहे, राज्य के ऐश्वर्य को भृत्यों के लिये त्याग करे अर्थात् उनके साथ मिलकर ऐश्वर्य का भोग करे स्वयं अकेला ही ऐश्वर्य भोगने वाला न हो। अन्यथा एकाकी ऐश्वर्य भोगने वाले राजा के भृत्य उसके शत्रु बन जाते हैं ॥२६॥

**ब्राह्मणं ब्राह्मणो वेद भर्ता वेद स्त्रियं तथा ।**
**अमात्यं नृपतिर्वेद राजा राजानमेव च ॥२८॥**

## पदार्थ—

ब्राह्मणम्—ब्राह्मण को
ब्राह्मणः—ब्राह्मण
वेद—जानता है,
भर्ता—पति
वेद—जानता है
स्त्रियम्—स्त्री=पत्नी को,
तथा—और
अमात्यम्—मन्त्री को
नृपतिः—राजा
वेद—जानता है,
राजा—राजा
राजानम्—राजा को
एव—ही
च—और न।

## व्याख्या—

ब्राह्मण=ज्ञानी को ब्राह्मण=ज्ञानी ही भले प्रकार जानता है, पति ही अपनी भार्या को यथार्थरूप में जानता है, मन्त्री को राजा ही यथावत् समझता है और राजा को यथावत् राजा ही जान सकता है।

इसका भाव यह है कि जिसका जिसके साथ व्यवहार पड़ता है, वही उसको यथार्थ रूप से जान सकता है ॥२८॥

**न शत्रुर्वशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः।**
**न्यग् भूत्वा पर्युपासीत वध्यं हन्याद् बले सति।**
**अहताद्धि भयं तस्माज्जायते नचिरादिव ॥२९॥**

## पदार्थ—

न—नहीं
शत्रुः—शत्रु
वशम्—वश को
आपन्नः—प्राप्त हुआ
मोक्तव्यः—छोड़ा जाना चाहिये
वध्यताम्—मारने की योग्यता को
गतः—प्राप्त हुआ।
न्यग्भूत्वा—नीचे झुक के
पर्युपासीत—उपसना=सेवन करे
वध्यम्—वध के योग्य को (की)
हन्यात्—मार डाले
बले—बल के
सति—होने पर।
अहतात्—न मारे गये से
हि—निश्चय से
भयम्—भय
तस्मात्—उससे
जायते—उत्पन्न होता है
नचिरात्—शीघ्र
इव—ही

## व्याख्या—

वश में आये हुए मारने योग्य शत्रु को कभी न छोड़े। [यदि स्वयं निर्बल हो तो] उक्त शत्रु के प्रति स्वयं झुककर = हीन बन कर उसका सेवन करे, प्रतिष्ठा-पूर्वक रखे और जब स्वयं प्रबल बन जाये तब उसको समूल नष्ट कर दे। वध के योग्य शत्रु को यदि न मारा जाए तो शीघ्र ही उससे अपने को भय प्राप्त होगा अर्थात् वह बदला लेगा ॥२९॥

**दैवतेषु प्रयत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च।**
**नियन्तव्यः सदा क्रोधो वृद्धबालातुरेषु च ॥३०॥**

## पदार्थ—

दैवतेषु—देवों श्रेष्ठ जनों पर
प्रयत्नेन—यत्न-पूर्वक
राजसु—राजाओं पर
ब्राह्मणेषु—ब्राह्मणों पर
च—और
नियन्तव्यः—रोकना चाहिये
सदा—सदा
क्रोधः—क्रोध
वृद्धबालातुरेषु—बूढ़ों, बालकों और दुखियों पर

## व्याख्या—

राजा को चाहिये कि वह श्रेष्ठ जनों, ब्राह्मणों, राजाओं, बूढ़ों, बच्चों और दुखियों पर प्रयत्नपूर्वक क्रोध को रोके अर्थात् इन पर क्रोध न करे ॥३०॥

**निरर्थं कलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम्।**
**कीर्तिं च लभते लोके न चानर्थेन युज्यते ॥३१॥**

## पदार्थ—

निरर्थम्—निष्प्रयोजन
कलहम्—कलह को
प्राज्ञः—बुद्धिमान्
वर्जयेत्—छोड़ देवे
मूढसेवितम्—मूर्खों से सेवित,
कीर्तिम्—यश को
च—और
लभते—प्राप्त करता है
लोके—लोक में
न—नहीं
च—और
अनर्थेन—अनर्थ = दुःख से
युज्यते—युक्त होता है।

### व्याख्या—

बुद्धिमान् को चाहिए कि वह मूर्ख पुरुषों के द्वारा सेवित निरर्थक कलह को छोड़ देवे। निरर्थक कलह का परित्याग करने से पुरुष लोक में कीर्ति को प्राप्त होता है और किसी अनर्थ=दुःख=संताप से युक्त नहीं होता ॥३१॥

**प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।**
**न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥३२॥**

### पदार्थ—

प्रसादः—प्रसन्नता
निष्फलः—फलरहित
यस्य—जिसका,
क्रोधः—क्रोध
च—भी
निरर्थकः—फलरहित है,
न—नहीं
तम्—उसको
भर्तारम्—स्वामी को
इच्छन्ति—चाहते हैं,
पण्ढम्—नंपुसक
पतिम्—पतिको
इव—तरह
स्त्रियः—स्त्रियां ।

### व्याख्या—

जिस राजा की प्रसन्नता और क्रोध निष्फल=फल—रहित होता है उसको प्रजाजन उसी तरह नहीं चाहते, जैसे—स्त्रियां नपुंसक=पुरुषत्वहीन पति को नहीं चाहती हैं ॥३२॥

**न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये ।**
**लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥३३॥**

### पदार्थ—

न—नहीं
बुद्धिः—बुद्धि
धनलाभाय—धन की प्राप्ति के लिये [कारण है और]
न—नहीं
जाड्यम्—मूर्खता
असमृद्धये—दरिद्रता के लिये ।
लोकपर्यायवृत्तान्तम्—लोक के पर्याय=इहलोक और परलोक की व्यवस्था को
प्राज्ञः—बुद्धिमान् पुरुष
जानाति—जानता है,
न—नहीं
इतरः—दूसरा (मूर्ख) ।

## व्याख्या—

बुद्धि-धन की प्राप्ति में और मूर्खता दरिद्रता में कारण नहीं है, यह लोक परलोक की व्यवस्था को जानने वाला बुद्धिमान् पुरुष ही जानता है मूर्ख पुरुष नहीं जानता ।

**विशेष**—इस श्लोक का भाव यह है कि केवल बुद्धि से ही सुख समृद्धि की प्राप्ति और अज्ञान से ही दरिद्रता दुःख आदि प्राप्त होता है यह विचार ठीक नहीं है, क्योंकि लोक में इसकी विपरीतता देखी जाती है । बुद्धिमान् पुरुष भी दरिद्र और दुःखी मिलते हैं और मूर्ख भी सुखी समृद्ध देखे जाते हैं । अतः सुख समृद्धि और दुःख दारिद्रय पूर्व जन्म कृत कर्मों के अनुसार प्राप्त होता है । इस बात को बुद्धिमान् पुरुष ही अपने ज्ञान से समझ सकता है, मूर्ख इस कार्य-कारण भाव को जानने में असमर्थ रहता ।।३३।।

**विद्याशीलवयोवृद्धान् बुद्धिवृद्धांश्च भारत ।**
**धनाभिजातवृद्धांश्च नित्यं मूढोऽवमन्यते ।।३४।।**

## पदार्थ—

विद्याशीलवयोवृद्धान्—विद्या शील=स्वभाव और आयु से वृद्ध पुरुषों को
बुद्धिवृद्धान्—श्रेष्ठ बुद्धिमानों को
च—और
भारत—हे भरत कुलोत्पन्न [राजन्!]
धनाभिजातवृद्धान्—धन और कुल से श्रेष्ठों को
च—और
नित्यम्—नित्य
मूढः—मूर्ख
अवमन्यते—अपमानित करता है ।

## व्याख्या—

हे भरत कुलोत्पन्न राजन् [धृतराष्ट्र !] मूर्ख पुरुष सदा ही विद्या शील आयु बुद्धि धन (समृद्धि) में श्रेष्ठ और कुलीन पुरुषों को सदा ही अपमानित करता है ।।३४।।

**अनार्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम् ।**
**अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ।।३५।।**

### पदार्थ—

अनार्यवृत्तम्—आर्य व्यवहार से रहित=अनाचारी को
अप्राज्ञम्—मूर्ख को
असूयकम्—असूया (पर के गुणों की निन्दा) करने वाले को
अधार्मिकम्=अधर्मी को
अनर्थाः—दुःख दरिद्रय आदि
क्षिप्रम्—शीघ्र
आयान्ति—प्राप्त होते हैं,
वाग्दुष्टम्—दुष्ट वाणी बोलने वाले को
क्रोधनम्—क्रोधी को
तथा—और।

### व्याख्या—

अनाचारी-अत्याचारी, मूर्ख दूसरे की निन्दा करने वाले, दुष्ट वाणी बोलने वाले और क्रोधी को दुःख दारिद्रय शीघ्र प्राप्त होते हैं।

**विशेष**—इन श्लोकों के द्वारा महात्मा विदुर संकेत करते हैं कि विद्या शील आयु और बुद्धि में श्रेष्ठ पाण्डवों को मूर्ख दुर्योधन आदि सदा ही अपमानित करते हैं और उक्त गुणों के विपरीत अनाचारी मूर्ख ईर्ष्या करने वाले और अधार्मिक कर्ण आदि का सम्मान करते हैं। इसलिये दुर्योधन आदि शीघ्र ही नाश को प्राप्त होंगे ॥३५॥

**अविसंवादनं दानं समयस्याव्यतिक्रमः।**
**आवर्तयन्ति भूतानि सम्यक्प्रणिहिता च वाक् ॥३६॥**

### पदार्थ—

अविसंवादनम्—वञ्चना न करना,
दानम्—दान देना,
समयस्य—समय का
अनतिक्रमः—उल्लंघन न करना,
आवर्तयन्ति—अपनी ओर कर लेते हैं
भूतानि—[शत्रु] जनों को,
सम्यक्—अच्छी प्रकार
प्रणिहिता—बोली गई
च—और
वाक्—वाणी।

### व्याख्या—

किसी के साथ वञ्चना न करना=झूठे झांसे न देना, दान देना, समय पर कार्य करना और उत्तम प्रयोग की गई वाणी के व्यवहार शत्रुओं को भी अपनी ओर कर लेते हैं=अपना बना लेते हैं ॥३६॥

**अविसंवादको दक्षः कृतज्ञो मतिमानृजुः ।**
**अपि संक्षीणकोशोऽपि लभते परिवारणम् ॥३७॥**

### पदार्थ—

अविसंवादकः—झूठ न बोलने वाला,
दक्षः—चतुर,
कृतज्ञः—उपकार मानने वाला,
मतिमान्—बुद्धिमान्,
ऋजुः—सरल पुरुष
अपि—भी
क्षीणकोशः—सम्पत्ति से रहित
अपि—भी
लभते—प्राप्त करता है
परिवारणम्—परिवार=भृत्य मित्रादि को ।

### व्याख्या—

झूठ न बोलने वाला, चतुर, कृतज्ञ, बुद्धिमान् सरल स्वभाव का पुरुष कोश=धन सम्पत्ति से रहित भी भृत्य मित्र आदि समूह को प्राप्त कर लेता है ॥३७॥

**धृतिः शमो दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।**
**मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ॥३८॥**

### पदार्थ—

धृतिः—धैर्य
शमः—शान्ति
दमः—इन्द्रिय जय
शौचम्—शुद्धता
कारुण्यम्—कृपा
वाक्—वाणी
अनिष्ठुरा—कोमल
मित्राणाम्—मित्रों का
च—और
अनभिद्रोहः—द्रोह न करना
सप्त—सात
एताः—ये
समिधः—प्रदीप्त करने वाले [हैं]
श्रियः—समृद्धि के ।

### व्याख्या—

धैर्य, शान्ति, इन्द्रियजय, व्यवहार, शुद्धता, करुणा, कोमलवाणी और मित्रों से द्रोह न करना ये सात गुण समृद्धि को बढ़ाने वाले हैं ।

**विशेष**—समिध् शब्द का मूल अर्थ है—अच्छे प्रकार प्रदीप्त करने वाली । यज्ञ आदि में प्रयुक्त काष्ठ भी समिध् या समिधा इसीलिये कहाते हैं कि इनके प्रयोग से यज्ञीय अग्नि बढ़ती ॥३८॥

असंविभागी दुष्टात्मा कृतघ्नो निरपत्रपः ।
तादृङ्नराधिपो लोके वर्जनीयो नराधिप ॥३९॥

पदार्थ—

असंविभागी—बांट कर न खाने वाला
दुष्टात्मा—दुष्ट स्वभाव वाला
कृतघ्नः—कृतघ्न
निरपत्रपः—लज्जारहित
तादृक्—ऐसा
नराधिपः—राजा
लोके—लोक में
वर्जनीयः—छोड़ने के योग्य [होता है]
नराधिप—हे राजन् !

व्याख्या—

हे राजन् धृतराष्ट्र ! जो भोगों को अपने आश्रितों को न बांटकर स्वयं भोग करने वाला, दुष्ट स्वभाव वाला, कृतघ्न और निर्लज्ज राजा होता है वह लोक में छोड़ने योग्य होता है अर्थात् प्रजाजन उसे छोड़ देते हैं ॥३९॥

न च रात्रौ सुखं शेते ससर्प इव वेश्मनि ।
यः कोपयति निर्दोषं सदोषोऽभ्यन्तरं जनम् ॥४०॥

पदार्थ—

न—नहीं
च—और
रात्रौ—रात्रि में
सुखम्—सुखपूर्वक
शेते—सोता है,
ससर्पः—सर्पवाले
इव—जैसे
वेश्मनि—घर में
यः—जो
कोपयति—क्रोधित करता है
निर्दोषम्—निर्दोष को
सदोषः—दोषयुक्त
अभ्यन्तरम्—अन्तरङ्ग को=मित्र को
जनम्—पुरुष को ।

व्याख्या—

जैसे सर्पयुक्त घर में पुरुष सुखपूर्वक नहीं सोता है उसी प्रकार जो पुरुष स्वयं दोषयुक्त होता हुआ भी अपने निर्दोष अन्तरंग मित्रादि को क्रोधित करता है वह पुरुष रात्रि में भी सुख पूर्वक नहीं सोता है ॥४०॥

येषु दुष्टेषु दोषः स्याद् योगक्षेमस्य भारत ।
सदा प्रसादनं तेषां देवतानामिवाचरेत् ॥४१॥

## पदार्थ—

येषु—जिनमें
दुष्टेषु—दूषित हुवों में
दोषः—दोष
स्यात्—होवे
योगक्षेमस्य—योग-क्षेम संवधी
भारत—हे भरत कुलोत्पन्न !
सदा—सदा
प्रसादनम्—पूर्णता
तेषाम्—उनकी
देवतानाम्—देवताओं के
इव—समान
आचरेत्—आचरण करे ।

## व्याख्या—

हे भरत कुलोत्पन्न राजन् ! जो पुरुष योगक्षेम=जीवन निर्वाह सम्वन्धी किसी दोष से दूषित होवें=अर्थात् दरिद्र होवें उनको सदा प्रसन्न करे, जैसे देवगण अपने भक्तों की न्यूनता को पूरा करते हैं ।

इसका भाव यह है कि जो भृत्यादि वेतन की न्यूनता के दोष से युक्त हों उनको उचित वेतन देकर प्रसन्न करे ॥४१॥

येऽर्थाः स्त्रीषु समायुक्ताः प्रमत्तपतितेषु च ।
ये चानार्ये समासक्ताः सर्वे ते संशयं गताः ॥४२॥

## पदार्थ—

ये—जो
अर्थाः—इच्छित विषय
स्त्रीषु—स्त्रियों में
समासक्ताः—निहित हैं
प्रमत्तपतितेषु—पागल और पतितों में
च—और
ये—जो
च—और
अनार्ये—दुष्ट में
समासक्ता—निहित हैं
सर्वे—सब
ते—वे
संशयम्—संशय को
गताः—प्राप्त हैं ।

## व्याख्या—

जो धन सम्पत्ति आदि विषय स्त्रियों पागलों पतितों और दुष्ट पुरुषों के अधीन हों, उनका प्राप्त होना संशय-युक्त होता है।

**यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता।**
**मज्जन्ति तेऽवशा राजन् नद्यामश्मप्लवा इव ॥४३॥**

## पदार्थ—

यत्र—जहां
स्त्री—स्त्री
यत्र—जहां
कितवः—जुआरी
बालः—बालक या मूर्ख
यत्र—जहां
अनुशासिता—अनुशासन करने वाला [हो]
मज्जन्ति—डूब जाते हैं
ते—वे
अवशाः—न चाहते हुए
राजन्—हे राजन्
नद्याम्—नदी में
अश्मप्लवाः—पत्थर की नौका वाले [के]
इव—समान।

## व्याख्या—

जिस [देश समाज वा परिवार] में स्त्री-जुआरी-मूर्ख अधिकारी हों वह उसी प्रकार न चाहते हुये डूब जाते हैं=नष्ट हो जाते हैं, जैसे पत्थर की नौका पर बैठे नदी में डूब जाते हैं ॥४३॥

**प्रयोजनेषु ये सक्ता न विशेषेषु भारत।**
**तानहं पण्डितान् मन्ये विशेषा हि प्रसङ्गिनः ॥४४॥**

## पदार्थ—

प्रयोजनेषु—प्रयोजनों [की सिद्धि में]
ये—जो
सक्ताः—लगे हुए हैं
न—नहीं
विशेषेषु—विशेषों में
भारत—हे भरत कुलोत्पन्न !
तान्—उन को
अहम्—मैं
पण्डितान्—बुद्धिमान्
मन्ये—मानता हूँ,
विशेषाः—विशिष्ट
हि—निश्चय से
प्रसङ्गिनः—संघर्षकारी [हैं]।

## व्याख्या—

हे भरतकुलोत्पन्न राजन्! जो पुरुष अपने प्रयोजनों=अपने इष्ट पदार्थों की सिद्धि में ही लगे हुये हैं उनको मैं पण्डित बुद्धिमान् मानता हूँ, जो विशेष [व्यक्ति आदि] में आसक्त हैं वे मूर्ख हैं। क्योंकि विशेष व्यक्ति प्रायः संघर्ष में ही रत रहते हैं।

**यं प्रशंसन्ति कितवा यं प्रशंसन्ति चारणाः।**
**यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो न स जीवति मानवः ॥४५॥**

## पदार्थ—

यम्—जिस को (की)
प्रशंसन्ति—प्रशंसा करते हैं
कितवः—जुआरी,
यम्—जिसको (की)
प्रशंसन्ति—प्रशंसा करते हैं
चारणाः—चाटूकार,
यम्—जिस को (की)
प्रशंसन्ति—प्रशंसा करती हैं
बन्धक्यः—वेश्याएं
न—नहीं
सः—वह
जीवति—जीता है
मानवः—पुरुष।

## व्याख्या—

जिस पुरुष की जुआरी, चाटूकार और वेश्याएं प्रशंसा करती हैं वह पुरुष जीवित नहीं रहता=अर्थात् शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥४५॥

**हित्वा तान् परमेष्वासान् पाण्डवानमितौजसः।**
**आहितं भारतैश्वर्यं त्वया दुर्योधने महत् ॥४६॥**
**तं द्रक्ष्यसि परिभ्रष्टं तस्मात् त्वमचिरादिव।**
**ऐश्वर्यमदसम्मूढं बलिं लोकत्रयादिव ॥४७॥**

## पदार्थ—

हित्वा—छोड़ कर
तान्—उनको
परमेष्वासान्—महाधनुर्धारियों को
पाण्डवान्—पाण्डवों को
अमितौजसः—महापराक्रमियों को
आहितम्—रखा है
भारत—हे भरत कुलोत्पन्न!
ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य-राज्य को
त्वया—तूने

दुर्योधने–दुर्योधन में (अधीन)
महत्—महान्,
तम्—उस को
द्रक्षसि—देखेगा
परिम्भ्रष्ट—नष्ट हुए को
तस्मात्—उस [ऐश्वर्य] से
त्वम्—तू
अचिरादिव—शीघ्र ही,
ऐश्वर्यमदसंमूढम्—ऐश्वर्य के मद से मत्त हुए को
वलिम्—वलि को
लोकत्रयात्—तीनों लोकों से
इव—जैसे।

## व्याख्या—

हे भरत कुलोत्पन्न राजन् धृतराष्ट्र! तुमने महाधनुर्धारी महापराक्रमी पाण्डवों को त्याग करके जिस दुर्योधन के अधीन राज्यरूपी महान् ऐश्वर्य को रखा है, उस राज्यैश्वर्य को दुर्योधन से भ्रष्ट हुआ शीघ्र ही उसी प्रकार देखोगे जैसे तीनों लोकों से भ्रष्ट हुये ऐश्वर्य के मद से मूढ़ वलि को लोगों ने देखा था।

**विशेष**—किसी समय में वलि नाम के राजा ने तीनों लोकों पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। वह बलि उस ऐश्वर्य से मत्त होकर प्रजा का उत्पीडन करने लगा। तब विष्णु नामक देव ने वामन रूप धारण करके छोटी सी मांग को सामने रखकर तीन कदम रूप थोड़ा सा स्थान मांगा। वामन ने उसे स्वीकार कर लिया और वहीं ठहर कर वामन ने उस प्रजा-पीडक वलि को नष्ट कर दिया।

इस ऐतिहासिक घटना के साथ आधिभौतिक घटना का भी सम्मिश्रण हो गया है। बलि-**बल संवरणे** (छिपाने वाला) से 'इ' प्रत्यय होकर बनता है। यह तीनों लोकों का संवरण ढकने वाला बलि है अन्धकार। उसे उदीयमान विष्णुरूप सूर्य अपने तीन चरणों-स्वरूपों से अर्थात् उदय होने से पूर्व (उषाकाल के रूप में), उदय होते हुए और उदय होकर तीनों लोकों से नष्ट कर देता है। इसे ही वेद में विष्णु का त्रिविक्रमण या तीन क़दम रखना कहा गया है। जब उषाकाल होता है तब सूर्य की किरणों से द्युलोक=दूर आकाश

में अन्धकार का नाश होता है और उससे उत्तर काल उदित होने के काल में पृथिवी पर से अन्धकार दूर हो जाता है तथा उदय हो जाने पर सूर्य किरणों के सीधे पड़ने पर पाताल पृथिवी के नीचे के भाग या छिपे भागों का अन्धकार भी नष्ट हो जाता है।

**इति महाभारत उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये अष्टात्रिंशोऽध्याय ।।**

इस प्रकार महाभारत के उद्योगपर्व में प्रजागारपर्व नाम के आवान्तर विभाग में विदुर-हित वाक्य में अड़तीसवां अध्याय समाप्त हुआ।

**इति विदुरनीतौ षष्ठोऽध्यायः**

# अथ सप्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

अनीश्वरोऽयं पुरुषो भवाभवे
सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे कृतोऽयं
तस्माद् वद त्वं श्रवणे धृतोऽहम् ॥१॥

## पदार्थ—

धृतराष्ट्र बोला—

अनीश्वरः—अस्वामी [है]
अयम्—यह
पुरुषः—पुरुष
भवाभवे—ऐश्वर्य और दरिद्रता [की प्राप्ति] में
सूत्रप्रोता—सूत में लगाई गई
दारुमयी—लकड़ी की
इव—जैसे
योषा—स्त्री,
धात्रा—दैव से
तु—तो
दिष्टस्य—आदेश के
वशे—वश में
कृतः—किया गया है
अयम्—यह,
तस्माद्—इस लिये
श्रवणे—सुनने में
धृतः—धृतिमान्
अहम्—मैं [हूं]।

## व्याख्या—

धृतराष्ट्र ने कहा कि यह पुरुष ऐश्वर्य और दारिद्रय में स्वामी (= समर्थ) नहीं है, जैसे कोई सूत में पिरोई हुई लकड़ी की औरत (=कठ-पुतली) को नचाता है वैसे ही दैव (=भाग्य) के आदेश के वश में मैं हूँ। इसलिये मैं सुनने में धैर्ययुक्त हूँ [तुम जो कुछ कहो मैं सुनने के लिए तैयार हूँ]।

**विशेष**—अध्याय ६ के तैंतीसवें श्लोक में महात्मा विदुर ने अहंकारी जनों को दृष्टि में रख कर कहा था कि सम्पत्ति विपत्ति में मुख्यकारण भाग्य (=पूर्व कृत कर्म) ही हैं; उसी को धृतराष्ट्र ने उलटे रूप में उपस्थित करके इस श्लोक में भाव दर्शाया है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह भाग्य से हीप्रेरित हुआ कर रहा हूँ, मेरा इसमें कोई दोष नहीं है ॥१॥

## विदुर उवाच—

**अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।**
**लभते बुद्ध्यवज्ञानमवमानं च भारत ॥२॥**

### पदार्थ—

**विदुर बोले—**

अप्राप्तकालम्—असमय [में]
वचनम्—कहा वचन
बृहस्पतिः—बृहस्पति [देव गुरु]
अपि—भी
ब्रुवन्—बोलता हुआ
लभते—प्राप्त होता है
बुद्ध्यवज्ञानम्—बुद्धि हीनता को
अवमानम्—अपमान को
च—और
भारत—हे भरत कुलोत्पन्न !

### व्याख्या—

हे भरत कुलोत्पन्न धृतराष्ट्र ! असामयिक वचन बोलने वाला देवगुरु बृहस्पति भी बुद्धि हीनता और अपमान को प्राप्त होता है ।

**प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।**
**मन्त्रमूलबलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः ॥३॥**

### पदार्थ—

प्रियः—प्रिय
भवति—होता है
दानेन—देने से,
प्रियवादेन—प्रिय बोलने से
च—और
अपरः—दूसरा,
मन्त्रबलेन—विचार बल से
अन्यः—दूसरा
यः—जो
प्रियः—प्रिय
प्रियः—प्रिय
एव—ही
सः—वह [है] ।

## व्याख्या—

[हे राजन्!] कोई देन से प्रिय होता है कोई प्रिय बोलने से, और कोई मन्त्र बल (=उत्तम विचार देने के बल) से प्रिय होता है, [इनके अतिरिक्त] जो प्रिय है वह तो प्रिय है ही।

**विशेष**—इसका भाव है कि दुर्योधन आदि उक्त गुण वाले न होने पर भी तुम्हें स्वभाव से प्रिय लगते हैं ॥३॥

**द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः।**
**प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह ॥४॥**

## पदार्थ—

द्वेष्यः—द्वेष्य (जिस से द्वेष हो)
न—नहीं
साधुः—अच्छा
भवति—होता है,
न—नहीं
मेधावी—बुद्धिमान्,
न—नहीं
पण्डितः—ज्ञानी,
प्रिये—प्रिय में
शुभानि—शुभ
कार्याणि—कर्म [कारण होते हैं]
द्वेष्ये—द्वेष्य में
पापानि—पाप [कर्म]
च—और
एव—ही
ह—निश्चय से।

## व्याख्या—

मनुष्य जिससे द्वेष करता है वह साधु (श्रेष्ठ) नहीं होता=समझा जाता है, न बुद्धिमान् और न ज्ञानी प्रिय समझा जाता है। [परन्तु यह ठीक नहीं है वस्तुतः] प्रियता में उत्तम कर्मों और द्वेष्यता में पाप कर्मों को ही निश्चय से कारण मानना चाहिये।

**विशेष**—भाव यह है कि पाण्डव बुद्धिमान् ज्ञानी और शुभ कर्म वाले होने पर भी तुम्हारे द्वेष्य हैं और मूर्ख दुराचारी दुर्योधन आदि तुम्हें प्रिय हैं ॥४॥

**उक्तं मया जातमात्रेऽपि राजन्**
**दुर्योधनं त्यज पुत्रं त्वमेकम्।**

तस्य त्यागात् पुत्रशतस्य वृद्धि-
रस्यात्यागात् पुत्रशतस्य नाशः ॥५॥

पदार्थ—

उक्तम्—कहा था
मया—मैंने
जातमात्रे—उत्पन्न होते
अपि—ही
राजन्—हे राजन् !
दुर्योधनम्—दुर्योधन को
त्यज—छोड़ दे
पुत्रम्—पुत्र को
त्वम्—तू
एकम्—एक को,
तस्य—उस के
त्यागात्—त्याग से
पुत्रशतस्य—सौ पुत्रों की
वृद्धिः—वृद्धि [होगी]
अस्य—इस के
अत्यागात्—न छोड़ने से
पुत्रशतस्य—सौ पुत्रों का
नाशः—नाश [होगा] ।

व्याख्या—

हे राजन् ! मैंने दुर्योधन के उत्पन्न होते ही [उसके लक्षणों को देख कर ]कहा था कि तू इस एक पुत्र का त्याग कर दे, इसके त्याग से सौ पुत्रों की वृद्धि होगी और इसको न त्यागने से सौ पुत्रों का नाश होगा [परन्तु तुमने उस समय मेरा कहना नहीं माना, यह उसी का फल है] ।

**विशेष**—इस श्लोक में तथा उत्तर श्लोकों के द्वारा महात्मा विदुर दुर्योधन के उत्पत्ति-काल में कही गई अपनी बात को स्मरण करा रहे हैं ॥५॥

न वृद्धिर्बहु मन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत् ।
क्षयोऽपि बहु मन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ॥६॥

पदार्थ—

न—नहीं [उस]
वृद्धिः—वृद्धि को
बहु—बड़ा
मन्तव्या—समझना चाहिये
या—जो
वृद्धिः—वृद्धि
क्षयम्—नाश को
आवहेत्—प्राप्त करावे,
क्षयः—[उस] क्षय को
अपि—भी
बहु—अच्छा
मन्तव्यः—मानना चाहिये

यः—जो
क्षयः—नाश
वृद्धिम्—वृद्धि को
आवहेत्—प्राप्त कराये

## व्याख्या—

जो वृद्धि उत्तर काल में क्षय=नाश का कारण हो उसे अच्छा नहीं समझना चाहिये [इसके विपरीत] जो क्षय=हानि वृद्धि को प्राप्त करावे वह क्षय भी उत्तम होता है ॥६॥

**न स क्षयो महाराज यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ।**
**क्षयः स त्विह मन्तव्यो यं लब्ध्वा बहु नाशयेत ॥७॥**

## पदार्थ—

न—नहीं
सः—वह
क्षयः—हानि [है]
महाराज—हे महाराज !
यः—जो
क्षयः—हानि
वृद्धिम्—वृद्धि को
आवहेत्—प्राप्त करावे,
क्षयः—हानि
सः—उसको
तु—तो
इह—इस लोक में
मन्तव्यः—मानना चाहिये
यम—जिस को
लब्ध्वा—प्राप्त करके
बहु—बहुत को
नाशयेत्—नष्ट करे ।

## व्याख्या—

हे महाराज ! वह हानि हानि नहीं कहाती जो वृद्धि को प्राप्त कराती है, उस वृद्धि को तो क्षय=हानि ही जानना चाहिए जो बहुत का नाश करे ॥७॥

**समृद्धा गुणतः केचिद् भवन्ति धनतोऽपरे ।**
**धनवृद्धान् गुणैर्हीनान् धृतराष्ट्र विवर्जय ॥८॥**

## पदार्थ—

समृद्धाः—बढ़े हुए [होते हैं]
गुणतः—गुणों से
केचित्—कुछ
भवन्ति—होते हैं
धनतः—धन-सम्पत्ति से
अपरे—दूसरे,

धनवृद्धान्—धन से बढ़े हुओं को
गुणैः—गुणों से
हीनान्—हीनों को
धृतराष्ट्र—हे धृतराष्ट्र !
विवर्जय—छोड़ दे ।

हे धृतराष्ट्र ! कोई गुणों से समृद्ध होते है और कोई धन से, धन से वृद्ध=बढ़े हुए, परन्तु गुणों से हीनों को छोड़ देना चाहिये ।

**विशेष**—महात्मा विदुर कह रहे हैं कि उस समय तो तुमने मेरी बात नहीं मानी परन्तु अब भी समय है कि गुणहीन ऐश्वर्य युक्त दुर्योधन आदि को छोड़ दो, अन्यथा इसका फल अच्छा न होगा ।।८।।

सर्वं त्वामयतीयुक्तं भाषसे प्राज्ञसम्मतम् ।
न चोत्सहे सुतं त्युक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः ।।९।।

## धृतराष्ट्र उवाच

### पदार्थ—

धृतराष्ट्र बोला—

सर्वम्—सब
तु—निश्चय से
आयतीयुक्तम्—भविष्य के लिये युक्त=हितकारी
भाषसे—कहते हो
प्राज्ञसम्मतम्—बुद्धिमनों से मानने योग्य
न—नहीं
च—और
उत्सहे—समर्थ होता हू
त्यक्तुम्—छोड़ने को
सुतम्—पुत्र को,
यतः—जिस ओर
धर्मः—धर्म (है)
ततः—उसी ओर
जयः—जीत (होगी) ।

### व्याख्या—

धृतराष्ट्र बोला—हे विदुर तुम निश्चय से भविष्य के लिये हितकारी और बुद्धिमानों से मानने योग्य बात कहाते हो फिर मैं पुत्र [दुर्योधन] को छोड़ने में समर्थ नहीं हूँ, निश्चय ही जिधर धर्म है उसी की जय होगी ।।९।।

अतीवगुणसम्पन्नो न जातु विनयान्वितः ।
सुसूक्ष्ममपि भूतानामुपमर्दमुपेक्षते ।।१०।।

## पदार्थ—

अतीवगुणसम्पन्नः—अत्यन्त गुणोंसे युक्त
न—नहीं
जातु—निश्चय से
विनयान्वितः—विनययुक्त
सुसूक्ष्मम्—अत्यन्त सूक्ष्म
अपि—भी
भूतानाम्—भूतों का
उपमर्दम्—नाश [की]
उपेक्षते—उपेक्षा करता है।

## व्याख्या—

जो अधिक गुणों से सम्पन्न और विनय से युक्त है, वह भूतों=प्राणियों के तनिक से भी नाश की उपेक्षा नहीं करता है ॥१०॥

परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च।
परस्परविरोधे च यतन्ते सततोत्थिताः ॥११॥
सदोषं दर्शनं येषां संवासे सुमहद् भयम्।
अर्थादाने महान् दोषः प्रदाने च महद् भयम् ॥१२॥
ये वै भेदनशीलास्तु सकामा निस्त्रपाः शठाः।
ये पापा इति विख्याता संवासे परिगर्हिताः॥१३॥
युक्ताश्चान्यैर्महादोषैर्ये नरास्तान् विवर्जयेत्।

## पदार्थ—

परापवादनिरताः—दूसरों की निन्दा में लगे हुए
परदुःखोदयेषु—दूसरों के लिये दुखों के उत्पन्न करने में
च—और
परस्परविरोधे—परस्पर के विरोध में
च—और
यतन्ते—यत्न करते हैं
सततोत्थिताः—सदा जागरूक होकर,
सदोषम्—दोष युक्त
दर्शनम्—दर्शन=देखना या ज्ञान
येषाम्—जिनका
संवासे—समीप रहने में
सुमहद्भयम्—बड़ा भय [है],
अर्थादाने—[जिनसे] अर्थ लेने में
महान्—बड़ा
दोषः—दोष [है]

प्रदाने—देने में
च—और
महद्भयम्—बड़ा भय (है),
ये—जो
वै—निश्चय से
भेदनशीलाः—फूट डालने वाले हैं
तु—और
सकामाः—बुरी कामना वाले
निस्त्रपाः—निर्लज्ज
शठाः—धूर्त [हैं],
ये—जो
पापाः—पापी
इति—इस रूप से
ख्याताः—प्रसिद्ध हैं,
संवासे—समीप रहने में
परिगर्हिताः—निन्दित हैं
युक्ताः—युक्त हैं
च—और
अन्यैः—अन्य
महादोषैः—महान् दोषों से
ये—जो
नराः—मनुष्य
तान्—उनको
विवर्जयेत्—छोड़ देवे।

## व्याख्या—

दूसरों की निन्दा में तत्पर, दूसरों के दुःखों को उत्पन्न करने में लगे हुए, परस्पर के विरोध में सदा प्रयत्नशील और जिनका दर्शन ही दोषयुक्त है जिनके समीप में रहने में महान् भय है, जिन से अर्थ लेने और देने में बड़ा भय है, जो परस्पर फूट डालने वाले, निकृष्ट कामना वाले, निर्लज्ज धूर्त और जो पापी के रूप में प्रसिद्ध हैं, जो समीप रहने योग्य नहीं तथा जो अन्य महादोषों से युक्त हैं, ऐसे पुरुषों को छोड़ देना चाहिये ॥११, १२, १३॥

**निवर्तमाने सौहार्दे प्रीतिर्नीचे प्रणश्यति ॥१४॥**
**या चैव फलनिर्वृत्तिः सौहृदे चैव यत् सुखम् ।**
**यतते चापवादाय यत्नमारभते क्षये ॥१५॥**
**अल्पेऽप्यपकृते मोहान्न शान्तिमधिगच्छति ।**
**तादृशैः संगतं नीचैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥१६॥**
**निशम्य निपुणं बुद्ध्या विद्वान् दूराद् विवर्जयेत् ।**

## पदार्थ—

निवर्तमाने—निवृत्त हो जाने पर
सौहार्दे—मित्रता के
प्रीतिः—प्रीति, प्रेम
नीचे—नीच पुरुष में

प्रणश्यति—नष्ट हो जाती है,
या—जो
च—और
एव—ही
फलनिर्वृत्तिः—फल की प्राप्ति
सौहृदे—मित्रता में
च—और
एव—ही
यत्—जो
सुखम्—सुख,
यतते—यत्न करता है
च—और
अपवादाय—निन्दा के लिये
यत्नम्—यत्न
आरभते—आरम्भ करता है
क्षये—नाश के लिये
अल्पे—थोड़े से
अपि—भी

अपकृते—अपकार होने पर
मोहात्—मोह=अज्ञान से
न—नहीं
शान्तिम्—शान्ति को
अधिगच्छति—प्राप्त होता है,
तादृशैः—ऐसों के साथ
संगतम्—संगति को
नीचैः—नीचों के साथ
नृशंसैः—कठोर
अकृतात्मभिः—दुष्टों के साथ
निशम्य—सुनकर [और]
निपुणम्—अच्छे प्रकार
बुध्वा—बुद्धि से
विद्वान्—विद्वान् [को चाहिये कि उन को]
दूरात्—दूर से
विवर्जयेत्—छोड़ देवे ।

## व्याख्या—

मित्रता के कारण के समाप्त हो जाने पर नीच पुरुष में प्रीति और जो फल की प्राप्ति है वह नष्ट हो जाती है, मित्रता में जो सुख है भी नष्ट हो जाता है । जो निन्दा के लिये और नाश के लिये यत्न करता है, जो थोड़े से अपकार के हो जाने पर शान्त नहीं होता, ऐसे नीच कठोर दुष्ट जनों को जान कर उनके साथ संगति दूर से ही विद्वानों को छोड़ देनी चाहिये ॥१४, १५, १६½ ॥

**यो ज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरम् ॥१७॥**
**स पुत्रपशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानन्त्यमश्नुते ।**

## पदार्थ—

यः—जो
ज्ञातिम्—सम्बन्धियों को [पर]

अनुगृह्णाति—अनुग्रह करता है,
दरिद्रम्—दरिद्र को

दीनम्—दीन को
आतुरम्—दुखियों को [अनुगृहीत करता है],
सः—वह
पुत्रपशुभिः—पुत्र और पशुओं से
वृद्धिम्—वृद्धि को
श्रयः—कल्याण को
च—और
आनन्त्यम्—अन्तरहित को
अश्नुते—भोगता है=प्राप्त करता है।

## व्याख्या—

जो पुरुष अपने सम्बन्धियों, दरिद्रों, दीनों और दुखियों पर कृपा करता है, वह पुत्र और पशुओं से वृद्धि को प्राप्त होता है और अन्तरहित कल्याण को प्राप्त होता है ॥१७॥

**ज्ञातयो वर्धनीयास्तैर्य इच्छन्त्यात्मनः शुभम् ॥१८॥**
**कुलवृद्धिं च राजेन्द्र तस्मात् साधु समाचार ।**
**श्रेयसा योक्ष्यते राजन् कुर्वाणो ज्ञातिसत्क्रियाम् ॥१९॥**
**विगुणा ह्यपि संरक्ष्या ज्ञातयो भरतर्षभ ।**
**किं पुनर्गुणवन्तस्ते त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणः ॥२०॥**

## पदार्थ—

ज्ञातयः—सम्बन्धियों को
वर्धनीयाः—बढ़ाना चाहिये
ये—जो
इच्छन्ति—चाहते हैं
आत्मनः—अपना
शुभम्—कल्याण,
कुलवृद्धिम्—कुल की वृद्धि को
च—और
राजेन्द्र—हे राजेन्द्र !
तस्मात्—इसलिये
साधु—साधु
समाचर—आचरण कर,
श्रेयसा—कल्याण से
योक्ष्यते—युक्त होवोगे
राजन्—हे राजन् !
कुर्वाणः—करते हुए
ज्ञातिसत्क्रियाम्—सम्बन्धियों के सत्कार को,
विगुणाः—गुणरहित
अपि—भी
संरक्ष्याः—रक्षा के योग्य होते हैं
ज्ञातयः—सम्बन्धी जन
भरतर्षभ—हे भरत कुल में श्रेष्ठ !
किम्—क्या
पुनः—फिर

गुणवन्तः—गुणवान्
ते--वे [जो]
त्वत्प्रसादाभिकांक्षिणः—तुम्हारी कृपा चाहते हैं ।

### व्याख्या—

जो पुरुष अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अपने सम्बन्धियों की और कुल की वृद्धि करें । इसलिये हे राजेन्द्र! [पाण्डवों के प्रति] अच्छा व्यवहार करो । सम्बन्धियों के साथ अच्छा व्यवहार करने से कल्याण को प्राप्त होवोगे । हे भरत कुल में श्रेष्ठ राजन् ! गुणरहित सम्बन्धी जन भी रक्षा के योग्य होते हैं, फिर जो तुम्हारी कृपा को चाहने वाले हैं उनके लिये क्या कहना है ॥१८--२०॥

**प्रसादं कुरु वीराणां पाण्डवानां विशाम्पते ।**
**दीयन्तां ग्रामकाः केचित् तेषां वृत्त्यर्थमीश्वर ॥२१॥**

### पदार्थ—

प्रसादम्—कृपा को
कुरु—करो
वीराणाम्—वीरों
पाण्डवानाम्—पाण्डवों पर
विशाम्पते—हे राजन् !,
दीयताम्—देओ
ग्रामकाः—छोटे ग्राम
केचित्—कुछ
तेषाम्—उनके
वृत्त्यर्थम्—निर्वाह के लिये
ईश्वर—हे राजन् ।

### व्याख्या—

हे राजन् ! वीर पाण्डवों पर कृपा करो, प्रसन्न होवो, उन्हें कुछ गांव निर्वाह के लिये दे दो ॥२१॥

**एवं लोके यशः प्राप्तं भविष्यति नराधिप ।**
**वृद्धेन हि त्वया कार्यं पुत्राणां तात शासनम् ॥२२॥**

### पदार्थ—

एवम्—इसी प्रकार
लोके—लोक में
भविष्यति—होगा
नराधिप—हे राजन् !,
यशः—यश
प्राप्तम्—प्राप्त
वृद्धेन—वृद्ध के द्वारा
हि—निश्चय से

त्वया—तुम से
कार्यम्—किया जाना चाहिये
पुत्राणाम्—पुत्रों पर
तात—हे ज्येष्ठ भ्रातः !
शासनम्—शासन।

### व्याख्या—

हे राजन्ः ! तुम्हें इस प्रकार लोक में यश प्राप्त होगा, तुम वृद्ध = ज्येष्ठ के द्वारा निश्चय से पुत्रों पर शासन किया जाना चाहिये अर्थात् उन्हें सुमार्ग पर चलाना चाहिये ॥२२॥

**मया चापि हितं वाच्यं विद्धि मां त्वद्धितैषिणम् ।**
**ज्ञातिभिर्विग्रहस्तात न कर्तव्यः शुभार्थिना ।**
**सुखानि सह भोज्यानि ज्ञातिभिर्भरतर्षभ ॥२३॥**

### पदार्थ—

मया—मुझे
च—और
अपि—भी
हितम्—हितकारी वचन
वाच्यम्—कहना चाहिये,
विद्धि—जानो
माम्—मुझको
त्वद्धितैषिणम्—तुम्हारे हितैषी को,
ज्ञातिभिः—सम्बन्धियों के साथ
विग्रहः—लड़ाई, झगड़ा
तात—हे ज्येष्ठ भ्रातः !
न—नहीं
कर्तव्यः—करना चाहिये
शुभार्थिना—कल्याण चाहने वाले को।
सुखानि—सुख
सह—साथ मिलकर
भोज्यानि—भोगने चाहियें
ज्ञातिभिः—संबन्धियों के साथ
भरतर्षभ—हे भरतकुल में श्रेष्ठ!

### व्याख्या—

हे ज्येष्ठ भ्रातः ! मुझे भी हितकारी वचन ही कहने चाहियें। मुझे आप अपना हितैषी समझें। कल्याण चाहने वाले को संवन्धियों के साथ लड़ाई झगड़ा नहीं करना चाहिये। हे भरतकुल में श्रेष्ठ राजन् ! सुख सम्बन्धिजनों के साथ मिल कर भोगने चाहियें ॥२३॥

**सम्भोजनं संकथनं सम्प्रीतिश्च परस्परम् ।**
**ज्ञातिभिः सह कार्याणि न विरोधः कदाचन ॥२४॥**

ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च ।
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ॥२५॥

पदार्थ—

संभोजनम्—मिल कर भोगों को भोगना,
संकथनम्—मिल कर बातचीत करना,
संप्रीतिः—समान प्रीति [रखना]
च—और
परस्परम्—परस्पर,
ज्ञातिभिः—सम्बन्धियों के
सह—साथ
कार्याणि—करने चाहियें
न—नहीं
विरोधः—विरोध
कदाचन—कभी भी ।
ज्ञातयः—सम्बन्धी जन,
तारयन्ति—पार कर देते हैं
इह—इस लोक में
ज्ञातयः—सम्बन्धी जन
मज्जयन्ति—डुबो देते हैं ।
च—और,
सुवृत्ताः—अच्छे आचरण वाले
तारयन्ति—तार देते हैं
इह—इस लोक में,
दुर्वृत्ताः—बुरे व्यवहार वाले
मज्जयन्ति—डुबो देते हैं ।

व्याख्या—

भोगों को भोगना, बात चीत करना और परस्पर प्रीति रखना, ये कार्य संबन्धियों के साथ मिलकर करने चाहियें, परस्पर कभी विरोध नहीं करना चाहिये, क्यों कि सम्बन्धी जन ही इस लोक में दुःखों से पार लगाने वाले होते हैं और वे ही डुबोने वाले भी होते हैं । अच्छे आचरण वाले तार देते है और बुरे आचरण वाले डुबो देते हैं ॥२४-२५॥

सुवृत्तो भव राजेन्द्र पाण्डवान् प्रति मानद ।
अधर्षणीयः शत्रूणां तैर्वृतस्त्वं भविष्यसि ॥२६॥

पदार्थ—

सुवृत्तः—अच्छे व्यवहार वाले
भव—होओ
राजेन्द्र—हे राजेन्द्र !
पाण्डवान्—पाण्डवों के
प्रति—प्रति
मानद—मान के योग्य !

अधर्षणीयः—पराजित न हो सकने योग्य
शत्रूणाम्—शत्रुओं के (से)
तैः—उन से
त्वम्—तुम
भविष्यसि—होवोगे।

## व्याख्या—

हे मान देने वाले राजेन्द्र ! तुम पाण्डवों के प्रति अच्छे व्यवहार करने वाले होवो। उन पाण्डवों से स्वीकार किये गये तुम, शत्रुओं से अधर्षणीय होवोगे ॥२६॥

**श्रीमन्तं ज्ञातिमासाद्य यो ज्ञातिरवसीदति ।**
**दिग्धहस्तं मृग इव स एनस्तस्य विन्दति ॥२७॥**

## पदार्थ—

श्रीमन्तम्—ऐश्वर्य सम्पन्न को
ज्ञातिम्—सम्बन्धी जन को
आसाद्य—प्राप्त करके
यः—जो
ज्ञातिः—सम्बन्धी जन
अवसीदति—दुःखी होता है,
दिग्धहस्तम्—विषाक्त वाण हाथ में धारण किए हुए को
मृग इव—मृग के समान,
सः—वह
एनः—पाप
तस्य—उस को
गच्छति—प्राप्त होता है

## व्याख्या—

जैसे विषाक्त वाण हाथ में लिये हुए को प्राप्त हुआ मृग मारा जाता है और वह मृग-हनन रूपी पाप व्याध को लगता है, उसी प्रकार ऐश्वर्य सम्पन्न सम्बन्धी को प्राप्त होकर भी जो सम्बन्धी दुःख को प्राप्त होता है उस का पाप ऐश्वर्य सम्पन्न सम्बन्धी को लगता है।

**विशेष**—इस श्लोक में विदुर कहते है कि ऐश्वर्य सम्पन्न ताऊ को (तुम्हें) प्राप्त हो कर भी तुम्हारे भतीजे पाण्डव वन में मारे मारे भटक रहे हैं, इस का पाप तुम्हें लगेगा।

इस श्लोक में व्यक्त किया है कि धनादि से सम्पन्न व्यक्तियों का कर्तव्य है कि वे अपने दरिद्र सम्बन्धियों, आश्रितों और देशवासियों का ध्यान रखें। जिस देश, समाज वा परिवार के साधन सम्पन्न पुरुष अपने देश के, समाज के

परिवार के दीन दुखियों के कष्टों को दूर नहीं करते वे अकेले ऐश्वर्य का भोग करने वाले पापी होते हैं। यही बात ऋग्वेद में कही है—केवलाघो भवति केवलादी (ऋ० १०।११७।६) अकेले ऐश्वर्य का भोग करने वाला पापी होता है ॥२७॥

पश्चादपि नरश्रेष्ठ तव तापो भविष्यति।
तान् वा हतान् सुतान् वापि श्रुत्वा तदनुचिन्तय ॥२८॥

पदार्थ—

पश्चात्—पीछे
अपि—भी
नरश्रेष्ठ—हे श्रेष्ठ पुरुष !
तव—तुम्हारा (तुम्हें)
तापः—सन्ताप
भविष्यति—होगा
तान्—उन [पाण्डवों] को
वा—अथवा
हतान्—मरे हुओं को
सुतान्—पुत्रों को
वा—अथवा
अपि—भी
श्रुत्वा—सुनकर
तत—उस को (का)
अनुचिन्तय—चिन्तन (विचार) करो।

व्याख्या—

हे नरश्रेष्ठ-धृतराष्ट्र ! उन पाण्डवों को अथवा अपने पुत्रों को मरा हुआ सुनकर भी तो पीछे तुम्हें संताप होगा, उसको पहले ही विचार करो ॥ २८ ॥

येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा।
आदावेव न तत् कुर्यादध्रुवे जीविते सति ॥२९॥

पदार्थ—

येन—जिस से
खट्वाम्—खाट को (पर)
समारूढः—चढ़ा (=लेटा) हुआ
परितप्येत—दुःखी होवे
कर्मणा—कर्म से
आदौ—आरम्भ में
एव—ही
न—नहीं
तत्—उस को
कुर्यात्—करे
अध्रुवे—नष्ट होने वाले
जीविते—जीवन (के)
सति—होने पर।

### व्याख्या—

जिस कर्म को करके मनुष्य खाट पर पड़ा हुआ संताप करे [लोक में मुंह दिखाने लायक न रहे] उस कर्म को पहले ही न करे ।। २६ ।।

न कश्चिन्नापनयते पुमानन्यत्र भार्गवात् ।
शेषसम्प्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्वेव तिष्ठति ।।३०।।

### पदार्थ—

न—नहीं
कश्चित्—कोई
न—नहीं
अपनयते—अनीति करता है
पुमान्—पुरुष
अन्यत्र—छोड़ कर
भार्गवात्—शुक्राचार्य से (को)
शेषसम्प्रतिपत्तिः—भविष्य में होने वाले कार्य का विचार
तु—तो
बुद्धिमत्सु—बुद्धिमानों में
एव—ही
तिष्ठति—ठहरता है ।

### व्याख्या—

संसार में नीति-शास्त्र कर्ता शुक्राचार्य के अतिरिक्त कोई ऐसा पुरुष नहीं है जो अनीति का आचरण न करता हो, इसलिये [विगत कार्य की चिन्ता छोड़कर[ भविष्य में होने वाले कार्य का विचार ही बुद्धिमानों को करना चाहिये ।

**विशेष**—आचार्य विदुर का शुक्राचार्य विषयक यह ऐतिहासिक संकेत बड़े महत्व का है । इतिहास से विदित है कि शुक्राचार्य असुरों के गुरु थे, परन्तु उन्होंने कभी भी असुरों को अनीति अपनाने का उपदेश नहीं किया । शुक्राचार्य की शुक्रनीति राजनीति-शास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । शुक्राचार्य महर्षि भृगु के पुत्र थे । उनके द्वारा प्रोक्त नीति-शास्त्र का भार्गव-नीति के रूप में महाभारत में बहुधा उल्लेख मिलता है ।। ३० ।।

दुर्योधनेन यद्येतत् पापं तेषु पुरा कृतम् ।
त्वया तत् कुलवृद्धेन प्रत्यानेयं नरेश्वर ।।३१।।

### पदार्थ—

दुर्योधनेन—दुर्योधन के द्वारा
यदि—यदि
एतत्—यह
पापम्—अनुचित कर्म

तेषु—उन (पाण्डवों) के प्रति
पुरा—पहले
कृतम्—किया गया
त्वया—तुम्हारे द्वारा
तत्—वह
कुलवृद्धेन—कुल में वृद्ध के द्वारा
प्रत्यानेयम्—निवारित करने योग्य है
नरेश्वर—हे राजन् !

## व्याख्या—

हे राजन् यदि दुर्योधन के द्वारा पाण्डवों के प्रति [राज्य हरण आदि] अनुचित कार्य किया गया है, तो तुम कुलवृद्ध के द्वारा निवारित करने योग्य है अर्थात् उनका राज्य उन्हें वापस करना योग्य है ॥३१॥

**तांस्त्वं पदे प्रतिष्ठाप्य लोके विगतकल्मषः ।**
**भविष्यसि नरश्रेष्ठ पूजनीयो मनीषिणाम् ॥३२॥**

## पदार्थ—

तान्—उन (पाण्डवों) को
त्वम्—तुम
पदे—स्थान (=राज्य) में
प्रतिष्ठाप्य—स्थिर करके
लोके—लोक में
विगतकल्मषः—पापरहित होकर
भविष्यसि—होवोगे
नरश्रेष्ठ—हे नर-श्रेष्ठ !
पूजनीयः—पूजायोग्य
मनीषिणाम्—बुद्धिमानों के ।

## व्याख्या—

हे नरश्रेष्ठ ! तुम उन पाण्डवों को उन के राज्य में स्थिर करके स्वयं पाप रहित होकर लोक में बुद्धिमानों के द्वारा पूजनीय (=प्रशंसित) होवोगे ॥३२॥

**सुव्याहृतानि धीराणां फलतः परिचिन्त्य यः ।**
**अध्यवस्यति कार्येषु चिरं यशसि तिष्ठति ॥३३॥**

## पदार्थ—

सुव्याहृतानि—अच्छे प्रकार कहे गये
धीराणांम्—धीर पुरुषों के (वचनों को)

फलतः—फल [की दृष्टि] से
परिचिन्त्य—विचार कर
यः—जो
अध्यवस्यति—निश्चय करता है [वह]
कार्येषु—कार्यों [के विषय] में
चिरम्—चिर काल तक
यशसि—यश में
तिष्ठति—स्थिर रहता है।

## व्याख्या—

जो पुरुष धीर उपदेशक पुरुषों के द्वारा कहे गये अच्छे वचनों को फल की दृष्टि से विचार करके कार्यों का निश्चय करता है, वह चिर काल तक यशस्वी होता है ।। ३३ ।।

**असम्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सुकुशलैरपि ।**
**उपलभ्यं चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम् ॥३४॥**

## पदार्थ—

असम्यक्—ठीक नहीं [है]
उपयुक्तम्—उपदिष्ट
हि—निश्चय से
ज्ञानम्—ज्ञान
सुकुशलैः—अच्छे कुशल पुरुषों द्वारा
अपि—भी
उपलभ्यम्—जानने योग्य को
च—क्यों कि
अविदितम्—नहीं जाना
विदितम्—ज्ञात को
च—और
अननुष्ठितम्—नहीं किया।

## व्याख्या—

अच्छे पुरुषों के द्वारा भी उपदिष्ट ज्ञान व्यर्थ ही है, क्योंकि जानने योग्य को [उसने] नहीं जाना और जान लेने पर उसके अनुसार आचरण नहीं किया। कथन यह है कि मेरा कथन भी तुम्हारे लिए निष्फल है ॥३४॥

**पापोदयफलं विद्वान् यो नारभति वर्धते ॥३५॥**

## पदार्थ—

पापोदयफलम्—पापरूप फल के हेतु [कर्म को]
विद्वान्—ज्ञानी [पुरुष]
यः—जो
न—नहीं
आरभति—आरम्भ करता है
वर्धते—उन्नति करता है।

### व्याख्या—

जो विद्वान् पुरुष पाप के हेतुभूत कर्म का आरम्भ नहीं करता है, वह उन्नति करता है ॥३५॥

**यस्तु पूर्वकृतं पापमविमृश्यानुवर्तते ।**
**अगाधपङ्के दुर्मेधा विषमे विनिपात्यते ॥३६॥**

### पदार्थ—

यः—जो
तु—तो
पूर्वकृतं—पहले किये हुए
पापम्—दुष्कर्म को
अविमृश्य—न विचार कर
अनुवर्त्तते—अनुसरण करता है
अगाधपङ्के—अथाह कीचड़ में (=बड़ी विपत्ति में)
दुर्मेधाः—मूढमति
विषमे—विकट
विनिपात्यते—पड़ जाता है ।

### व्याख्या—

जो मनुष्य अपने पूर्व किये हुए दुष्कर्म पर विचार न कर के उसे निरन्तर करता रहता है, वह मूढमति विकट विपत्ति में पड़ जाता है ॥३६॥

**मन्त्रभेदस्य षट् प्राज्ञो द्वाराणीमानि लक्षयेत् ।**
**अर्थसंततिकामश्च रक्षेदेतानि नित्यशः ॥३७॥**
**मदं स्वप्नमविज्ञानमाकारं चात्मसम्भवम् ।**
**दुष्टामात्येषु विश्रम्भं दूताच्चाकुशलादपि ॥३८॥**

### पदार्थ—

मन्त्रभेदस्य—मन्त्र-भेद के
षट्—छः
प्राज्ञः—बुद्धिमान्
द्वाराणि—द्वारों को
इमानि—इनको
लक्षयेत्—जाने
अर्थसन्ततिकामः—धन की निरन्तर वृद्धि की इच्छा वाला
च—और
रक्षेत्—रक्षा करे
एतानि—इन की
नित्यशः—सदा
मदम्—[मादक द्रव्य के सेवन से होने वाली] चित्त की जड़ता को
स्वप्नम्—निद्रा को
अविज्ञानम्—[शत्रु के गुप्तचर

आदि के] अज्ञान को
आकारम्—[नाक मुख आदि के] हावभाव को
च—और
आत्मसम्भवम्—अपने [अङ्गों] में होने वाले
दुष्टामात्येषु—दुष्ट मन्त्रियों पर
विश्रम्भम्—विश्वास को
दूतात्—दूत से (पर)
च—और
अकुशलात्—मूर्ख से
अपि—भी।

## व्याख्या—

मन्त्रभेद (गुप्त-निश्चयों के प्रकट हो जाने) के इन छः द्वारों (प्रकारों) को बुद्धिमान् व्यक्ति जाने, और धन की निरन्तर कामना करने वाला मनुष्य सदा इनकी रक्षा करे—मद्य सेवन से होने वाली चित्त की जड़ता, निद्रा, अज्ञान, अपने मुख आदि के हावभाव, दुष्ट मंत्रियों पर विश्वास और मूर्ख दूत पर भी विश्वास ।।३७-३८।।

**द्वाराण्येतानि यो ज्ञात्वा संवृणोति सदा नृप।**
**त्रिवर्गाचरणे युक्तः स शत्रूनधितिष्ठति ।।३९।।**

## पदार्थ—

द्वाराणि—द्वारों को
एतानि—इनको
यः—जो
ज्ञात्वा—जान कर
संवृणोति—बन्द कर देता है
सदा—सदा
नृप—हे राजन्!
त्रिवर्गाचरणे—धर्म-अर्थ-काम के व्यापार में
युक्तः—संलग्न
सः—वह
शत्रून्—शत्रुओं को
अधितिष्ठति—वश में कर लेता है।

## व्याख्या—

हे राजन्! इन द्वारों को जानकर जो मनुष्य [इन्हें] सदा बन्द रखता है, धर्म-अर्थ-काम के व्यापार में संलग्न वह मनुष्य शत्रुओं को वश में कर लेता है ।।३९।।

**न वै श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा।**
**धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ।।४०।।**

### पदार्थ—

न—नहीं
वै—निश्चय से
श्रुतम्—शास्त्र को
अविज्ञाय—न जान कर
वृद्धान्—वृद्ध [अनुभवी] लोगों की
अनुपसेव्य—सेवा न कर के
वा—अथवा
धर्मार्थौ—धर्म और अर्थ को
वेदितुम्—जानने के लिए
शक्यौ—समर्थ
बृहस्पतिसमैः—बृहस्पति के समान [बुद्धिमान् पुरुषों] के द्वारा
अपि—भी।

### व्याख्या—

शास्त्र को न जानकर और अनुभवी वृद्धजनों की सेवा न कर के बृहस्पति के समान बुद्धिमान् व्यक्ति भी धर्म तथा अर्थ को जानने में समर्थ नहीं होता ॥४०॥

**नष्टं समुद्रे पतितं नष्टं वाक्यमशृण्वति।**
**अनात्मनि श्रुतं नष्टं नष्टं हुतमनग्निकम् ॥४१॥**

### पदार्थ—

नष्टम्—नष्ट [हो जाती है]
समुद्रे—समुद्र में
पतितम्—पड़ी हुई [वस्तु]
नष्टम्—नष्ट [हो जाता है]
वाक्यम्—वाक्य
अशृण्वति—न सुनने वाले के प्रति [कहा गया]
अनात्मनि—बुद्धिहीन पुरुष में
श्रुतम्—शास्त्र
नष्टम्—नष्ट हो जाता है
नष्टम्—नष्ट हो जाता है
हुतम्—हवन
अनग्निकम्—अग्निरहित अर्थात् राख में [किया हुआ]।

### व्याख्या—

समुद्र में गिर जाने पर वस्तु नष्ट हो जाती है, सावधानी से न सुनने वाले से कहा हुआ वचन नष्ट हो जाता है। बुद्धिहीन पुरुष में शास्त्र नष्ट हो जाता है, और अग्नि रहितराख में किया जाने वाला हवन नष्ट हो जाता है ॥४१॥

**मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्ध्या सम्पाद्य चासकृत्।**
**श्रुत्वा दृष्ट्वाथ विज्ञाय प्राज्ञैर्मैत्रीं समाचरेत् ॥४२॥**

## पदार्थ—

मत्या—मनन के द्वारा
परीक्ष्य—परीक्षा करके
मेधावी—बुद्धिमान्
बुद्ध्या—अनुभव से
सम्पाद्य—[कार्य की योग्यता का] निश्चय करके
च—और
असकृत्—अनेक बार
श्रुत्वा—[अन्यों से] सुन कर
दृष्ट्वा—[स्वयं] देख कर
अथ—और
विज्ञाय—विशेष रूप से जान कर
प्राज्ञैः—बुद्धिमान् जनों के साथ
मैत्रीम्—मित्रता का
समाचरेत्—व्यवहार करे।

## व्याख्या—

बुद्धिमान् पुरुष युक्तिपूर्वक मनन के द्वारा परीक्षा करके और अपने अनुभव द्वारा कार्य की योग्यता का अनेक बार निश्चय करके, अन्य मनुष्यों से सुनकर, स्वयं देखकर तथा विशेष रूप से जानकर बुद्धिमान् जनों के साथ मित्रता का व्यवहार करे ॥४२॥

**अकीर्तिं विनयो हन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रमः।**
**हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥४३॥**

## पदार्थ—

अकीर्त्तिम्—अपयश को
विनयः—नम्रता
हन्ति—नष्ट करती है
हन्ति—नष्ट करता है
अनर्थम्—अनर्थ को
पराक्रमः—पराक्रम
हन्ति—नष्ट करती है
नित्यम्—सदा
क्षमा—क्षमा
क्रोधम्—क्रोध को
आचारः—सदाचार
हन्ति—नष्ट करता है
अलक्षणम्—कुलक्षण (दुर्व्यसन) को।

## व्याख्या—

नम्रता अपयश को नष्ट कर देती है, पराक्रम अनर्थ (संकट) को नष्ट करता है, क्षमा सदा क्रोध को दूर भगा देती है और सदाचार दुर्व्यसनों को नष्ट कर देता है ॥४३॥

परिच्छदेन क्षेत्रेण वेश्मना परिचर्यया ।
परीक्षेत कुलं राजन् भोजनाच्छादनेन च ॥४४॥

पदार्थ—

परिच्छदेन—भोग्य सामग्री से
क्षेत्रेण—जन्म-स्थान से
वेश्मना—आवास से
परिचर्यया—सेवा से
परीक्षेत—परीक्षा करे
कुलम्—कुल की
राजन्—हे राजन् !
भोजनाच्छादनेन—भोजन तथा वस्त्र से
च—और ।

व्याख्या—

हे राजन् ! भोग्य सामग्री, जन्मस्थान, आवास, सेवा और भोजन तथा वस्त्र से कुल की परीक्षा करे ।।४४।।

उपस्थितस्य कामस्य प्रतिवादो न विद्यते ।
अपि निर्मुक्तदेहस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥४५॥

पदार्थ—

उपस्थितस्य—उपस्थित
कामस्य—कामना का
प्रतिवादः—विरोध
न—नहीं
विद्यते—होता है
अपि—भी
निर्मुक्तदेहस्य—शरीर के अहङ्कार से रहित मनुष्य को
कामरक्तस्य—कामासक्त का
किम्—क्या
पुनः—फिर ।

व्याख्या—

शरीर के अभिमान से रहित मनुष्य को भी स्वतः प्राप्त किसी अभीष्ट वस्तु का विरोध नहीं होता है, फिर कामासक्त मनुष्य का तो कहना ही क्या ।।४५।।

प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम् ।
मित्रवन्तं सुवाक्यं च सुहृदं परिपालयेत् ॥४६॥

## पदार्थ—

प्राज्ञोपसेविनम्—विद्वानों के सेवक को
वैद्यम्—विद्वान् को
धार्मिकम्—धार्मिक को
प्रियदर्शनम्—दर्शन मात्र से प्रसन्नता देने वाले को
मित्रवन्तम्—मित्रों से युक्त को
सुवाक्यम्—मधुरभाषी को
च—और
सुहृदम्—मित्र को
परिपालयेत्—सर्वथा रक्षा करे।

## व्याख्या—

विद्वानों के सेवक, विद्वान, धार्मिक, दर्शन मात्र से प्रसन्न करने वाले, मित्रों से युक्त तथा मधुरभाषी मित्र की सर्वथा रक्षा करे ।।४६।।

**दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लङ्घयेत् ।**
**धर्मापेक्षी मृदुर्ह्रीमान् स कुलीनशताद् वरः ।।४७।।**

## पदार्थ—

दुष्कुलीनः—अधम कुल में उत्पन्न होने वाला
सुकुलीनः—उत्तम कुल में उत्पन्न होने वाला
वा—अथवा
मर्यादाम्—सीमा को
यः—जो
न—नहीं
लङ्घयेत्—लांघता है
धर्मापेक्षी—धर्म की अपेक्षा रखने वाला
मृदुः—कोमल-[स्वभाव]
ह्रीमान्—लज्जाशील [है]
सः—वह
कुलीनशतात्—सैकड़ों कुलीनों से
वरः—उत्तम [है]।

## व्याख्या—

उत्तम कुल में जन्मा हो या अधम कुल में, जो मनुष्य सीमा का उल्लघन नहीं करता है, धर्म की अपेक्षा रखने वाला, कोमल-स्वभाव एवं लज्जाशील है, वह सैकड़ों उत्तम कुलोत्पन्न मनुष्यों से श्रेष्ठ है अर्थात् कुल से शील श्रेष्ठ होता है ।।४७।।

**ययोश्चित्तेन वा चित्तं निभृतं निभृतेन वा।**
**समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति ॥४८॥**

### पदार्थ—

यये:—जिन दो [पुरुषो] का
चित्तेन—चित्त के साथ
वा—अथवा
चित्तम्—चित्त
निभृतम्—गुप्त रहस्य
निभृतेन—गुप्त रहस्य के साथ
वा—अथवा
समेति—मिल जाता है
प्रज्ञया—बुद्धि के साथ
प्रज्ञा—बुद्धि
तयो:—उन दोनों [पुरुषों] की
मैत्री—मित्रता
न—नहीं
जीर्यति—जीर्ण होती है।

### व्याख्या—

जिन दो मनुष्यों का चित्त के साथ चित्त, गुप्त रहस्य के साथ गुप्त रहस्य तथा बुद्धि के साथ बुद्धि मिल जाती है, उन की मित्रता जीर्ण नहीं होती ॥४८॥

**दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छन्नं कूपं तृणैरिव।**
**विवर्जयति मेधावी तस्मिन् मैत्री प्रणश्यति ॥४९॥**

### पदार्थ—

दुर्बुद्धिम्—विपरीत बुद्धि वाले
अकृतप्रज्ञम्—विवेकशून्य [मनुष्य] को
छन्नम्—ढके हुए
कूपम्—कुएं को
तृणैः—तिनकों से
इव—समान
विवर्जयति—छोड़ देता है
मेधावी—बुद्धिमान्,
तस्मिन्—उस में (उस के साथ की हुई)
मैत्री—मित्रता
प्रणश्यति—नष्ट हो जाती है।

### व्याख्या—

बुद्धिमान् व्यक्ति विपरीत बुद्धि वाले तथा विवेक शून्य पुरुष को तिनकों से ढके हुए कुएं के समान छोड़ देता है, क्यों कि उस के साथ की हुई मित्रता नष्ट हो जाती है ॥४९॥

अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च ।
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेत् बुधः ॥५०॥

## पदार्थ—

अवलिप्तेषु—अभिमानियों में (=के साथ)
मूर्खेषु—मूर्खों में (=के साथ)
रौद्रसाहसिकेषु—क्रोधी तथा विवेक-शून्य मनुष्यों में (=के साथ)
च—और
तथा—उसी प्रकार
एव—ही
अपेतधर्मेषु—धर्मरहितों में (=के साथ)
न—नहीं
मैत्रीम्—मित्रता को
आचरेत्—करे
बुधः—विद्वान् ।

## व्याख्या—

विद्वान् मनुष्य को चाहिये कि वह अभिमानी, मूर्ख, क्रोधी, विवेकशून्य तथा धर्मरहित पुरुषों के साथ मित्रता न करे ॥५०॥

कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम् ।
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते ॥५१॥

## पदार्थ—

कृतज्ञम्—उपकार को मानने वाला
धार्मिकम्—धार्मिक
सत्यम्—सच्चा
अक्षुद्रम्—उदार
दृढभक्तिकम्—स्थिर भक्ति वाला
जितेन्द्रियम्—संयमी
स्थितम्—स्थित
स्थित्याम्—मर्यादा में
मित्रम्—मित्र
अत्यागि—[मित्रता का] त्याग न करने वाला
च—और
इष्यते—इष्ट होता है ।

## व्याख्या—

उपकार को मानने वाला, धार्मिक, सच्चा, उदार, स्थिर भक्ति वाला, संयमी, मर्यादा में स्थित और मित्रता का त्याग न करने वाला मित्र इष्ट होता है ॥५२॥

**इन्द्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनापि विशिष्यते ।**
**अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद् दैवतानपि ॥५२॥**

## पदार्थ—

इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों की
अनुत्सर्गः—विषयों से निवृत्ति
मृत्युना—मृत्यु से
अपि—भी
विशिष्यते—बढ़ कर [कठिन] है
अत्यर्थम्—अत्यधिक
पुनः—पुनः
उत्सर्गः—विषयों में प्रवृत्ति
सादयेत्—नष्ट कर सकती है
दैवतान्—देवों को
अपि—भी ।

## व्याख्या—

इन्द्रियों की विषयों से निवृत्ति मृत्यु से भी अधिक कठिन है और की विषयों में अत्यधिक प्रवृत्ति तो देवों को भी नष्ट कर सकती है ॥५२॥

**मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः ।**
**आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाविमानना ॥५३॥**

## पदार्थ—

मार्दवम्—कोमल व्यवहार
सर्वभूतानाम्—सब प्राणियों के [प्रति]
अनसूया—गुणों में दोष न देखना
क्षमा—सहनशीलता
धृतिः—धैर्य
आयुष्याणि—आयु को बढ़ाने वाले
बुधाः—विद्वान्
प्राहुः—कहते हैं
मित्राणाम्—मित्रों का
च—और
अविमानना—अपमान न करना ।

## व्याख्या—

विद्वान् लोग कहते हैं कि सब प्राणियों के प्रति कोमल व्यवहार, गुणों में दोषों को न देखना, सहनशीलता, धैर्य और मित्रों का अपमान न करना— ये गुण आयु को बढ़ाने वाले हैं ॥५३॥

**अपनीतं सुनीतेन योऽर्थं प्रत्यानिनीषते ।**
**मतिमास्थाय सुदृढां तदकापुरुषव्रतम् ॥५४॥**

## पदार्थ—

अपनीतम्—अन्याय से नष्ट को
सुनीतेन—उत्तम नीति से
यः—जो
अर्थम्—धन को
प्रत्यानिनीषते—पुनः प्राप्त करने की इच्छा करता है
मतिम्—बुद्धि को (का)
आस्थाय—सहारा ले कर
सूदृढ—स्थिरः
तद्—वह
अकापुरुषव्रतम्—वीर पुरुष का आचरण [करता है]।

## व्याख्या—

जो मनुष्य अन्याय से नष्ट हुए धन को स्थिर बुद्धि का सहारा लेकर उत्तम नीति से पुनः प्राप्त करने की इच्छा करता है, वह वीर पुरुष का आचरण करता है ॥५४॥

**आयत्यां प्रतिकारज्ञस्तदात्वे दृढनिश्चयः ।**
**अतीते कार्यशेषज्ञो नरोऽर्थैर्न प्रहीयते ॥५५॥**

## पदार्थ—

आयत्याम्—आगामी काल में
प्रतिकारज्ञः—[दुःख के] प्रतिकार को जानने वाला
तदात्वे—वर्त्तमान काल में
दृढनिश्चयः—दृढनिश्चय वाला
अतीते—भूतकाल में
कार्यशेषज्ञः—अवशिष्ट रहे कार्य को जानने वाला
नरः—मनुष्य
अर्थैः—अर्थों से
न—नहीं
प्रहीयते—हीन होता है।

## व्याख्या—

आगामी काल में दुःखों के प्रतिकार को जानने वाला, वर्त्तमान काल में दृढ़ निश्चय वाला और भूतकाल में अवशिष्ट कार्य को जानने वाला मनुष्य अर्थों (धन-धान्य आदि) से वियुक्त नहीं होता है ॥५५॥

**कर्मणा मनसा वाचा यदभीक्ष्णं निषेवते ।**
**तदेवापहरत्येनं तस्मात् कल्याणमाचरेत् ॥५६॥**

## पदार्थ—

कर्मणा—कर्म से
मनसा—मन से
वाचा—वाणी से
यत्—जिस का
अभीक्ष्णम्—पुनः पुनः
निषेवते—सेवन करता है
तत्—वह
एव—ही
अपहरति—अपनी ओर खींच लेता है
एनम्—इस को
तस्मात्—इस लिए
कल्याणम्—शुभ कर्मों को
आचरेत्—करे ।

## व्याख्या—

मनुष्य मन वाणी तथा कर्म से जिस का पुनः-पुनः सेवन करता है, वह ही उसको अपनी ओर खींच लेता है। इसलिए मनुष्य शुभ कर्मों को करे ॥५६॥

**मङ्गलालम्भनं योगः श्रुतमुत्थानमार्जवम् ।**
**भूतिमेतानि कुर्वन्ति सतां चाभीक्ष्णदर्शनम् ॥५७॥**

## पदार्थ—

मङ्गलालम्भनम्—मङ्गलकारी पदार्थों का स्पर्श
योगः—चित्त की वृत्तियों का निरोध
श्रुतम्—शास्त्र
उत्थानम्—उद्योग
आर्जवम्—सरलता
भूतिम्—कल्याण को
एतानि—ये
कुर्वन्ति—करते हैं
सताम्—सत्पुरुषों का
च—और
अभीक्ष्णदर्शनम्—पुनः पुनः दर्शन ।

## व्याख्या—

मङ्गलकारी पदार्थों का स्पर्श, चित्त की वृत्तियों का निरोध, शास्त्र, उद्योग, सरलता और सत्पुरुषों का पुनः पुनः दर्शन ये कल्याण को करते हैं ॥५७॥

**विशेष**—सुवर्ण आदि रत्नों के धारण करने से आयु की वृद्धि होती है, रोगों का नाश होता है ऐसा वेद और आयुर्वेद का सिद्धान्त है। यजुर्वेद में कहा है—'यो बिभर्त्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः' ॥५७॥

**अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च।**
**महान् भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्त्यमश्नुते ॥५८॥**

## पदार्थ—

अनिर्वेदः—उद्योग से उपरत न होना
श्रियः—सम्पत्ति का
मूलम्—मूल [है]
लाभस्य—लाभ का
च—और
शुभस्य—कल्याण का
च—और
महान्—महान्
भवति—हो जाता है
अनिर्विण्णः—उद्योग को न त्यागने वाला
सुखम्—सुख को
च—और
अनन्त्यम्—अन्त रहित
अश्नुते—भोगता है।

## व्याख्या—

उद्योग से उपरत न होना (अर्थात् सदा उद्योग में संलग्न रहना) सम्पत्ति, लाभ और कल्याण का मूल है। उद्योग को न त्यागने वाला मनुष्य महान् हो जाता है, और अनन्त सुख को भोगता है ॥५८॥

**नातः श्रीमत्तरं किंचिदन्यत् पंथ्यतमं मतम्।**
**प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा ॥५९॥**

## पदार्थ—

न—नहीं
अतः—इस से
श्रीमत्तरम्—विभूति युक्त
किञ्चत्—कुछ

अन्यत्—अन्य
पथ्यतमम्—कल्याणकारी
मतम्—माना गया [है]
प्रभविष्णोः—समर्थ [पुरुष] का
यथा—जैसा
तात—हे प्रिय !
क्षमा—क्षमा
सर्वत्र—सब स्थानों पर
सर्वदा—सब कालों में।

## व्याख्या—

हे प्रिय ! इससे अधिक विभूतियुक्त तथा कल्याणरारी अन्य कोई उपाय नहीं माना गया है, जैसा कि समर्थ पुरुष का सब स्थानों पर तथा सब कालों में क्षमा का आचरण करना ।।५९।।

**क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान् धर्मकारणात् ।**
**अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता ।।६०।।**

## पदार्थ—

क्षमेत्—क्षमा करे
अशक्तः—शक्तिहीन
सर्वस्य—सब को
शक्तिमान्—शक्तिशाली
धर्मकारणात्—धर्म के कारण
अर्थानर्थौ—अर्थ तथा अनर्थ
समौ—समान
यस्य—जिस के [लिए]
तस्य—उस को
नित्यम्—सदा
क्षमा—क्षमा
हिता—हितकर [है]।

## व्याख्या—

शक्तिहीन मनुष्य सब को क्षमा कर दे [क्योंकि उसके सामने दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है], बलवान् को धर्मार्जन के लिए क्षमाशील होना चाहिये, और जिसके लिये अर्थ-अनर्थ समान है (अर्थात् मध्यम श्रेणी का व्यक्ति) उसको भी सदा क्षमा श्रेयस्करी होती है। इस प्रकार क्षमा सब के लिए कल्याणकारिणी है ।।६०।।

**यत् सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।**
**कामं तदुपसेवेत न मूढव्रतमाचरेत् ।।६१।।**

## पदार्थ—

यत्—जिस
सुखम्—सुख को
सेवमानः—भोगता हुआ
अपि—भी
धर्मार्थाभ्याम्—धर्म तथा अर्थ से
न—नहीं
हीयते—वियुक्त होता है
कामम्—यथेष्ट
तत्—उस को (=का)
उपसेवेत—उपभोग करे
न—नहीं
मूढव्रतम्—मूर्खों का आचरण अर्थात् विषयासक्ति को
आचरेत्—आचरण करे।

## व्याख्या—

जिस सुख को भोगता हुआ भी मनुष्य धर्म तथा अर्थ से वियुक्त नहीं होता, उसका यथेष्ट उपभोग करे; परन्तु विषयों में अत्यन्त आसक्ति का आचरण न करे ॥६१॥

**दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च।**
**न श्रीर्वसत्यदान्तेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ॥६२॥**

## पदार्थ—

दुःखार्त्तेषु—दुःख से पीडितों में (=के पास)
प्रमत्तेषु—प्रमादी मनुष्यों के पास
नास्तिकेषु—नास्तिकों के पास
अलसेषु—आलसियों के पास
च—और
न—नहीं
श्रीः—सम्पत्ति
वसति—रहती है
अदान्तेषु—असंयमी जनों के पास
ये—जो
च—और
उत्साहविवर्जिताः—उत्साहहीन।

## व्याख्या—

दुःख से पीड़ित, प्रमादी, नास्तिक, आलसी, असंयमी जन और जो लोग उत्साहहीन हैं उनके पास सम्पत्ति नहीं रहती है ॥६२॥

**आर्जवेन नरं युक्तमार्जवात् सव्यपत्रपम्।**
**अशक्तं मन्यमानास्तु धर्षयन्ति कुबुद्धयः ॥६३॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| आर्जवेन—सरलता से | अशक्तम्—दुर्बल |
| नरम्—मनुष्य को | मन्यमानाः—मानते हुए |
| युक्तम्—युक्त को | तु—ही |
| आर्जवात्—सरलता के कारण | घर्षयन्ति—तिरस्कृत करते हैं |
| सव्यपत्रम्—लज्जाशील | कुबुद्धयः—दुष्ट बुद्धि वाले। |

## व्याख्या—

दुष्ट बुद्धि वाले मनुष्य, सरलता से युक्त तथा सरलता के कारण ही लज्जाशील मनुष्य को दुर्बल समझते हुए तिरस्कृत करते हैं ।।६३।।

**अत्यार्यमतिदातारमतिशूरमतिव्रतम् ।**
**प्रज्ञाभिमानिनं चैव श्रीर्भयान्नोपसर्पति ।।६४।।**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| अत्यार्यम्—अति श्रेष्ठ को | च—और |
| अतिदातारम्—अति दानशील को | एव—भी |
| अतिशूरम्—अति वीर को | श्रीः—सम्पन्नता |
| अतिव्रतम्—दृढव्रती को | भयात्—भय के कारण |
| प्रज्ञाभिमानिनम्—बुद्धि का अत्यधिक अभिमान करने वाले को | न—नहीं |
| | उपसर्पति—समीप जाती है। |

## व्याख्या—

अतिश्रेष्ठ, अत्यन्त दानशील, अत्यधिक वीर, अत्यधिक व्रतों का पालन करने वाले और बुद्धि का अत्यधिक अभिमान करने वाले मनुष्यों के समीप सम्पन्नता नहीं जाती है ।।६४।।

**न चातिगुणवत्स्वेषा नात्यन्तं निर्गुणेषु च ।**
**नैषा गुणान् कामयते नैर्गुण्यान्नानुरज्यते ।**
**उन्मत्ता गौरिवान्धा श्रीः क्वचिदेवावतिष्ठते ।।६५।।**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| न—नहीं | अतिगुणवत्सु—अत्यन्त गुणवानों में |
| च—तो | |

एषा—यह
न—नहीं
अत्यन्तम्—अत्यधिक
निर्गुणेषु—गुणहीनों में
च—और
न—नहीं
एषा—यह
गुणान्—गुणों को
कामयते—चाहती है
नैर्गुण्यात्—गुणहीनता से
न—नहीं
अनुरज्यते—अनुरक्त होती है
उन्मत्ता—उन्मत्त
गौः—गौ [के]
इव—समान
अन्धा—अन्धी
श्रीः—सम्पत्ति
क्वचित्—कहीं
एव—ही
अवतिष्ठते—ठहरती है।

व्याख्या—

सम्पत्ति न तो अत्यन्त गुणवान् जनों के पास रहती है और न ही सर्वथा गुणरहित मनुष्यों के पास। यह न तो गुणों को चाहती है, न ही गुणहीनता से अनुराग रखती है। उन्मत्त गौ के समान यह अन्धी लक्ष्मी कहीं कहीं ही ठहरती है ॥६५॥

**अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम्।**
**रतिपुत्रफला नारी दत्तभुक्तफलं धनम् ॥६६॥**

पदार्थ—

अग्निहोत्रफलाः—जिन का फल अग्निहोत्र है
वेदाः—वेद
शीलवृत्तफलम्—जिस का फल उत्तमशील तथा सदाचार है
श्रुतम्—शास्त्र
रतिपुत्रफला—सुख तथा सन्तानोत्पत्ति रूप फलवाली
नारी—स्त्री
दत्तभुक्तफलम्—दान तथा भोग फल वाला
धनम्—धन [होता है]।

व्याख्या—

वेदों का प्रयोजन अग्निहोत्र है, शास्त्र का प्रयोजन उत्तमशील तथा सदाचार का पालन करना है, नारी (पत्नी) का प्रयोजन सुख का उपभोग तथा सन्तानोत्पत्ति है, और धन का प्रयोजन दान तथा उपभोग है ॥६६॥

**विशेष**—यह निर्देश लोक-प्रसिद्धि के अनुसार है। आज भी कर्मकाण्डी यही मानते हैं कि वेद का प्रयोजन यज्ञयागादि करना ही है। परन्तु प्राचीनतम वैदिक सिद्धान्त के अनुसार वेद सब सत्यविद्याओं के आकर ग्रन्थ माने गये हैं। मनुस्मृति में कहा है—**सर्वज्ञानमयो हि सः।**

**रतिपुत्रफला नारी**—यह वचन भी लौकिक दृष्टि से है। वैदिक वाङ्मय की दृष्टि से भी स्त्री पुरुष का मिलन पूर्णता की प्राप्ति के लिये है और सख्यभाव से साथ रहकर लौकिक पारलौकिक सुख को प्राप्त करना है। शतपथ में कहा है—**अर्धो ह वा तावत् पुरुषो भवति यावज्जायां न विन्दते। अथ जायां विन्दति पूर्णो भवति।**

**दत्तभुक्तफलं धनं**—वेद कहता है—**नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी** (ऋक् १०।११७।६) जो दीन-दुखियों और मित्रों का पोषण नहीं करता अपि तु अकेला ऐश्वर्य का भोग करता है वह केवल पाप का भोग करता है ॥६६॥

**अधर्मोपार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।**
**न स तस्य फलं प्रेत्य भुङ्क्तेऽर्थस्य दुरागमात् ॥६७॥**

## पदार्थ—

| | |
|---|---|
| अधर्मोपार्जितैः—अधर्म से कमाये हुए | स—वह [पुरुष] |
| अर्थैः—धन से | तस्य—उस [दान आदि] के |
| यः—जो [मनुष्य] | फलम्—फल को |
| करोति—सम्पन्न करता है | प्रेत्य—मरने के पश्चात् [जन्मान्तर में] |
| और्ध्वदेहिकम्—जन्मान्तर में प्राप्त होने वाले सुख के उपाय (दान आदि कर्मों को) | भुङ्क्ते—भोगता है |
| न—नहीं | अर्थस्य—धन के |
| | दुरागमात्—अनुचित मार्ग से आने के कारण। |

## व्याख्या—

जो मनुष्य जन्मान्तर में प्राप्त होने वाले सुख के उपाय दान, यज्ञ आदि कर्मों को अधर्म से कमाए हुए धन के द्वारा सम्पन्न करता है, वह मरने के पश्चात (दूसरे जन्म में) उस दान यज्ञ आदि कर्म के फल को नहीं भोगता है, क्योंकि धन का उपार्जन अनुचित मार्ग से किया गया था ॥६७॥

कान्तारे वनदुर्गेषु कृच्छ्रास्वापत्सु सम्भ्रमे।
उद्यतेषु च शस्त्रेषु नास्ति सत्ववतां भयम् ॥६८॥

पदार्थ—

कान्तारे—जङ्गल में
वनदुर्गेषु—वनों के दुर्गम स्थानों में
कृच्छ्रासु—कठोर
आपत्सु—आपत्तियों में
संभ्रमे—हलचल में
उद्यतेषु—उठ जाने पर
च—और
शस्त्रेषु—शस्त्रों के [होने पर]
न—नहीं
अस्ति—है
सत्त्ववताम्—मनोबल से युक्त मनुष्यों को
भयम्—भय।

व्याख्या—

जङ्गलों में, वनों के दुर्गम स्थानों में, कठोर आपत्तियों में, हलचल में और मारने के लिए शस्त्रों के उठाये जाने पर भी मनोबल से युक्त मनुष्यों को भय नहीं होता ॥६८॥

उत्थानं संयमो दाक्ष्यमप्रमादो धृतिः स्मृति।
समीक्ष्य च समारम्भो विद्धि मूलं भवस्य तु ॥६९॥

पदार्थ—

उत्थानम्—उद्योग
संयमः—संयम
दाक्ष्यम्—निपुणता
अप्रमादः—सावधानी
धृतिः—धैर्य
स्मृतिः—स्मरण शक्ति
समीक्ष्य—सोच-विचार कर
च—और
समारम्भः—कार्य का आरम्भ
विद्धि—जानो
मूलम्—मूल (जड़)
भवस्य—सम्पन्नता तथा उन्नति का
तु—तो।

व्याख्या—

उद्योग, संयम, निपुणता, सावधानी, धैर्य, स्मरण-शक्ति और सोच-विचार कर कार्यों का आरम्भ करना—इन को सम्पन्नता तथा उन्नति का मूल समझो ॥६९॥

तपो बलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ॥७०॥

पदार्थ—

तपः—तप
बलम्—बल [है]
तापसानाम्—तपस्वियों का
ब्रह्म—वेद
ब्रह्मविदाम्—वेदज्ञों का
बलम्—बल [है]
हिंसा—प्राणियों को कष्ट देना
बलम्—बल [है]
असाधूनाम्—दुष्टों का
क्षमा—क्षमा
गुणवताम्—गुणवानों का
बलम्—बल [है] ।

व्याख्या—

तपस्वियों का बल तप है, वेदज्ञों का बल वेद है, दुष्टों का बल हिंसा है और गुणवानों का बल क्षमा है ॥७०॥

अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः ।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥७१॥

पदार्थ—

अष्टौ—आठ
तानि—वे (=ये)
अव्रतघ्नानि—व्रत को भङ्ग न करने वाले [होते हैं]
आपः—जल
मूलम्—मूल (जड़ें)
फलम्—फल
पयः—दूध
हविः—घी
ब्राह्मणकाम्या—ब्राह्मण की कामना [की पूर्त्ति]
गुरोः—गुरु का
वचनम्—वचन
औषधम्—औषधि ।

व्याख्या—

जल, मूल, फल, दूध, घी, ब्राह्मण की कामना [की पूर्त्ति], गुरु का वचन और औषधि—ये आठ व्रत को न भंग करने वाले होते हैं ॥७१॥

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
संग्रहेणैष धर्मः स्यात् कामादन्यः प्रवर्तते ॥७२॥

## पदार्थ—

न—नहीं
तत्—उसको
परस्य—अन्य मनुष्य के प्रति
सन्दध्यात्—करे
प्रतिकूलम्—विरुद्ध [है]
यत्—जो
आत्मनः—अपने
संग्रहेण—संक्षेप से
एषः—यह
धर्मः—धर्म
स्यात्—होता है
कामात्—इच्छा से
अन्यः—अन्य (=अधर्म)
प्रवर्त्तते—प्रवृत्त होता है।

## व्याख्या—

जो आचार-व्यवहार अपने प्रतिकूल हो, उसे अन्य पुरुषों के प्रति न करे—संक्षेप से यही धर्म है। इससे भिन्न अधर्म की प्रवृत्ति कामना से होती है ॥७२॥

**अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्।**
**जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ॥७३॥**

## पदार्थ—

अक्रोधेन—अक्रोध (प्रेम) से
जयेत्—जीते
क्रोधम्—क्रोध को
असाधुम्—दुष्ट को
साधुना—उत्तम व्यवहार से
जयेत्—जीते
जयेत्—जीते
कदर्यम्—कृपण को
दानेन—दान से
जयेत्—जीते
सत्येन—सत्य से
च—और
अनृतम्—असत्य को

## व्याख्या—

क्रोध को प्रेम से जीते, दुष्ट मनुष्य को उत्तम व्यवहार से वश में करे, कृपण मनुष्य को दान के द्वारा वश में करे और असत्य पर सत्य के द्वारा विजय प्राप्त करे ॥७३॥

**स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरौ चण्डे पुरुषमानिनि।**
**चौरे कृतघ्ने विश्वासो न कार्यो न च नास्तिके ॥७४॥**

## पदार्थ—

स्त्रीधूर्त्तके—स्त्री और धूर्त्त पर
अलसे—आलसी पर
भीरौ—डरपोक पर
चण्डे—क्रोधी पर
पुरुषमानिनि—पुरुषत्व के अभिमानी पर
चौरे—चोर पर
कृतघ्ने—उपकार को न मानने वाले पर
विश्वासः—विश्वास
न—नहीं
कार्यः—करना चाहिए
न—नहीं
च—और
नास्तिके—नास्तिक पर।

## व्याख्या—

स्त्री, धूर्त्त, आलसी, डरपोक क्रोधी, पुरुषत्व के अभिमानी, चोर, उपकार को न मानने वाले और नास्तिक पर विश्वास नहीं करना चाहिये ॥७४॥

**अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।**
**चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते कीर्तिरायुर्यशो बलम् ॥७५॥**

## पदार्थ—

अभिवादनशीलस्य—नमस्कार आदि से [गुरुजनों का] सत्कार करने वाले के
नित्यम्—सदा
वृद्धोपसेविनः—[अनुभवी] वृद्धों की सेवा करने वाले के
चत्वारि—चार
संप्रवर्धन्ते—बढ़ते हैं
कीर्त्तिः—सम्मान
आयुः—आयु
यशः—यश
बलम्—बल।

## व्याख्या—

गुरुजनों का सम्मान करने के स्वभाव वाले तथा सदा अनुभवी वृद्धों की सेवा करने वाले मनुष्य के—सम्मान, आयु, यश तथा बल—ये चार बढ़ते हैं ॥७५॥

**अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा ।**
**अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥७६॥**

## पदार्थ—

अतिक्लेशेन—अत्यन्त कष्ट से
ये—जो
अर्थाः—धन
स्युः—[प्राप्त] होते हैं
धर्मस्य—धर्म के
अतिक्रमेण—उल्लंघन से
वा—अथवा
अरेः—शत्रु के [प्रति]
वा—अथवा
प्रणिपातेन—झुकने से
मा—मत
स्म—कभी
तेषु—उन में
मनः—मन को
कृथाः—करो (=लगाओ)।

## व्याख्या—

जो धन अत्यन्त कष्ट से, धर्म के उल्लंघन से अथवा शत्रु के प्रति झुक जाने से प्राप्त होता है, उसमें आप कभी मन न लगायें ।।७६।।

**अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम् ।**
**निराहाराः प्रजाः शोच्याः शोच्यं राष्ट्रमराजकम् ।।७७।।**

## पदार्थ—

अविद्यः—विद्याविहीन
पुरुषः—मनुष्य
शोच्यः—शोचनीय [है]
शोच्यम्—शोचनीय [है]
मैथुनम्—मैथुन
अप्रजम्—सन्तानरहित
निराहाराः—खाद्यसामग्रीरहित
प्रजाः—प्रजा
शोच्याः—शोचनीय [है]
शोच्यम—शोचनीय [है]
राष्ट्रम्—राष्ट्र
अराजकम्—नृपविहीन।

## व्याख्या—

विद्याविहीन मनुष्य शोचनीय है। सन्तानोत्पत्ति रहित मैथुन शोचनीय है। खाद्यसामग्री से रहित प्रजा शोचनीय है और नृप-विहीन राष्ट्र शोचनीय होता है ।।७७।।

**अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा ।**
**असम्भोगो जरा स्त्रीणां वाक्शल्यं मनसो जरा ।।७८।**

## पदार्थ—

अध्वा—मार्ग
जरा—वृद्धावस्था
देहवताम्—देहधारियों की
पर्वतानाम्—पर्वतों की
जलम्—जल
जरा—वृद्धावस्था
असंभोगः—[इच्छा होने पर भी] संभोग से वंचित रहना
जरा—वृद्धावस्था
स्त्रीणाम्—स्त्रियों की
वाक्शल्यम्—वचनरूपीवाण (कटु वचन)
मनसः—मन की
जरा—वृद्धावस्था।

## व्याख्या—

अधिक मार्ग चलना देहधारियों की आयु को क्षीण करता है। जल पर्वतों को जीर्ण कर देता है। इच्छा होने पर भी मैथुन से वञ्चित रहने से स्त्रियों की आयु क्षीण होती है। वचनों के वाण मन के लिए वृद्धावस्था के समान हैं ॥७८॥

**अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ॥७९॥**
**मलं पृथिव्या वाह्लीकाः पुरुषस्यानृतं मलम्।**
**कौतूहलमला साध्वी विप्रवासमलाः स्त्रियः ॥८०॥**

## पदार्थ—

अनाम्नायमलाः—अभ्यास न करना जिन का मल है
वेदाः—वेद
ब्राह्मणस्य—ब्राह्मण का
अव्रतम्—व्रतों का पालन न करना
मलम्—मल [है]
मलम्—मल [है]
पृथिव्याः—पृथिवी का
वाह्लीकाः—वाह्लीक देश
पुरुषस्य—पुरुष का
अनृतम्—असत्य भाषण करना
मलम्—मल [है]
कौतूहलमला—परिहास आदि की उत्सुकता जिसका मल है
साध्वी—पतिव्रता
विप्रवासमलाः—पति से रहित परदेश में रहना जिनका मल है
स्त्रियः—स्त्रियां।

## व्याख्या—

अभ्यास न करना वेदों का मल है; व्रतों का पालन न करना ब्राह्मण का मल है। वाह्लीक देश पृथ्वी का मल है; असत्य भाषण

परिहास आदि के प्रति उत्सुक रहना पतिव्रता स्त्री का मल है, और परदेश में पति से रहित रहना सभी स्त्रियों का मल है ॥८०॥

सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु ।
ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम् ॥८१॥

पदार्थ—

सुवर्णस्य—सोने का
मलम्—मल
रूप्यम्—चांदी [है]
रूप्यस्य—चांदी का
अपि—भी
मलम्—मल
त्रपु—रांगा
ज्ञेयम्—जानना चाहिये
त्रपुमलम्—रांगे का मल
सीसम्—सीसा
सीसस्य—सीसे का
अपि—भी
मलम्—मल
मलम्—मल ।

व्याख्या—

सोने का मल चांदी है, चांदी का भी मल रांगा है। सीसे को रांगे का मल समझना चाहिये, और सीसे का भी मल है मल ॥८१॥

न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन जयेत् स्त्रियः ।
नेन्धनेन जयेदग्निं न पानेन सुरां जयेत् ॥८२॥

पदार्थ—

न—नहीं
स्वप्नेन—सोने से
जयेत्—वश में करे
निद्राम्—निद्रा को
न—नहीं
कामेन—कामोपभोग से
जयेत्—जीते
स्त्रियः—स्त्रियों को
न—नहीं
इन्धनेन—ईंधन से
जयेत्—वश में करे
अग्निम्—अग्नि को
न—नहीं
पानेन—सुरापान से
सुराम्—सुरा [पीने के व्यसन को]
जयेत्—जीतें ।

व्याख्या—

सो कर नींद को वश में नहीं किया जा सकता; स्त्रियों को कामोपभोग

से वश में नहीं किया जा सकता। अग्नि को ईंधन से वश में नहीं किया जा सकता, और सुरापान के व्यसन को सुरा पी कर नहीं जीता जा सकता ॥८२॥

**यस्य दानजितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिताः।**
**अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम् ॥८३॥**

## पदार्थ—

यस्य—जिसका
दानजितम्—दान के द्वारा वश में किया गया है
मित्रम्—मित्र
शत्रवः—शत्रु
युधि—युद्ध में
निर्जिताः—जीत लिये गये हैं
अन्नपानजिताः—अन्नपान के द्वारा वश में कर ली गई हैं
दाराः—स्त्रियां
सफलम्—सफल हैं
तस्य—उसका
जीवितम्—जीवन।

## व्याख्या—

जिस ने दान के द्वारा मित्र को वश में कर लिया है, शत्रुओं को युद्ध में जीत लिया हैं, और खान पान से स्त्रियों को वश में कर लिया है, उस का जीवन सफल है ॥८३॥

**सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा।**
**धृतराष्ट्र विमुञ्चेच्छां न कथञ्चिन्न जीव्यते ॥८४॥**

## पदार्थ—

सहस्रिणः—सहस्रों वाले
अपि—भी
जीवन्ति—जीवित रहते हैं
जीवन्ति—जीवित रहते हैं
शतिनः—सैकड़ों वाले
तथा—उसी प्रकार
धृतराष्ट्र—हे धृतराष्ट्र!
विमुञ्च—त्याग दे
इच्छाम्—[अधिक की] इच्छा को
न—नहीं
कथञ्चित्—किसी प्रकार
न—नहीं
जीव्यते—जीवित रहता है।

## व्याख्या—

जिन के पास सहस्रों [रुपये] हैं वे भी जीवित रहते हैं, और जिन के पास केवल सैंकड़ों [रुपये] ही हैं, वे भी उसी प्रकार जीवन निर्वाह करते हैं। अतः हे धृतराष्ट्र ! अधिक की इच्छा को त्याग दो, ऐसा नहीं है कि अधिक के बिना किसी प्रकार जीवित नहीं रहा जा सकता ॥८४॥

**यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।**
**नालमेकस्य तत् सर्वमिति पश्यन्न मुह्यति ॥८५॥**

## पदार्थ—

यत्—जो
पृथिव्याम्—पृथिवी पर
व्रीहियवम्—धान, जौ
हिरण्यम्—सोना
पशवः—पशु
स्त्रियः—स्त्रियां [हैं]
न—नहीं
अलम्—पर्याप्त
एकस्य—एक के [लिये]
तत्—वह
सर्वम्—सब
इति—ऐसा
पश्यन्—देखता हुआ (=विचारता हुआ)
न—नहीं
मुह्यति—मोह में पड़ता है।

## व्याख्या—

पृथ्वी पर जो धान, जौ, सोना, पशु और स्त्रियां हैं, वे सब एक मनुष्य के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं—इस प्रकार विचार करने वाला पुरुष मोह में नहीं फंसता है ॥८५॥

**राजन् भूयो ब्रवीमि त्वां पुत्रेषु सममाचर ।**
**समता यदि ते राजन् स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ॥८६॥**

## पदार्थ—

राजन्—हे राजन् !
भूयः—पुनः
ब्रवीमि—कहता हूं
त्वाम्—तुझ से
पुत्रेषु—पुत्रों पर (=के साथ)
समम्—समान रूप से
आचर—व्यवहार कर
समता—समान भाव
यदि—यदि
ते—तेरा

राजन्—हे राजन् !
स्वेषु—अपनों पर
पाण्डुसुतेषु—पाण्डु के पुत्रों पर
वा—अथवा ।

## व्याख्या—

हे राजन् ! मैं आप से पुनः कहता हूं कि यदि अपने और पाण्डु के पुत्रों पर आप का समता का भाव है, तो सभी पुत्रों के साथ समान रूप से व्यवहार कीजिये ॥८६॥

**इति महाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये एकोऽनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥**

यह महाभारत के उद्योगपर्व के अन्तर्गत प्रजागरपर्व में विदुरवाक्य नाम का उनतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

**॥ इति विदुरनीतौ सप्तमोऽध्यायः ॥**

# अष्टमोऽध्यायः

## विदुर उवाच

योऽभ्यर्चितः सद्भिरसज्जमानः
करोत्यर्थं शक्तिमहापयित्वा ।
क्षिप्रं यशस्तं समुपैति सन्त-
मलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः ॥१॥

### पदार्थ—

विदुर बोले—

यः—जो
अभ्यर्चितः—प्रशंसित
सद्भिः—सत्पुरुषों से
असज्जमानः—अनासक्त होकर
करोति—करता है
अत्यर्थम्—बहुत कार्य को
शक्तिम्—शक्ति को (का)
अहापयित्वा—उल्लङ्घन न करके
क्षिप्रम्—शीघ्र
यशः—सुयश
तम्—उसको
समुपैति—प्राप्त होता है
सन्तम्—साधु पुरुष को
अलम्—समर्थ [होते हैं]
प्रसन्नाः—प्रसन्न हुए
हि—निश्चय से
सुखाय—सुख=कल्याण के लिये
सन्तः—सत्पुरुष ।

### व्याख्या—

जो सत्पुरुषों से प्रशंसित हुआ अनासक्त होकर, शक्ति का उल्लंघन न करके अर्थात् यथाशक्ति बहुत कार्य करता है, वह श्रेष्ठ पुरुष शीघ्र सुयश को प्राप्त होता है, क्योंकि प्रसन्न हुए सत्पुरुष निश्चय ही कल्याण करने में समर्थ होते हैं ॥१॥

महान्तमप्यर्थमधर्मयुक्तं
यः संत्यजत्यनपाकृष्ट एव ।
सुखं सुदुःखान्यवमुच्य शेते
जीर्णां त्वचं सर्प इवावमुच्य ॥२॥

पदार्थ—

महान्तम्—महान् को
अपि—भी
अर्थम्—अर्थ को
अधर्मयुक्तम्—अधर्मयुक्त को
यः—जो
सन्त्यजति—छोड़ देता है
अनपाकृष्टः—खींचा न जाता हुआ
एव—ही
सुखम्—सुखपूर्वक
सुदुःखानि—महान् दुःखों को (से)
अवमुच्य—छूटकर
शेते—सोता है=रहता है,
जीर्णाम्—पुरानी
त्वचम्—त्वचा को
सर्प इव—सर्प के समान
अवमुच्य—छोड़कर ।

व्याख्या—

जो पुरुष अधर्म युक्त महान् धनराशि को भी उसकी ओर मित्रादि से न आकृष्ट (खींचा) हुआ ही छोड़ देता है, वह जैसे सर्प जीर्ण त्वचा (कैंचुली) को त्याग कर सुखी होता है उसी प्रकार भारी दुःखों से छूटकर सुखी होता है ।

**विशेष**—जब सर्प के शरीर की ऊपरी त्वचा (कैंचुली) पक जाती है तब वह सरलता और शीघ्रता से भागने तथा देखने में असमर्थ हो जाता है, अतः हव कैंचुली को उतार कर सुख अनुभव करता है ॥२॥

अनृते च समुत्कर्षो राजगामि च पैशुनम् ।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥३॥

पदार्थ—

अनृते—झूठे व्यवहार में
च—और
समुत्कर्षः—वृद्धि
राजगामि—राजविषयक
च—और
पैशुनम्—पिशुनता

| | |
|---|---|
| गुरोः—गुरु के साथ | समानि—समान हैं |
| अलीकनिर्बन्धः—झूठा वचन बद्ध होना | ब्रह्महत्यया—ब्रह्महत्या के । |

### व्याख्या—

अनृत व्यवहार में उत्कृष्ट होना, राजा से पिशुनता रखना, बडों से झूठा व्यवहार करना, ये ब्रह्महत्या के समान पातक कर्म हैं ।

विशेष—यहां 'अनृतेन समुत्कर्षः' पाठ में अर्थ होगा—झूठे व्यवहार से जय प्राप्त करना ॥३॥

**असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः ।**
**अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ॥४॥**

### पदार्थ—

| | |
|---|---|
| असूया—असूया (=पर गुणों में दोष दर्शन) | अशुश्रूषा—[गुरु की] सेवा न करना |
| एकपदम्—एक ही स्थान | त्वरा—शीघ्रता करना |
| मृत्युः—मृत्यु [का] है | श्लाघा—आत्म प्रशंसा करना |
| अतिवादः—अति प्रशंसा | विद्यायाः—विद्या के |
| श्रियः—धनसम्पत्ति या कल्याण का | शत्रवः—शत्रु [हैं] |
| वधः—नाश [का कारण] है | त्रयः—तीन । |

### व्याख्या—

पर गुणों में दोष देखना अपनी मृत्यु का स्थान है अर्थात् असूया करने वाला नष्ट हो जाता है, अति आत्मप्रशंसा कल्याण का नाश करने वाली होती है अथवा अभिमान करने से धन सम्पत्ति आदि का नाश हो जाता है, गुरु की सेवा न करना, शीघ्रता करना, आत्मप्रशंसा करना ये तीन=विद्या ज्ञान के शत्रु हैं ॥४॥

**आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च ।**
**स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च ॥**
**एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥५॥**

## पदार्थ—

आलस्यम्—आलस्य करना
मदमोहौ—मदकारी पदार्थों का सेवन और [घर आदि में] मोह रखना
च—और
चापलम्—चपलता (=एकाग्र-वृत्ति न होना)
गोष्ठिः—व्यर्थ की बातचीत करना
एव—ही
च—और
स्तब्धता—उद्धतपना
च—और
अभिमानित्वम्—अभिमानी होना
तथा—और
अत्यागित्वम्—लालची होना
एव—ही
च—और
एते—ये
वै—निश्चय से
सप्त—सात
दोषाः—दोष
स्युः—होते हैं
सदा—सर्वदा
विद्यार्थिनाम्—विद्यार्थियों के
मताः—माने हुए ।

## व्याख्या—

आलस्य करना, मदकारी पदार्थों का सेवन, घर आदि में मोह रखना, चपलता=एकाग्रचित न होना, व्यर्थ की बात चीत में समय बिताना, उद्धतपना और लालची होना ये सात दोष विद्यार्थियों के माने गये हैं, अर्थात् इन दुर्गुणों से युक्त को विद्या प्राप्त नहीं होती ॥५॥

**सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् ।**
**सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥६॥**

## पदार्थ—

सुखार्थिनः—सुख चाहने वाले को
कुतः—कहां है
विद्या—विद्या [की प्राप्ति]
नास्ति—नहीं है
विद्यार्थिनः—विद्यार्थी को
सुखम्—सुख
सुखार्थी—सुख की इच्छा वाला
वा—अथवा
त्यजेत्—छोड़ दे
विद्याम्—विद्या को
विद्यार्थी—विद्यार्थी
वा—अथवा
त्यजेत्—छोड़ दे
सुखम्—सुख को ।

### व्याख्या—

सुख चाहने वाले को विद्या कहां ? विद्यार्थी को सुख कहां ? इसलिये जो सुख की चाहना करने वाला है उसे विद्या की प्राप्ति छोड़ देनी चाहिये अथवा विद्यार्थी को सुख की इच्छा छोड़ देनी चाहिये ॥६॥

**नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।**
**नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥७॥**

### पदार्थ—

न—नहीं
अग्निः—अग्नि
तृप्यति—तृप्त होती है
काष्ठानाम्—ईंधन से
न—नहीं
आपगानाम्—नदियों से
महोदधिः—समुद्र
न—नहीं
अन्तकः—मृत्यु
सर्वभूतानाम्—सब भूतों से
न—नहीं
पुंसाम्—पुरुषों से
वामलोचना—स्त्रियां ।

### व्याख्या—

अग्नि ईंधन से तृप्त नहीं होती जितना ईंधन डालो बढ़ती है, नदियों के जल से समुद्र तृप्त नहीं होता उसमें बाढ़ नहीं आती, मृत्यु सब प्राणियों को मारकर भी तृप्त नहीं होता और स्त्रियां पुरुषों से तृप्त नहीं होतीं ।

**विशेष—न पुंसां वामलोचना** निदर्शनार्थ है । इससे यह भी जानना चाहिये कि कामी पुरुष भी स्त्रियों से तृप्त नहीं होता । तृप्ति तो काम को वश में करने से ही होती है । इसी लिये शास्त्रकारों ने एक पतिव्रत और एक पत्नीव्रत का विधान किया है । इससे काम की वृद्धि रुकती है और काम सुख भी प्राप्त होता है ॥७॥

**आशा धृतिं हन्ति समृद्धिमन्तकः**
**क्रोधः श्रियं हन्ति यशः कदर्यता ।**
**अपालनं हन्ति पशूंश्च राज-**
**न्नेकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ॥८॥**

## पदार्थ—

आशा—आशा
धृतिम्—धैर्य को
हन्ति—नष्ट करती है
समद्धिम्—ऐश्वर्य को
अन्तकः—मृत्युः
क्रोधः—क्रोध
श्रियम्—धन को
हन्ति—नष्ट करता है
यशः—यश को
कदर्यता—दुष्टता
अपालनम्—देखभाल न करना
हन्ति—नष्ट करता है
पशून—पशुओं को
च—और
राजन्—हे राजन् !
एकः—एक (अकेला)
क्रुद्धः—क्रुद्ध हुआ
ब्राह्मणः—ब्राह्मण
हन्ति—नष्ट करता है
राष्ट्रम्—राष्ट्र को।

## व्याख्या—

हे राजन् ! किसी वस्तु की प्राप्ति की आशा धैर्य को नष्ट करती है, आशावान् व्यक्ति उस वस्तु को शीघ्र प्राप्त करना चाहता है; मृत्यु समस्त ऐश्वर्य को नष्ट कर देती है, उससे वियुक्त कर देती है, दुष्टता= दुष्ट व्यवहार यश को नष्ट करता है, पशुओं की देखभाल स्वयं न करने से पशु नष्ट हो जाते हैं, किन्तु क्रुद्ध हुआ अकेला ब्राह्मण सम्पूर्ण राष्ट्र को नष्ट कर देता है।

**विशेष**—ऐसी घटनाएं भारत के सुदीर्घकालीन इतिहास में अनेक बार हुई हैं। अकेले जामदग्न्य राम ने आततायी क्षत्रियों से क्रुद्ध होकर इक्कीस बार पृथिवी के आततायी प्रजापीड़क राजाओं को चुन चुन कर मारा था। महामति चाणक्य ने मगध के आततायी नन्द सम्राट् को अकेले ही अपने बुद्धि-चातुर्य एवं शस्त्र द्वारा मारकर चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया था। नीतिकार कामन्दक ने स्वग्रन्थ के आरम्भ में राजनीति के महान् आचार्य चाणक्य की स्तुति करते हुये इस तथ्य का उल्लेख इस प्रकार किया है—

> एकाकी मन्त्रशक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः।
> आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम्॥

अर्थात्—शक्ति में कार्तिकेय के समान आचार्य चाणक्य ने अपनी विचार-शक्ति के द्वारा नन्द साम्राज्य का नाश करके मनुष्यों के आह्लादक चन्द्रगुप्त को मगध साम्राज्य प्राप्त कराया।

विदुरनीति में पहले भी महात्मा विदुर ने कहा है—

एकं हन्यान् न वा हन्यान् इषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमता सृष्टा राष्ट्रं हन्यात् सराजकम्॥

अर्थात्—धनुष से छोड़ा गया बाण एक को मारे या [लक्ष्य भ्रष्ट हो जाने से] न मारे, परन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति से उत्पन्न बुद्धि राजा सहित राज्य को नष्ट कर देती है।

केवल मन्त्रशक्ति ही सर्वत्र कृतकारी नहीं होती, ब्राह्मण को आततायियों के वध के लिए शस्त्र भी धारण करने पड़ते हैं। जामदग्न्य परशुराम का इतिहास इस में साक्षीभूत है। आचार्य चाणक्य ने भी स्वयं अवसर पाकर नन्द को शस्त्र द्वारा मारा था। इस का संकेत स्वयं आचार्य चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र के अन्त में लिखा है—

येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्यासन् तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥

अर्थात्—जिसने शास्त्र शस्त्र और नन्दराज को प्राप्त भूमि का उद्धार किया, उसने इस शास्त्र को रचा है।

आचार्य चाणक्य के पश्चात् भी जब भारत पर कुशाणों और हूणोके आक्रमण हुए तब मुलतान के आस पास रहने वाले काठक शाखा के अध्येताओं ने शस्त्र धारण करके उन्हें भारत भूमि से खदेड़ा था।

आचार्य भारद्वाजसुत द्रोण ने समर्थ ब्रह्मणों का स्वरूप इस प्रकार दर्शाया है—

अग्रतश्चतुरो वेदान् पृष्ठतः सशरं धनुः।
उभाभ्यामपि समर्थोऽस्मि शापादपि शरादपि॥

मैं चारों वेदों को आगे (हृदय में धारण) करके और पीठ पर बाण सहित धनुष को धारण करके शाप और शर-बाण दोनों से नाश करने में समर्थ हूँ॥८॥

अजाश्च कांस्यं रजतं च नित्यं
मध्वाकर्षः शकुनिः श्रोत्रियश्च।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीन
एतानि ते सन्तु गृहे सदैव॥९॥

## पदार्थ—

अजाः—बकरियां
च—और
कांस्यम्—कांसे के पात्र
रजतम्—चांदी
च—और
नित्यम्—सदा
मधु—शहद
आकर्षः—विष के जानने के साधन
शकुनिः—पक्षी
श्रोत्रियः—वेदवित् ब्राह्मण
च—और
वृद्धः—वृद्ध व्यक्ति
ज्ञातिः—अपने कुल का
अवसन्नः—दुःखी
कुलीनः—उत्तम कुल का
एतानि—ये
ते—तुम्हारे
सन्तु—होवें
गृहे—घर में
सदा—सदा
एव—ही ।

## व्याख्या—

हे राजन्—तुम्हारे घर में बकरियां, कांसे के पात्र, चान्दी के पात्र, शहद, विष के बोधन कराने वाले पक्षी, वेदवित् ब्राह्मण, अपने कुल का वृद्ध पुरुष, और कुलीन दुःखी पुरुष, ये सदा रहें ।

**विशेष**—ये वस्तुए राजा के प्रसाद में सदा रहनी चाहियें । अजा से शकुनि पर्यन्त पदार्थ विषमिश्रित अन्नपान आदि की परीक्षा में उपयोगी होते हैं (चाणक्य के अर्थशास्त्र में विष की परीक्षा का विस्तार से वर्णन किया है) । ब्राह्मण अधर्म में प्रवृत्त राजा को अधर्म से निवृत्त करने में समर्थ होता है । अपने वंश के वृद्ध पुरुष के सान्निध्य से उसके अनुशासन में रहने से राजा मार्गभ्रष्ट नहीं होता । कुलीन दुःखी पुरुष अपने आश्रयदाता का अनेक प्रकार से उपकार करता है ॥९॥

**अजोक्षा चन्दनं वीणा आदर्शो मधुसर्पिषी ।**
**विषमौदुम्बरं शङ्खः स्वर्णनाभोऽथ रोचना ॥१०॥**
**गृहे स्थापयितव्यानि धन्यानि मनुरब्रवीत् ।**
**देवब्राह्मणपूजार्थमतिथीनां च भारत ॥११॥**

## पदार्थ—

अजोक्षाः—बकरियां, वृषभ (सांड)
चन्दनम्—चन्दन
वीणा—वीणा
आदर्शः—दर्पण
मधुसर्पिषी—शहद और घी
विषम्—विष
औदुम्बरम्—ताम्र पात्र
शंखः—शंख

स्वर्णनाभः—स्वर्णनाभ
अथ—और
रोचनः—गोरोचन
गृहे—घर में
स्थापयितव्यानि—रखने चाहियें
धन्यानि—समृद्धिवर्धक
मनुः—मनु ने
अब्रवीत्—कहा है
देवब्राह्मणपूजार्थम्—देवों और ब्राह्मणों की पूजा के लिये
अतिथीनाम्—अतिथियों की
च—और
भारत—हे भरतकुलोत्पन्न ।

## व्याख्या—

हे भरतकुलोत्पन्न राजन्! मनु ने कहा है कि देव, ब्राह्मण और अतिथियों की पूजा के लिए अजा, वृषभ, चन्दन, वीणा, दर्पण, शहद, घृत, विष, ताम्रपात्र, शंख, स्वर्णनाभ, गोरोचन आदि मंगलकारी पदार्थ सदा घर में रखने चाहियें ।

**विशेष**—औदुम्बर का अर्थ ताम्रपात्र टीकाकारों के मतानुसार है । उदुम्बर=गूलर के पात्र भी विषादि दूर करने वाले होते हैं । विष स्वयं मारक होता हुआ भी जंगम स्थावर भेद से विरोधी विष के प्रभाव का तत्काल दूर करने वाला होता है । सर्पादि प्राणियों के विष पर संखिया आदि के विष और संखिया आदि के विषों पर सर्पादि के विषों का प्रयोग आयुर्वेद में दर्शाया है । सर्पदंश में तम्बाकू का विष उपयोगी माना गया है । बिच्छू के विष पर तम्बाकू का रस कान में डालने पर सद्यः लाभकारी होता है, यह हमारा बहुधा अनुभूत प्रयोग है ।

शंख सामान्य भी मांगलिक पदार्थ माना गया है, पर शंखों में दक्षिणावर्त (जिसकी रेखायें दक्षिण से बाईं ओर हों वह) विशिष्ट होता है ।

स्वर्णनाभ शब्द साक्षात् शब्दकल्पद्रुम आदि बृहत्कोशों में भी उपलब्ध नहीं होता । स्वर्णनाभ समानार्थक हिरण्यनाभ शब्द महाभारत अन्तर्गत (शान्ति १४९।३४) विष्णुसहस्रनाम में उपलब्ध होता है । वहां अध्यात्म में वह चराचर जगत् के रक्षिता विष्णु=परमात्मा का वाचक है—हिरण्य के समान चमकीले आकृष्ट करने वाले और जीव के लिए हृदय-रमण रूप जगत् का वह नाभि के समान केन्द्ररूप अथवा नाह=नाभ=बन्धक=नियामक है । आधिदैविक जगत् में हिरण्यनाभ सूर्य है । महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने सम्भवतः विष्णुसहस्रनाम पठित हिरण्यनाभ शब्द से भ्रान्त

होकर आधुनिक पौराणिक मतानुसार स्वर्णनाभ का अर्थ 'शालग्राम' किया है। प्रकृत श्लोक में उसका कोई प्रसंग प्रतीत नहीं होता। आयुर्वेद के मतानुसार अष्ट-संस्कार-संस्कृत बुभुक्षित पारद हिरण्य=सुवर्ण का बन्धन=अपने भीतर समाने=भक्षण करने वाला होता है। इस कारण यहां मांगलिक द्रव्यों के प्रसंग में बुभुक्षित पारद जो सभी रसायनों का मूल अत्यन्त कष्टसाध्य दुर्लभ पदार्थ है, उसका राज्य-परिवार में विद्यमान रहना आवश्यक हो सकता है। अथवा श्लोक-निर्दिष्ट अन्य पदार्थों के समान यह कोई महत्त्वपूर्ण पदार्थ होगा ॥१०-११॥

इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि
पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम्।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ॥१२॥

## पदार्थ—

इदम्—यह
च—और
त्वाम्—तुमको
सर्वपरम्—सर्वश्रेष्ठ (बात)
ब्रवीमि—कहता (बताता) हूँ
पुण्यम्—उत्तम
पदम्—स्थान को प्राप्त कराने वाली
तात—हे भ्रातः!
महाविशिष्टम्—बहुत विशिष्ट
न—नहीं
जातु—कभी भी
कामात्—काम से
न—नहीं
भयात्—भय से
न—नहीं
लोभात्—लोभ से
धर्मम्—धर्म को
जह्यात्—छोड़े
जीवितस्य—प्राणों के
अपि—भी
हेतोः—हेतु=कारण से।

## व्याख्या—

हे भ्रातः! यह तुम्हें उत्तम पद को प्राप्त करने वाली विशिष्ट (=महत्वपूर्ण) बात कहता हूं, कि पुरुष काम भय लोभ के वशीभूत होकर प्राणों की रक्षा के लिए भी धर्म का परित्याग न करे ॥१२॥

नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।
त्यक्त्वानित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्ये
संतुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ॥१३॥

### पदार्थ—

नित्यः--सदा रहने वाला
धर्मः—धर्म [है],
सुखदुःखे—सुख और दुःख
तु—तो
अनित्ये—अस्थिर हैं
जीवः—जीव
नित्यः—सदा रहने वाला [है]
हेतुः—[बन्धन में डालने वाला] कारण
अस्य—इसका
तु—तो
अनित्यः—अनित्य [है]
त्यक्त्वा—छोड़कर
अनित्यम्—अनित्य को
प्रतितिष्ठस्व—स्थिर हो
नित्ये—नित्य [धर्म] में
सन्तुष्य—सन्तुष्ट होकर
त्वम्—तुम
तोषपरः—सन्तुष्ट होकर रहना
हि—ही
लाभः—[उत्तम] लाभ है।

### व्याख्या—

हे राजन् ! संसार में धर्म ही नित्य वस्तु है, सुख दुःख अनित्य हैं (=रथचक्र के समान घूमते रहते हैं, कभी सुख प्राप्त होता है तो कभी दुःख)। जीव भी नित्य है परन्तु इसका बन्धन का कारण [मोह= अज्ञान] अनित्य है [यथार्थ ज्ञान प्राप्त होने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है]। इसलिए अनित्य कारण [मोह] को छोड़कर नित्य [धर्म] में सन्तुष्ट होकर तुम वर्तमान रहो। सन्तोष में ही परम लाभ है।

**विशेष**—योगदर्शन में कहा है—सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः [योग २।४२] अर्थात् सन्तोष से परम सुख प्राप्त होता है। अन्यत्र भी कहा है—

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥१३॥

महाबलान् पश्य महानुभावान्
प्रशास्य भूमिं धनधान्यपूर्णाम् ।

राज्यानि हित्वा विपुलांश्च भोगान्
गतान्नरेन्द्रान् वशमन्तकस्य ॥१४॥

### पदार्थ—

महावलान्—महावलवानों को
पश्य—देखो
महानुभावान्—उदार चेताओं को [जो]
प्रशास्य—राज्य करके
भूमिम्—भूमि को [का]
धनधान्यपूर्णाम्—धनधान्य से पूर्ण को [का]
राज्यानि—राज्यों को
हित्वा—छोड़कर
विपुलान्—महान्
च—और
भोगान्—भोगों को
गतान्—गए हुओं को
नरेन्द्रान्—नरेन्द्रों को
वशम्—वश [में]
अन्तकस्य—मृत्यु के ।

### व्याख्या—

हे राजन् ! उन महावलवान् उदारचेता राजाओं को देखो (=उन पर विचार करो), जो धन्यधान्य से पूर्ण इस पृथिवी का शासन करके राज्य और महान् भोगों को छोड़कर मृत्यु के वश में चले गए ।

**विशेष**—महात्मा विदुर कहते हैं कि हे धृतराष्ट्र ! तुम उन चक्रवर्ती महाबली राजाओं पर दृष्टि डालो, जो धन-धान्य से पूर्ण पृथिवी पर शासन करके भी अन्त में राज्यों और विपुल भोगों को छोड़कर इस लोक से चले गये । तुम्हें भी इसी प्रकार एक दिन इस राज्य और राजभोगों का परित्याग करना है, ये तुम्हारे साथ नहीं जायेंगे, तुम्हें ही छोड़कर जाना होगा ; तब इस थोड़े समय के लिये अनित्य सुख के लिए क्यों धर्म का परित्याग कर रहे हो ॥१४॥

मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या
उत्क्षिप्य राजन् स्वगृहान्निर्हरन्ति ।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति
चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति ॥१५॥

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते
वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र
पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥१६॥

पदार्थ—

मृतम्—मरे हुए को
पुत्रम्—पुत्र को
दुःखपुष्टम्—दुःख से बड़े किये गये को
मनुष्याः—मनुष्य
उत्क्षिप्य—उठाकर
राजन्—हे राजन् !
स्वगृहात्—अपने घर से
निर्हरन्ति—बाहर ले जाते हैं
तम्—उस को (के लिए)
मुक्तकेशाः—शिर के बाल खोले हुए
करुणम्—करुणा उत्पन्न करने वाले रूप से
रुदन्ति—रोते हैं
चितामध्ये—चिता के बीच में
काष्ठमिव—लकड़ी के समान
क्षिपन्ति—फैंक (घर) देते हैं।
अन्यः—दूसरा (उस का उत्तराधिकारी)
धनम्—धन को (का)
प्रेतगतस्य—मरे हुए के
भुङ्क्ते—भोग करता है
वयांसि—पक्षी (गीध आदि)
च—और
अग्निः—अग्नि
च—और
शरीरधातून्—शरीर के मांस आदि धातुओं को
द्वाभ्याम्—दो के
अयम्—यह
सह—साथ
गच्छति—जाता है [मरकर]
अमुत्र—दूसरे लोक में
पुण्येन—पुण्य कर्मों से
पापेन—पाप कर्मों से
च—और
वेष्ट्यमानः—लपेटा हुआ ।

व्याख्या—

हे राजन् ! मनुष्य अपने [प्रिय] और दुःख उठाकर बड़े किये गए मरे हुए पुत्र को उठा कर घर से बाहर ले जाते हैं, उसके लिए करुणाजनक स्वर से रोते हैं, और उसे चिता में वैसे ही धर देते हैं जैसे लकड़ियों को धरते हैं। मरे हुए व्यक्ति के धन का दूसरा उत्तराधिकारी भोग करता है, और उसके

शरीर के मांस आदि धातुओं को (जंगल में छोड़ने पर) गीध आदि पक्षी और (जलाने पर) अग्नि खाती है। मृत पुरुष परलोक में धर्म और पाप दो से लिपटा हुआ ही जाता है ।।१५-१६।।

**उत्सृज्य विनिवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदः सुताः ।**
**अपुष्पानफलान् वृक्षान् यथा तात पतत्रिणः ।।१७।।**

## पदार्थ—

उत्सृज्य—छोड़कर
विनिवर्तन्ते—लौट आते हैं
ज्ञातयः—सम्बन्धी जन
सुहृदः—मित्र लोग
सुताः—पुत्र आदि
अपुष्पान्—पुष्प रहितों को
अफलान्—फल रहितों को
वृक्षान्—वृक्षों को
यथा—जैसे
तात—हे भ्रातः !
पतत्रिणः—पक्षी गण ।

## व्याख्या—

हे भ्रातः ! सम्बन्धी, माता, पिता, भ्राता, पुत्र, दारा आदि सभी [मृत पुरुष को जंगल में] छोड़कर [अथवा जलाकर] उसी प्रकार वापस आ जाते हैं, जैसे पुष्प और फल से रहित वृक्ष को पक्षी छोड़ देते हैं ।।१७।।

**अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयं कृतम् ।**
**तस्मात्तु पुरुषो यत्नाद् धर्मं संचिनुयाच्छनैः ।।१८।।**

## पदार्थ—

अग्नौ—अग्नि में
प्रास्तम्—रखे गए
तु—तो
पुरुषम्—पुरुष को (के)
कर्म—किए गए धर्माधर्म रूपी कर्म
अन्वेति—साथ जाता है
स्वयम्—स्वयम्
कृतम्—किया हुआ
तस्मात्—इस लिये
तु—तो
पुरुषः—पुरुष
यत्नात्—यत्नपूर्वक
धर्मम्—धर्म को
संचिनुयात्—अच्छे प्रकार इकट्ठा करे
शनैः—धीरे-धीरे ।

मरने के पश्चात् शरीर के अग्नि में भस्म हो जाने पर स्वयं किया धर्म अधर्म रूप कर्म ही मनुष्य के साथ जाता है। इसलिये पुरुष को चाहिए कि वह यत्नपूर्वक धीरे धीरे धर्म का संग्रह करे।

**विशेष**—धर्मशास्त्रकारों और नीतिशास्त्रकारों ने धर्म के शनैः शनैः संचय करने का विधान किया है। इसमें बहुत स्थानों में दृष्टांत दिया है—**वल्मीकमिव पुत्तिकाः** अर्थात् जैसे दीमक अपना घर शनैः शनैः बनाती है, परन्तु कालान्तर में मिट्टी के एक एक दाने के रूप में रखा गया उसका विशाल घर बन जाता है। जो मनुष्य सहसा अपनी शक्ति का ध्यान न रखते हुए धर्म करने में प्रवृत्त होते हैं वे न केवल स्वयं असमय में ही दुःख रोग दारिद्र्य आदि से पीड़ित हो जाते हैं, अपितु अपने आश्रित जनों को भी दुःखी करते हैं, और धर्म से भ्रष्ट भी हो जाते हैं ॥१८॥

**असमाल्लोकादूर्ध्वममुष्य चाधो**
**महत्तमस्तिष्ठति ह्यन्धकारम् ।**
**तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां**
**बुध्यस्व मा त्वां प्रलभेत राजन् ॥१९॥**

**पदार्थ—**

अस्मात्—इससे
लोकात्—लोक से
ऊर्ध्वम्—ऊपर
अमुष्य—इसके
च—और
अधः—नीचे
महत्तमः—प्रगाढ
तिष्ठति—वर्तमान है
हि—निश्चय ही
अन्धकारम्—अन्धकार
तद्—वह [अन्धकार]
वै—निश्चय से
महामोहनम्—ज्ञान शून्य करने वाला
इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों का
बुध्यस्व—जानो [उसको]
मा—नहीं
त्वाम्—तुम्हें
प्रलभेत—प्राप्त होवे
राजन्—हे राजन् !

**व्याख्या—**

इस मनुष्य लोक से ऊपर और नीचे प्रगाढ़ अन्धकार है, वह इन्द्रियों के ज्ञान को हरने वाला है, उसे जानो समझो। हे राजन् वह अन्धकार तुम्हें प्राप्त न हो [इसका यत्न करो]।

**विशेष**—इस का भाव यह है कि मनुष्य देह से ऊपर देवयोनियों और नीचे पशु योनियों में इन्द्रियों के ज्ञान को नष्ट करने वाला, कर्मशक्तियों को नष्ट करने वाला प्रगाढ़ अन्धकार है। देव योनियों में मनुष्य अत्यधिक सुख ऐश्वर्य को प्राप्त करके मत्त हो जाता है, कार्याकार्य का ज्ञान नष्ट हो जाता है, और पशु योनियों में शुभ अशुभ कर्म करने की शक्ति भी छिन जाती है।

इतिहास इस बात का साक्षी हैं कि असुर देवों के भ्राता अर्थात् देव स्वरूप परम धर्मात्मा थे, परन्तु ऐश्वर्य मद से मत्त हो कर अधर्मगामी होकर असुरभाव को प्राप्त हो गये। असुरों के लिए प्रयुक्त **पूर्वदेवाः** नाम भी इसी अभिप्राय को व्यक्त करता है। इन्द्रादि देवगण भी विष्णु को छोड़कर उत्तर काल में मांसादि के भक्षण करने वाले हो गये। महाभारत और वर्तमान पुराणों में यज्ञ में पशु मारने की घटना का जिस रूप में वर्णन मिलता है उस से स्पष्ट है कि देवजातीय इन्द्रादि ही यज्ञ में पशु मारण की प्रक्रिया के प्रारम्भक थे। वेश्याओं की उत्पत्ति भी देवों की अप्सराओं के अनुकरण पर ही लोक में हुई।

एक मनुष्य योनि ही ऐसी है जहां मनुष्य सुख दुःख के थपेड़ों से और सत्संग से प्रेरित होकर अज्ञान को नष्ट करके धर्म के पालन में समर्थ होता है और शाश्वत सुख अपवर्ग को प्राप्त कर सकता है। इसीलिए शास्त्रकार मनुष्ययोनि को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं—**न हि मानुषात् श्रेष्ठतमं किंचिद्।** महाभारतान्तर्गत हंसगीता (शान्ति २९९।२०) ॥१९॥

**इदं वचः शक्ष्यसि चेद् यथाव-**
**न्निशम्य सर्वं प्रतिपत्तुमेव।**
**यशः परं प्राप्स्यसि जीवलोके**
**भयं न चामुत्र न चेह तेऽस्ति ॥२०॥**

**पदार्थ—**

इदम्—इस को
वचः—वचन को
शक्ष्यसि—समर्थ होगा
चेद्—यदि
यथावत्—ठीक-ठीक
निशम्य—सुनकर
सर्वम्—सबको
प्रतिपत्तुम्—जानने के लिए
एव—निश्चय से
यशः—कीर्ति को
परम्—उत्कृष्ट को
प्राप्स्यसि—प्राप्त होवोगे

जीवलोके—मनुष्य लोक में
भयम्—भय
न—नहीं
च—और
अमुत्र—परलोक में
न—नहीं
च—और
इह—इस लोक में
ते—तुम्हारे लिए
अस्ति—है

## व्याख्या—

हे राजन् ! यदि तुम मेरे उक्त वचन को सुनकर यथावत् जानने में समर्थ होवोगे, तो मनुष्य लोक में निश्चय ही उत्तम कीर्ति को प्राप्त होवोगे, तथा इस लोक और परलोक में तुम्हें कुछ भय नहीं होगा ॥२०॥

**आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था**
**सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः ।**
**तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा**
**पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ॥२१॥**

## पदार्थ—

आत्मा—आत्मा [नाम की]
नदी—नदी [है]
भरत—हे भरतकुलोत्पन्न !
पुण्यतीर्था—पुण्यरूपी तीर्थों [घाटों] वाली
सत्योदका—सत्यरूपी जल वाली
धृतिकूला—धृति रूपी किनारों वाली
दयोर्मिः—दयारूपी लहरों वाली
तस्याम्—उसमें
स्नातः—स्नान किया हुआ
पूयते—पवित्र होता है
पुण्यकर्मा—उत्तम कर्म करने वाला
पुण्यः—पुण्यशील
हि—निश्चय से
आत्मा—आत्मा
नित्यम्—नित्य
अलोभः—लोभरहित
एव—निश्चय से ।

## व्याख्या—

हे भरतकुलोत्पन्न धृतराष्ट्र ! यह आत्मा नदी रूप है, पुण्यकर्म इस में घाट रूप हैं । सत्य इस नदी का जलस्थानीय है, धृति इसके दो किनारे हैं, दया लहर स्थानीय है । ऐसी आत्मा रूपी नदी में स्नान करने वाला पुण्यकर्मा मनुष्य पवित्र हो जाता है । लोभरहित वैराग्य-ज्ञानयुक्त आत्मा ही पुण्यशील होता है ॥२१॥

**कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।**
**नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥२२॥**

### पदार्थ—

कामक्रोधग्राहवतीम्—काम क्रोध रूपी ग्राहों=मगरों से युक्त
पञ्चेन्द्रिजलाम्—पांच इन्द्रियों रूपी जल वाली
नदीम्—संसार रूपी नदी को
नावम्—नौका को
धृतिमयीम्—धृतिरूपी को
कृत्वा—बनाकर
जन्मदुर्गाणि—जन्मरूपी दुर्गों को
सन्तर—पार हो ।

### व्याख्या—

[हे राजन् ! दूसरी संसाररूपी नदी है जिसमें] पांच इन्द्रियों के विषय जल स्थानीय हैं, काम, क्रोध आदि इस में मगर हैं, इस नदी को धैर्य से बनाई गई नाव पर बैठकर जलरूपी दुर्गों को पार करो ॥२२॥

**प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुं**
**विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम् ।**
**कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य**
**यः सम्पृच्छेन्न स मुह्येत् कदाचित् ॥२३॥**

### पदार्थ—

प्रज्ञावृद्धम्—बुद्धि में श्रेष्ठ को
धर्मवृद्धम्—धर्माचरण में श्रेष्ठ को
स्वबन्धुम्—अपने बन्धु को
विद्यावृद्धम्—विद्या में श्रेष्ठ को
वयसा—आयु से
च—और
अपि—भी
वृद्धम्—बड़े को
कार्याकार्ये—कार्य अकार्य के संशय में
पूजयित्वा—सत्कार करके
प्रसाद्य—प्रसन्न करके
यः—जो
संपृच्छेत्—पूछता है
न—नहीं
सः—वह
मुह्येत्—मोह को प्राप्त होता है
कदाचित्—कभी भी ।

### व्याख्या—

जो पुरुष कार्य अकार्य के सम्बन्ध में संशय होने पर बुद्धि, धर्म,

विद्या और आयु में ज्येष्ठ अपने बन्धु को सत्कार द्वारा प्रसन्न कर पूछता है, वह कभी मोह को प्राप्त नहीं होता ॥२३॥

**धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा ।**
**चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ॥२४॥**

### पदार्थ—

धृत्या—धैर्य के द्वारा
शिश्नोदरम्—लिङ्ग और उदर को
रक्षेत्—रक्षा करे
पाणिपादम्—हाथ पांव को
च—और
चक्षुषा—आंखों के द्वारा
चक्षुः श्रोत्रे—चक्षु और श्रोत्र
च—और
मनसा—मन के द्वारा
मनः—मन को
वाचम्—वाणी को
च—और
कर्मणा—कर्म के द्वारा ।

### व्याख्या—

काम और खाने की इच्छा को धैर्य से जीत कर लिङ्ग और उदर की रक्षा करनी चाहिए । सम्यक् रूप से देखकर वस्तुओं के ग्रहण से हाथों की, और अच्छे प्रकार मार्ग को देखकर चलने से पावों की रक्षा करे। परस्त्री आदि के दर्शन और निन्दित वचनों के श्रवण से आंखों कानों की मन के द्वारा रक्षा करे। मन और वाणी की कर्मों के संयम द्वारा रक्षा करे। अर्थात् मन और वाणी से भी अनुचित कर्म का चिन्तन वा कथन न करे ॥२४॥

**नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती**
**नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी ।**
**सत्यं ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन्**
**न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥२५॥**

### पदार्थ—

नित्योदकी—प्रति दिन स्नानादि करने वाला
नित्ययज्ञोपवीती—नित्य यज्ञोपवीत धारण करने वाला
नित्यस्वाध्यायी—नित्य स्वाध्याय करने वाला
पतितान्नवर्जी—पतितपुरुषों के अन्न का त्याग करनेवाला
सत्यम्—सत्य को
ब्रुवन्—बोलता हुआ

गुरवे—गुरु के लिए
कर्म—कार्य (सेवा)
कुर्वन्—करता हुआ
न—नहीं
ब्राह्मणः—ब्राह्मण
च्यवते—भ्रष्ट होता है
ब्रह्मलोकात्—ब्रह्मलोक से।

## व्याख्या—

नित्य यथा समय स्नान आचमन (संध्या) करने वाला, नित्य अग्निहोत्रादि यज्ञ करने वाला, नित्य स्वाध्याय करने वाला, धर्मादि आचरण से पतित पुरुषों के अन्न धन आदि से दूर रहने वाला, सत्य बोलने वाला, और गुरु का कार्य करने वाला (=वृद्ध जनों का वशवर्त्ती) ब्राह्मण ब्रह्मलोक=ब्रह्मत्व से नष्ट नहीं होता।

**विशेष**—मनु जी ने भी कहा है—

**अनभ्यासेन वेदानाम् आचारस्य च वर्जनात्।**
**आलस्याद् अन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥**

अर्थात्—वेद का अभ्यास न करने से, आचार का त्याग करने से, आलस्य से और अन्न दोष से ब्राह्मण को मृत्यु मारना चाहती है।

ब्रह्मज्ञानी अपने ज्ञान से समस्त संसार को नाशवान् समझता है और स्वयं आत्मतत्त्व को अविनाशी। ऐसे ब्रह्मज्ञानी की मृत्यु नहीं होती, वह अजर अमर रहता है, वह केवल सर्प के समान केंचुली बदलता है। ब्राह्मण की मृत्यु होती है ब्रह्मत्व से च्युत होने पर। ब्रह्मत्व से पतन के कारण महात्मा विदुर और मनु ने समान ही कहे हैं। इन कारणों में से एक एक कारण भी ब्राह्मण को ब्रह्मत्व से च्युत करने में पूर्ण समर्थ है फिर जहां एक से अधिक कारणों का योग हो जाये वहां क्या कहना ?

**उपवीत की व्याख्या**—उपवीत शब्द का अर्थ है—**उप समीपं व्रीयते संव्रीयते अनेन,** जिसके द्वारा समीप में लाकर रक्षित किया जाता है। आचार्य जिस कर्म के द्वारा बालक को अपने संरक्षण में, वेद के शब्दों में अपने उदर में—गर्भ में धारण करता है उस कर्म का नाम उपनयन है। बालक गुरुकुलवासी गुरु से शिक्षित है या नहीं, इसकी पहचान के लिए आचार्य उपवीत धारण करता था। यह उपवीत प्राचीन शास्त्रों के अनुसार एक दुपट्टे के समान वस्त्र होता था। इसकी पुष्टि मनु के इस कथन से भी होती है कि 'यदि उत्तरीय न हो तो दूसरा यज्ञोपवीत धारण करे।'

उत्तरीय का उद्देश्य साम्प्रतिक तीन तार का यज्ञोपवीत सिद्ध नहीं कर सकता। महाभारत में युद्ध प्रसंग में लिखा है कि 'भीष्म का शुक्ल यज्ञोपवीत दूर से चमकता था।' तीन तार का यज्ञोपवीत वस्त्रों के ऊपर धारण किया हुआ भी दूर से दिखाई नहीं पड़ सकता।

उपवीत के धारण की कर्मभेद से तीन विधियां थीं। मानुषकर्म=सभा सोसाइटी आदि में जाने पर गले में डालकर दोनों छोर नीचे लटकाये जाते थे, जैसे दाक्षिणात्य गले में दुपट्टा डालते हैं। देवकर्म=यज्ञ में कार्य करने में लटकते हुए छोर बाधक न हों इस लिए उसे दक्षिण बगल में से निकाल कर बांये कन्धे पर डालते थे, और पित्र्य कर्म में बांई बगल में से निकाल कर दाहिने कन्धे पर डालते थे। तीनों कर्मों के अभाव में खूंटी पर टंगा रहता था।

इस दुपट्टे रूप उपवीत का स्थान कालान्तर में तीन तार के धागे ने ले लिया और कालान्तर में इसे बाहर (ऊपर) धारण करने के स्थान में कपड़ों के नीचे पहनने लगे ॥२५॥

**अधीत्य वेदान् परिसंस्तीर्य चाग्नी-**
**निष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च।**
**गोब्राह्मणार्थं शस्त्रपूतान्तरात्मा**
**हतः सङ्ग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति ॥२६॥**

## पदार्थ—

अधीत्य—पढ़कर
वेदान्—वेदों को
परिसंस्तीर्य—चारों ओर से आच्छादित करके
च—और
अग्नीन्—अग्नियों को
इष्ट्वा—यजन करके
यज्ञैः—यज्ञों से
पालयित्वा—पालन करके
प्रजाः—प्रजाओं को (का)
च—और
गोब्राह्मणार्थम्—गो ब्राह्मण के लिये
शस्त्रपूतान्तरात्मा—शस्त्राघात से पवित्र हो गया है अन्तरात्मा जिसका
हतः—मारा गया
संग्रामे—संग्राम में
क्षत्रियः—क्षत्रिय
स्वर्गम्—स्वर्ग (=कल्याण) को
एति—प्राप्त होता है।

## व्याख्या—

क्षत्रिय वेदों को [विधिवत् गुरु से] पढ़कर, अग्नियों को चारों ओर से [कुशाग्रों से] आच्छादित करके, यज्ञों से यजन करके, प्रजाओं को [धर्मानुसार] पालन करके, शस्त्र [के आघात] से पवित्र आत्मा वाला संग्राम में मारा गया स्वर्ग=कल्याण को प्राप्त होता है।

**विशेष**—१. मनु ने चारों वेदों का, दो का अथवा एक वेद का अध्ययन करना प्रत्येक द्विजाति के लिए आवश्यक माना है।

२. कुशाग्रों से अग्नि-कुण्डों के मध्य में जो वेदि का स्थान होता है उसे अच्छादित किया जाता है।

३. द्विजाति के लिए पांच अग्नियों को धारण करने का याज्ञिक ग्रन्थों में विधान है। वे हैं क्रमशः **आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आवसथ्य और सभ्य**। प्रथम तीन अग्नियों में नित्य नैमित्तिक श्रौत यज्ञ होते हैं। आवसथ्य अथवा गृह्य अथवा स्मार्त अग्नि में गृहस्थ के संस्कार कर्म किये जाते हैं। सभ्याग्नि उस स्थान पर होती है जहां आचार्य अपने शिष्यों को अध्ययन कराता है। सभा=शाला=पाठशाला में विद्यमान होने से यह अग्नि सभ्य कहाती है। यह गुरु शिष्य के मध्य में स्थापित होती है। गुरु इस अग्नि के साक्ष्य में स्वयमधीत शास्त्र का यथार्थरूप में रहस्य गुह्य तत्त्वों को न छिपाते हुए अध्यापन कराता है।

श्रौत यज्ञ नित्य नैमित्तिक और काम्य भेद से तीन प्रकार के माने गये हैं। इनमें नित्य यज्ञ ही प्रधान हैं और वे निष्काम भाव से किये जाते हैं। अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास चातुर्मास्य ज्योतिष्टोम आदि नित्य=अवश्य कर्त्तव्य यज्ञ अपवर्ग=मोक्षके साधक होते हैं।

(४) गौ-ब्राह्मण की रक्षा क्षत्रिय का परम पुरुषार्थ माना गया है। गौ भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है। अन्न पान आदि सभी गाय बैल से प्राप्त होता है, अतः गो रक्षा का विधान किया गया है। गौ शब्द से दोनों का सामान्य रूप से बोध होता ॥२६॥

**वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च**
**धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च ।**
**त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं**
**प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ॥२७॥**

## पदार्थ—

वैश्यः—वैश्य
अधीत्य—पढ़कर
ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को
क्षत्रियान्—क्षत्रियों को
च—और
धनैः—धनों के द्वारा
काले—समय पर
संविभज्य—संयुक्त करके
आश्रितान्—आश्रितों=भृत्यों को
च—और
त्रेतापूतम्—तीनों [अग्नियों] से पवित्र को
धूमम्—धूम्र=यज्ञीय गंध को
आघ्राय—सूँघकर
पुण्यम्—पवित्र को
प्रेत्य—मरकर
स्वर्गे—स्वर्ग में
दिव्यसुखानि—उत्तम सुखों को
भुङ्क्ते—भोगता है।

## व्याख्या—

वैश्य [गुरु से वेदों को] पढ़ कर, समय पड़ने पर ब्राह्मण क्षत्रिय और अपने आश्रित भृत्य वर्ग को धन बांट कर, तीनों अग्नियों से उठे हुए यज्ञीय पवित्र धूम को सूंघ कर=यज्ञ करके मर कर स्वर्ग लोक में उत्तम सुखों को भोगता है ॥२७॥

ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः
क्रमेणैतान्न्यायतः पूजयानः ।
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपाप-
स्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुङ्क्ते ॥२८॥

## पदार्थ—

ब्रह्म—ब्राह्मण को
क्षत्रम्—क्षत्रिय को
वैश्यवर्णम्—वैश्य को
च—और
शूद्रः—शूद्र
क्रमेण—क्रमशः
एतान्—इन को
न्यायतः—न्यायपूर्वक
पूजयानः—पूजा करता हुआ=सेवता हुआ
तुष्टेषु—प्रसन्न होने पर
एतेषु—इनके
अव्यथः—पीड़ित न होता हुआ
दग्धपापः—नष्ट पाप हुआ
त्यक्त्वा—छोड़कर
देहम्—देह को
स्वर्गसुखानि—स्वर्ग के सुखों को
भुङ्क्ते—भोगता है।

## व्याख्या—

शूद्र भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य की क्रमशः न्यायपूर्वक सेवा करता हुआ, इन के प्रसन्न होने पर स्वयं पीड़ित न होता हुआ पाप रहित होकर स्वर्ग के सुखों को भोगता है।

**विशेष**—(१) वैदिक मर्यादा के अनुसार मनुष्य जाति को गुण कर्मानुसार चार विभागों में बांट कर उन के कर्मों का विधान किया है। प्रत्येक वर्ण अपने अपने कर्म को न्याय=धर्म के अनुसार करता हुआ समान रूप से स्वर्ग का अधिकारी माना गया है। इस से स्पष्ट है कि वैदिक मर्यादा के अनुसार न कोई कर्म छोटा बड़ा है और न कोई वर्ण।

(२) वैदिक मर्यादा के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय और शूद्र तीन वर्णों के लिये धन-संग्रह का निषेध है। केवल वैश्य वर्ण को ही धन संचय का अधिकार है। वैश्य भी किये गये धन संचय को समय पर राष्ट्र के लिये अर्पण कर दे, यह स्पष्ट विधान है। यहां भी वैश्य के द्वारा ब्राह्मण क्षत्रिय और शूद्र को भरण पोषण के लिये धन देने का विधान किया है। राजा के पास जो धन संगृहीत होता था वह राष्ट्र के निमित्त ही होता था, स्वयं राजा को उस के भोग का निषेध है। इस प्रकार वैदिक मर्यादा में पूर्ण एवं स्वाभाविक साम्यवाद का दर्शन किया जा सकता है। यदि कोई धनी धन के मद से कुपथगामी हो जाये तो राजा का कर्त्तव्य होता था कि वह उसका सर्वस्व हरण करके उसे निर्धनों में बांट दे। इस व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रियकरण की कहीं आवश्यकता ही नहीं रहती। वैदिक मर्यादा में समाजीकरण इष्ट है, जिस से धनिक वर्ग स्वयं समाज के सेवक बनें उस के रक्षक बनें। किसी भी वस्तु के राष्ट्रियकरण से कभी साम्यवाद व्यवस्थित नहीं हो सकता, उलटा राष्ट्रियकरण से विभिन्न नई नई कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं, भ्रष्टाचार एवं अनुत्तरदायित्व की भावना को बढ़ावा मिलता है। इसलिये वैदिक साम्यवाद में मानव भावना को पवित्र स्वार्थ-रहित परहित-चिन्तक बनाना विहित है। भारतीय प्राचीन सामाजिक पद्धति के कुछ ज्ञाता महात्मा गान्धी भी समाजीकरण के पोषक थे, उन्हें धन सम्पत्ति का राष्ट्रियकरण इष्ट नहीं था ॥२८॥

चातुर्वर्ण्यस्यैष धर्मस्तवोक्तो
हेतुं चानुब्रुवतो मे निबोध।

क्षात्राद् धर्माद्धीयते पाण्डुपुत्र-
स्तं त्वं राजन् राजधर्मे नियुङ्क्ष्व ॥२९॥

पदार्थ—

चातुर्वर्ण्यस्य—चारों वर्णों का
एषः—यह
धर्मः—धर्म
तव—तुम्हें
उक्तः—बताया है
हेतुम्—कारण को
च—और
अनुब्रुवतः—बताने का
मे—मेरे
निबोध—जानो
क्षात्रात्=क्षत्रिय सम्बन्धी
धर्मात्=धर्म से
हीयते—हीन हो रहा है
पाण्डुपुत्रः—पाण्डुपुत्र [युधिष्ठिर]
तम्—उस को
त्वम्—तुम
राजन्—हे राजन् !
राजधर्मे—राजधर्म में
नियुङ्क्ष्व—नियुक्त करो ।

व्याख्या—

हे राजन् ! मैंने [जिस कारण से] तुम्हें यह चारों वर्णों के धर्मों का कथन किया है, उस का कारण मुझ से सुनो । यह पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर [तुम्हारे कारण] क्षात्र धर्म से हीन हो रहा है; इस लिये तुम इसे क्षात्र धर्म=प्रजापालन में नियुक्त करो [इन पाण्डवों का परम्परा प्राप्त राज्य इन्हें देदो] ॥२९॥

धृतराष्ट्र उवाच—

एवमेतद् यथा त्वं मामनुशाससि नित्यदा ।
ममापि च मतिः सौम्य भवत्येवं यथात्थ माम् ॥३०॥

पदार्थ—

धृतराष्ट्र बोले—
एवम्—ऐसा ही है
एतत्—यह
यथा—जैसे
त्वम्—तुम
माम्—मुझ को
अनुशाससि—कहते हो
नित्यदा—सर्वदा
मम—मेरी
अपि—भी
च—और
मतिः—मति (=बुद्धि)
सौम्य—हे सौम्य !

भवति—होती है,
एवम्—इसी प्रकार
यथा—जैसे
आत्थ—कहते हो
माम्—मुझ को।

### व्याख्या—

हे सौम्य विदुर ! जैसे तुम मुझ से नित्य कहते हो, उसी प्रकार मेरी भी बुद्धि वैसी ही होती है, अर्थात् मैं भी पाण्डवों को उनका राज्य देना चाहता हूँ ॥३०॥

**सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान् प्रति मे सदा।**
**दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते ॥३१॥**

### पदार्थ—

सा—वह
तु—तो
बुद्धिः—मति
कृता—की हुई [उत्पन्न हुई]
अपि—भी
एवम्—इस प्रकार की
पाण्डवान्—पाण्डवों के
प्रति—प्रति
मे—मेरी
सदा—सर्वदा
दुर्योधनम्—दुर्योधन के
समासाद्य—पास पहुंच कर
पुनः—फिर
विपरिवर्तते—बदल जाती है।

### व्याख्या—

हे विदुर ! पाण्डवोंके प्रति मेरी भी सदा ऐसी ही मति होती है [कि उनका राज्य उन्हें लौटा दूं], परन्तु दुर्योधन के पास पहुंच कर मेरी यह मति पुनः वदल जाती है ॥३१॥

**न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित्।**
**दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥३२॥**

### पदार्थ—

न—नहीं
दिष्टम्—भाग्य को (का)
अतिक्रान्तुम—अतिक्रमण
शक्यम्—संभव है
भूतेन—प्राणी से
केनचित्—किसी से
दिष्टम्—भाग्य को
एव—ही

ध्रुवम्—अचल
मन्ये—मानता हूं
पौरुषम्—पुरुषार्थ
तु—तो
निरर्थकम्—निरर्थक [है]।

## व्याख्या—

भाग्य को बदलने में कोई प्राणी समर्थ नहीं है, मैं भाग्य को ही बलवान् मानता हूं, पुरुषार्थ निरर्थक है।

**विशेष**—अन्तिम दो श्लोकों से स्पष्ट है कि भाग्य को वही बलवान् मानता है, जो मनुष्य निर्बलचित्त मूढ़ात्मा होता है, आत्मज्ञानी पुरुषार्थी कभी भी भाग्य के आधीन नहीं रहता। वह पुरुषार्थ से भाग्य को बदलने में भी समर्थ होता है। महात्मा राम ने रावण-विजय के पश्चात् सीता से कहा था—

**दैवेन तु यत् सम्प्राप्तं पौरुषेण त्वपाकृतम्।**

अर्थात्—हे सीते! दैव=भाग्य दोष से मैंने जो अनर्थ (=तुम्हारा हरा जाना) प्राप्त किया, उसे मैंने पुरुषार्थ से दूर कर दिया।

पाण्डवों ने भी भाग्य के विपर्यय से बुद्धि-भ्रान्ति को प्राप्त होकर राज्य नाश वनवास अज्ञातवास आदि विविध कष्टों को प्राप्त किया, परन्तु अपने ही पुरुषार्थ से उन्होंने भी अपनी अल्प सात अक्षौहिणी सेना के साहाय्य से ग्यारह अक्षौहिणी सेना के अधिपति कौरवों को युद्ध में परास्त करके पृथिवी निष्कण्टक राज्य प्राप्त किया।

किसी कवि ने सत्य ही कहा है—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः
दैवं दैवमिति हि कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः॥

उद्योगी=पुरुषार्थी पुरुषसिंह को ही लक्ष्मी=ऐश्वर्य प्राप्त होता है। दैव दैव (=भाग्य) की रट तो कायर=पुरुषार्थहीन व्यक्ति लगाते हैं। आत्मशक्ति से भाग्य से प्राप्त दोष को नष्ट करने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिये। पुरुषार्थ करने पर भी यदि सिद्धि प्राप्त नहीं होती तब भी हतोत्साह नहीं होना चाहिए, वहां विचार करना चाहिए कि हमारे पुरुषार्थ में कहां क्या दोष रहा, जिससे इष्ट लाभ नहीं मिला। उस

दोष को जान कर पुनः सिद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार नित्य पुरुषार्थी स्वदोष दर्शन, में समर्थ व्यक्ति कभी न कभी अपने इष्ट को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

यही सम्पूर्ण विदुरनीति का सार है। इसी पर आचरण करने से व्यक्ति जाति समाज और देश उन्नति को प्राप्त करते हैं। जो व्यक्ति जाति समाज और देश—

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।<br>
दास मुलूका कह गये सब के दाता राम।।

जैसी विडम्बना कायरता पुरुषार्थहीनता की शिक्षा को प्राप्त होता है, वह सदा नष्ट हो जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ॥३२॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि<br>
विदुरवाक्ये चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

यह महाभारत में उद्योगपर्व के अन्तर्गत विदुरप्रजागर पर्व में विदुर-वाक्य में चालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

॥ इति विदुरनीतौ अष्टमोऽध्यायः ॥

## प्राचीन आर्ष वाङ्मय से सम्बद्ध तथा ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थ

**१. यजुर्वेदभाष्य-विवरण (प्रथमभाग)**—इस ग्रन्थ में महर्षि दयानन्द प्रणीत यजुर्वेदभाष्य के प्रथम दस अध्यायों पर ऋषिभक्त वेदमर्मज्ञ स्वर्गीय श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। मूल वेदभाष्य को ऋषि के हस्तलेखों से मिलान करके छापा गया है। विस्तृत भूमिका तथा वेदविषयक विविध टिप्पणियों से युक्त। बढ़िया कागज, सुन्दर मुद्रण, सुदृढ़ जिल्द। मूल्य १६-००

द्वितीय भाग छप रहा है।

**२. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित**--
मू० ०-५०

**३. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन परिशिष्ट सहित**—सं० श्री पं० भगवद्दत्तजी।
मू० ७-७५

**४. संस्कारविधि**—ले० महर्षि दयानन्द सरस्वती। द्वितीय संस्करण पर आधृत, अजमेर-मुद्रित संस्करणों के दोषों से रहित; टिप्पणियों से युक्त; शुद्ध मनोहर मुद्रण। मू० १-७५। सजिल्द २-२५

**५. संस्कार-समुच्चय**—लेखक—पं० मदनमोहन विद्यासागर। संस्कारविधि की व्याख्या तथा परिशिष्ट में अनेक समयोपयोगी कर्मों का संग्रह।
सजिल्द मूल्य १२-००

**६. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**—सं० पं०युधिष्ठिर मीमांसक। मोटे टाइप, बड़े आकार में सुन्दर शुद्ध और सटिप्पण संस्करण। मू. १२-००

भूमिका पर किये गए आक्षेपों के उत्तर के लिये परिशिष्ट १-५०

**७. निरुक्त-शास्त्र**—श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत नैरुक्त-प्रक्रियानुसारी हिन्दीभाष्य सहित।
मू० १५-००

**८. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन**—ले० प्रो० भवानीलाल जी भारतीय एम० ए०, पी-एच० डी०।
मू० सजिल्द ६-०० मात्र।

**९. पूना-प्रवचन (उपदेश मञ्जरी)**—ऋषि दयानन्द सरस्वती के १५ व्याख्यान
मू० २-५०

**१०. वैदिक-स्वर-मीमांसा**—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। संशोधित परिवर्धित द्वितीय संस्करण। वैदिक स्वरविषयक सर्वश्रेष्ठ विवेचनात्मक ग्रन्थ। उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत। मू० ४-००

**११. वैदिक ईश्वरोपासना**—पातञ्जल योगदर्शन के अत्युपयोगी सूत्रों की ऋषि दयानन्दकृत व्याख्या। आर्ट पेपर पर सुन्दर दुरङ्गी छपाई, मुख पृष्ठ पर आकर्षक ऋषि-चित्र। मू० ०-३०

**१२. वाल्मीकि-रामायण**—हिन्दी-अनुवाद सहित। अनुवादक तथा परिशोधक—श्री पं० अखिलानन्द जी झरिया। बालकाण्ड मू० २-५०। अयोध्याकाण्ड मू० ३-५०। अरण्य-किष्किन्धाकाण्ड मू० ४-५०। सुन्दरकाण्ड मू० २-७५। युद्धकाण्ड छप रहा है।

**१३. ध्यानयोग-प्रकाश**—ले० ऋषिदयानन्द से योग की शिक्षा ग्रहण करने वाले महायोगी महात्मा स्वामी लक्षणानन्द जी। अपने विषय का अनूठा ग्रन्थ। द्वितीय संस्करण मू० ३-२५

**१४. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास**—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। ग्रन्थ में आज तक के प्रमुख वैयाकरणों तथा उनके ग्रन्थों का इतिहास दिया गया है। मू० भाग १, १५-००, भाग २, १५-००

**१५. विरजानन्द-प्रकाश**—श्री पं० भीमसेनजी शास्त्री एम० ए०। श्री स्वामी विरजानन्दजी का अनुसन्धानपूर्ण प्रामाणिक जीवन-चरित्र। नया सस्ता संस्करण मू० १-५०

**१६. बृहद् हवनमन्त्र**—मन्त्रों का शब्दार्थ तथा भावार्थ हिन्दी में। सं० पं० रामावतार शर्मा मू० ०-७५

**१७. वेद और निरुक्त**—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। मू० ०-५०

**१८. निरुक्तकार और वेद में इतिहास**—ले० पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु। मूल्य ०-५०

**१९. देवापी और शन्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप**—ले. पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। मूल्य ०-५०

**२०. त्वाष्ट्री-सरण्यू आख्यान का वास्तविक स्वरूप**—ले. पं० धर्मदेव जी। मूल्य ०-५०

**२१. आत्मा की जीवन गाथा**—श्री कर्मनारायण जी कपूर। मूल्य १-००

**२२. आर्याभिविनय**—लेखक ऋषि दयानन्द सरस्वती। दुरंगा गुटका साईज। सजिल्द मू० १-००

**२३. व्यवहारभानु**—ले० ऋषि दयानन्द सरस्वती मूल्य ०-३५

**२४. आर्योद्देश्यरत्नमाला**— ,, ,, मू० ०-१०

**२५. हवनमन्त्र**— ,, ,, मूल्य ०-१०

**२६. सन्ध्योपासनविधि**— ,, ,, मूल्य ०-१०

**२७. सन्ध्योपासनविधि—दैनिक हवन-मन्त्र सहित**— मू. ०-१५

**२८. पंचमहायज्ञविधि**—ले० ऋषिदयानन्द सरस्वती मू० ०-३५

**२९. अमीरसुधा**—(भजनसंग्रह) मू० ०-५०

३०. अठारह सौ सत्तावन और स्वामी दयानन्द—लेखक श्री वासुदेव शर्मा। मूल्य २-००

३१. दैवम्-पुरुषकारवार्तिकोपेतम्—धातुपाठ का व्याख्यात्मक प्राचीन ग्रन्थ। मूल्य ६-००

३२. परमाणुदर्शनम् (संस्कृत)—पं० जगदीशाचार्य। मू० ४-००

३३. शिक्षाशास्त्रम् ,, ,, ,, ,, ४-००

३४. वेद-संज्ञा-मीमांसा—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक मू०-५०

३५. सं० व्या० में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि—डा० कपिलदेव। मू० ८-००

३६. अष्टोत्तरशतनाममालिका—लेखक पं० विद्यासागरजी शास्त्री एम० ए०। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में व्याख्यात ईश्वर नामों की विस्तृत व्याख्या। मू० अजिल्द ५-००,

३७. शिक्षासूत्राणि—अपिशलि पाणिनि और चन्द्रगोमीप्रोक्त। मू० १-५०।

३८. वैदिक छन्दोमीमांसा—वैदिक छन्दः सम्बन्धी विवेचनात्मक सर्वोत्तम ग्रन्थ। उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत। ले० पं० मी०यु० मू० ४-५०

३९. निरुक्तसमुच्चयः—आचार्य वररुचिकृत। नैरुक्तसम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ। मूल्य ५-००

४०. हंसगीता—महाभारत शान्ति पर्व का एक अध्यात्मिक प्रकरण, मूल श्लोक अनुवाद सहित। मूल्य ०-४०

४१. प्यारा ऋषि—श्री आनन्द स्वामी जी मूल्य ०-५०

## संस्कृत भाषा के अध्ययन के लिये विशिष्ट सहायक ग्रन्थ

१—संस्कृतवाक्यप्रबोध—ऋषि दयानन्द कृत इस ग्रन्थ पर पं० अम्बिकादत्त व्यास द्वारा 'अबोध-निवारण' ग्रन्थ के रूप में किये गये आक्षेपों का पाणिनीय व्याकरण के अनुसार उत्तर दिया गया है। मूल्य १-२५, (मूल मात्र) मूल्य ०-६०

२—शब्दरूपावली—सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। इस ग्रन्थ के द्वारा शब्दों के रूप बिना रटे समझ पूर्वक बड़ी सुगमता से स्मरण हो जाते हैं। मूल्य ०-७५

३—संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि—ले० पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। इस ग्रन्थ के द्वारा बिना रटे संस्कृत भाषा और पाणिनीय व्याकरण का बोध कराया गया है। प्रथम भाग ३-५०

द्वितीय भाग—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग के निर्देशों के अनुसार। मूल्य ५-५०

४—अष्टाध्यायी (मूल)—सं० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। मू० ०-७५

५—धातुपाठ (मूल)—अकारादि क्रम से गण-पद-सेट्-अनिट्-बोधक धातुसूची सहित। दो कालमों में छापा गया है। मूल्य १-००

६—अष्टाध्यायी-भाष्य (प्रथमावृत्ति)—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। इस ग्रन्थ में प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरण-उदाहरणों की सिद्धि संस्कृत और हिन्दी में विस्तार से दर्शाई है। स्वर-प्रकरण के उदाहरण सस्वर दिये गये हैं।
प्रथम भाग १२-००; द्वितीय भाग १०-००; तृतीय भाग १०-००

७—'लिट्' और 'लुङ्' लकार की रूप-बोधक सरल-विधि—ले० राजा गोविन्दलाल बंसीलाल (बम्बई) मूल्य १-५०

८. वर्णोच्चारणशिक्षा (पाणिनीय)—ऋषि दयानन्द कृत व्याख्या सहित। मूल्य ०-२५

९—काशकृत्स्न-व्याकरणम्—सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। पाणिनीय व्याकरण से पूर्ववर्ती काशकृत्स्न व्याकरण के उपलब्ध १४० सूत्रों की व्याख्या तथा इतिहास (संस्कृत में) मूल्य ३-००

१०. काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्—चन्नवीर कविकृत कन्नड़ टीका का युधिष्ठर मीमांसक कृत संस्कृत रूपान्तर। मूल्य ६-२५

११—वामनीय लिङ्गानुशासनं स्वोपज्ञवृत्ति सहितम्—संस्कृत भाषा के शब्दों का लिङ्ग बोधक सरल संक्षिप्त ग्रन्थ।
मू० २-००, सजिल्द ३-००।

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान—

रामलाल-कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेन्ट्स

गुरुबाजार, अमृतसर। ] [नई सड़क, देहली।
बारी मार्केट सदर बाजार, देहली।] [बिरहाना रोड, कानपुर।
५१ सुतारचाल, बम्बई।] [२३२, माडल टाउन, सोनीपत (हरयाणा)
एल. सी. एण्ड को० ३४ अब्दुल रहमान स्ट्रीट, बम्बई।
रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

...र), १७ जुलाई ...शनपर स्थित ...की कथित ...का समाचार ...है कि होटल ...जन करानेसे ...रेशान किया ...सनसे मांगकी ...स कर्मियोंके ...। आ० स०

## ...राशि दिये ...नेकी मांग

...पुर (जौनपुर), १७ जुलाई ... त्रिलोचन महादेवके ...क श्री यू० पी० सिंहने ... विगत नवम्बर एवं ...माहमें स्थानीय शाखासे ... रेखासे नीचे जीवनयापन ...वास व्यक्तियोंको जीवन ...में हेतु ऋणकी व्यवस्था ... जिसमें प्रशासन द्वारा ...क्तियोंको अनुदान की ...था थी। ऋण प्राप्त ...ग्यारह व्यक्तियोंको ...प्त अनुदानकी राशि

## की मृत्यु

जौनपुर, १७ जुलाई। ताड़तल्ला की एक विवाहिता महिला जल जाने के कारण क्षत विक्षत अवस्थामें जिला चिकित्सालयमें दाखिलकी गयी थी जहां उसकी मृत्यु हो गयी। करीब ७२ घंटे तक जिला चिकित्सालयके उपचारके बाद दमतोड़ देनेवाली युवतीने अपने बयानमें स्टोवसे जलना स्वीकार किया है लेकिन उसके पिताने युवतीके जलकर मरनेका कारण दहेजका अभिशाप बताया है।

युवतीके पिताके दहेज संबंधी आरोपपर मृत्यने एक दूसरा मोड़ ले लिया और पुलिसको ... विधि जांचका अवसर दे दिया जिसकी चर्चा आरम्भ हो गयी है। युवतीका विवाह एक वर्ष पूर्व हुआ है। पुलिसने शवको कब्जेमें लेकर पोस्टमार्टम करवाया है। अभी वास्तविकताका रहस्योद्घाटन होना है।

— जलालपुर (जौनपुर), १७ जुलाई। जलालगंज रेलवे स्टेशनपर विद्युतकी व्यवस्था रहनेके बावजूद अंधेरा रहता है जिससे यात्रियोंको अत्यधिक परेशानीका सामना करना पड़ता है।